ॐ

श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान

भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उ0प्र0)

प्रतिष्ठान विशुध्द रूप से शिक्षा, संस्कृति एवं समाज के अभ्युदय के लिए समर्पित संस्था है। प्रतिष्ठान के कार्य-कलाप निम्नलिखित लक्ष्यों के लिए अग्रसर हो रहे हैं।

1. प्राच्य विद्या, भारतीय संस्कृति, ज्ञान के विविध अंगों पर शोध, अनुसंधान एवं स्वाध्याय, विश्व-संस्कृति , दर्शन एवं समाज के विविध पक्षों का पुरवलोकन अध्ययन एवं तत्सम्बन्धी उत्तम ग्रंथों के प्रकाशन की व्यवस्था करना।
2. विद्वानों एवं मनीषियों का सम्मान तथा विद्वद्गोष्ठी का आयोजन।
3. वेदोषनिषद्, स्मृति एवं इतिहास-पुराण के आधार पर आचार-संहिता एवं समाज-दर्शन की प्रतिष्ठा
4. प्राच्य-संस्कृति के अनुसार शिक्षा-संस्थाओं का संचालन।

## प्रष्ठिान के शाखा-कार्यालय

इलाहाबाद

117सी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211002

बी-38/51च-4ए, तुलसीपुर, महमूरगंज, वाराणसी

‘ समाज धर्म एवं दर्शन’ त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन इलाहाबाद शाखा कार्यालय में होता है। पत्रिका का शुल्क ‘समाज एवं दर्शन’ के नाम उक्त पते पर मनीआर्डर या चेक से भेजा जा सकता है। शुल्क इलाहाबाद के पते पर मनीआर्डर या चेक से स्वीकार किया जाता है, नकद किसी भी कार्यालय पर जमा हो सकता है।

हमारे लक्ष्य की प्राप्ति मनीषियों, आचार्यों, विद्वानों, समाज सेवकों एवं उदारमना व्यक्तियों के सहयोग से ही संभव है। एतदर्थ हम सबका स्वागत करते हैं।

# समाज धर्म एवं दर्शन

सम्पादक

**जटा शंकर**

सह सम्पादक

**ऋषि कान्त पाण्डेय**

वर्ष 37, अंक 1-4

अप्रैल 2019 मार्च 2020

चैत्र-फाल्गुन (संवत् 2076)

**श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान का त्रैमासिक**

# सम्पादकीय परामर्श समिति


**प्रो० डी०एन० द्विवेदी**
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
7897126113

**प्रो० सभाजीत मिश्र**
2/24, बहार सहारा स्टेट
गोरखपुर-273008
9935302484

**प्रो० हरिशंकर उपाध्याय**
दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज
9415646450

**प्रो० हरि शंकर प्रसाद**
दर्शनशास्त्र विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली
9015778772

**प्रो० गोदाबरीश मिश्र**
दर्शनशास्त्र विभाग
मद्रास विश्वविद्यालय
चेन्नै, तमिलनाडु
9454873557

**प्रो० कृपा शंकर**
दर्शन एवं धर्म विभाग,
बी0एच0यू0
वाराणसी
9415361158

**प्रो० आर०सी० सिन्हा**
201 सप्तषि अपार्टमेन्ट
राजकिशोरी काम्पलेक्स,
कंकड़बाग, पटना-20
9334305254

**प्रो० गोरखनाथ मिश्र**
22अभिनव हाउसिंग सोसाइटी
अल्टो पोरवार्त,
गोवा-403521
9423055013



**ISSN 0974-9764**

## श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान

| | | |
|---|---|---|
| आजीवन सदस्यता शुल्क: | | **Rs. 1500.00** |
| वार्षिक शुल्क | : | **Rs. 100.00** |
| प्रस्तुत अंक | : | **Rs. 50.00** |

कम्पोजिंग एवं शब्द संयोजन : सुनील दुबे
मुद्रक : अमन ग्राफिक्स


# लेखकों से

1. इस पत्रिका में प्रकाशित लेख, लेखक का अपना विचार है। इससे संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
2. इस पत्रिका में लेख प्रकाशित करवाने के लिए किसी प्रकार का मूल्य देय नहीं है।
3. लेखकों से निवेदन है कि हम अपने लेख को (Krutidev 10) फाण्ट में ही भेजने का कष्ट करें।
4. ई-मेल द्वारा (सॉफ्ट कॉपी) भेजे गये लेखों को वरीयता दी जायेगी।
5. एंडनोट या फुटनोट स्पष्टता से लिखें जैसे-लेखक का नाम, पुस्तक/शोध पत्रिका का नाम, प्रकाशक एवं प्रकाशन वर्ष तथा पृष्ठ संख्या अवश्य दें।
6. लेखक अपने शोध-पत्र में व्याख्या की अपेक्षा अपने तार्किक मौलिक विचार प्रस्तुत करें।
7. संक्षिप्त, स्पष्ट सारगर्भित एवं विवेकपूर्ण लेखों को प्राथमिकता दी जायेगी।
8. कोई भी लेख सम्पादकीय परामर्श समिति की आख्या के उपरान्त ही छापा जायेगा।
9. लेखों के ऊपर यदि कोई टिप्पणी या अपनी असहमति व्यक्त करना चाहते हैं, तो उसे महत्पपूर्ण होने पर अगले अंक में स्थान दिया जायेगा।
10. पुस्तक की समीक्षा भी यथास्थान प्रकाशित की जायेगी।
11. सम्पादक को यह अधिकार है कि वे अनावश्यक प्रस्तुति को संक्षिप्त कर सकें।
12. लेखक अपने लेख के साथ अपना पूरा पता, ई-मेल तथा मोबाइल नम्बर लिख दें, जिससे यह सूचित किया जा सके कि शोध-पत्र इस पत्रिका में प्रकाशनार्थ स्वीकृति है या नहीं।
13. लेखक अपने शोध-पत्र का सारांश (Abstract) अवश्य लिखें।
14. लेखक अपने शोध-पत्र में प्रयोग किए गये विशेष शब्दों का अर्थ, प्रारंभ में अवश्य लिख दें।

**सम्पादक**

# समाज धर्म एवं दर्शन

सम्पादक
**जटा शंकर**

सह सम्पादक
**ऋषि कान्त पाण्डेय**

वर्ष 37, अंक 1-4
अप्रैल 2019 मार्च 2020
चैत्र-फाल्गुन (संवत् 2076)

**श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान का त्रैमासिक**
**117 सी, टैगोर टाउन, प्रयागराज-211002**

# अनुक्रमणिका


| क्रम संख्या | | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| 1. | पद्मभूषण आचार्य स्व0 बलदेव उपाध्याय<br>भुवनेश्वरी स्वरूप का चिन्तन | 1-16 |
| 2. | पद्मभूषण स्व0 पट्टाभिराम शास्त्री<br>समन्वय दर्शन | 17-28 |
| 3. | स्व0 यदुनन्दन उपाध्याय<br>आयुर्वेद- एक सर्वांगपूर्ण चिकित्सा-पद्धति | 29-45 |
| 4. | स्व0 प्रो0 संगम लाल पाण्डेय<br>प्रमाण का नया सिद्धान्त - प्रमाणाद्वैत | 46-93 |
| 5. | स्व0 प्रो0 श्री राजाराम शास्त्री<br>धर्म का क्षेत्र | 94-106 |
| 6. | स्व0 डा0 देवसहाय त्रिवेद<br>बाल्मीकि और तुलसी के रामायण | 107-117 |
| 7. | स्व0 प्रो0 रेवतीरमण पाण्डेय<br>तुलनात्मक दर्शन : एक समीक्षात्मक विश्लेषण | 118-134 |
| 8. | प्रो0 कृपाशंकर<br>पातञ्जलयोगदर्शन में ईश्वरविचार | 135-156 |
| 9. | प्रो0 हरिशंकर उपाध्याय<br>ब्राह्मण संस्कृति का आदर्श | 157-166 |
| 10. | स्व0 प्रो0 सै. फजले इमाम रिजवी<br>"भारत में सूफी साधना": एक परिचय | 167-178 |
| 11. | प्रो0 सरोज कुमार वर्मा<br>कबीर के दर्शन में अद्वैतवाद | 179-196 |
| 12. | स्व0 आचार्य पं0 केदारनाथ त्रिपाठी<br>धर्म की सनातन व्याख्या | 197-201 |
| 13. | प्रो0 गौरी चट्टोपाध्याय<br>स्वराज-नैतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक | 202-210 |
| 14. | प्रो0 ऋषिकान्त पाण्डेय<br>आत्म ज्ञान की मूल प्रवृत्तियाँ | 211-252 |
| 15. | प्रो0 अम्बिका दत्त शर्मा<br>वैदल्य सूत्र एवं न्याय सूत्र के अन्तः सम्बन्ध पर कुछ विचार | 253-297 |
| 16. | डा0 जितेन्द्र कुमार शर्मा<br>महात्मा गांधी और पर्यावरण | 298-307 |
| 17. | डा0 अरविन्द विक्रम सिंह<br>विरोधाभासों का स्वरूप : एक दार्शनिक चिंतन | 308-320 |
| 18. | डा0 विवेक कुमार पाण्डेय<br>उत्तर-आधुनिकता :- समाधान या समस्या | 321-329 |
| 19. | डा0 प्रभु दयालु अग्निहोत्री<br>संस्कृत-साहित्य में धर्म-दर्शन का स्वरूप | 330-353 |
| 20. | डा0 रामनारायण दास<br>प्राचीन भारत में यन्त्रों एवं यानों का निर्माण | 354-364 |

# संगति

प्रस्तुत संयुक्तांक वर्ष–37 के प्रकाशन में अनपेक्षित विलम्ब के लिए हम अपने आजीवन सदस्यों एवं पाठकों से क्षमा याचना करते हैं। यह विलम्ब अपरिहार्य कारण से हुआ है। आलेख प्रेस में लम्बे समय तक पड़े रह गये और कोरोना वैश्विक महामारी के कारण प्रेस का कार्य–कलाप बन्द पड़ा रहा। ऐसा प्रायः होता है कि किसी महान कार्य की सिद्धि में बाधायें आती ही हैं। मेरी योजना थी कि प्रस्तुत अंक में कुछ ऐसे मनीषियों के आलेख मुद्रित अथवा पुनर्मुद्रित कराये जाये, जिनको हमने आरम्भिक अंकों में प्रकाशित किया था। ऐसा करने का विचार मेरे मन में इसलिए आया क्योंकि वर्तमान पाठकों की पीढ़ी को उस शास्त्रीय चिन्तन परम्परा से परिचित करवाना आवश्यक लग रहा था।

इस पत्रिका की 37 वर्षों की जीवन यात्रा में इससे घनिष्ठ रूप से जुड़े हुये वरिष्ठ विचारकों की श्रृंखला अब समाप्त हो चली है। आरम्भिक वर्षों के युवा लेखक एवं पाठक अब वृद्ध की श्रेणी में आ गये हैं और समकालिक संचार माध्यमों से सुसज्जित नयी पीढ़ी मुख्य भूमिका के लिए प्रस्तुत है। प्रस्तुत अंक का प्रयोजन इन तीनों पीढ़ियों को वैचारिक धरातल पर आमने–सामने खड़ा करना है।

आरम्भिक अंकों का पुनरवलोकन मेरे लिए भी रोमांचकारी अनुभव रहा और एक आत्मिक गौरव का अनुभव हुआ कि मुझे इस पत्रिका के माध्यम से कितने मनीषियों का आशीर्वाद लम्बे समय तक मिलता रहा। यह आशीर्वाद मन, वाणी और कर्म तीनों रूपों में प्राप्त हुआ क्योंकि उनमें से अधिकांश मनीषी उन संगोष्ठियों में सशरीर उपस्थित होते रहे, जिनमें प्रस्तुत किये गये विचारों को आलेख के रूप में प्रकाशित किया गया है, कुछ आचार्य तो इस तरह प्रतिज्ञाबद्ध थे कि काशी के बाहर जाना उन्हें स्वीकार नहीं था। तथापि स्नेहवश विन्ध्यक्षेत्र में सम्पन्न होने वाली संगोष्ठियों में पधारने की सम्मति एवं कृपा उन्होंने की। इन सब घटनाओं का स्मरण करके हार्दिक प्रसन्नता होती है कि यह पत्रिका कितनी सौभाग्यशालिनी है जिसने मुझ जैसे दर्शन के सामान्य विद्यार्थी एवं अध्यापक को एक विराट् परम्परा से जोड़ दिया।

समकालिक परिस्थिति वैश्विक महामारी के रूप में अनुभव में आ रही है, जिसमें आचार–विचार, रहन–सहन, खान–पान तथा धार्मिक, सामाजिक उत्सव के प्रारूप में भारी परिवर्तन किया है। यह परिवर्तन हमारी मजबूरी है या यह हमारे भावी जीवन शैली के लिए सन्देश है, इस पर भी हमें विचार करना चाहिए। स्वच्छता के बारे में बार–बार विशेषज्ञों की राय मिलती रहती है, इन निर्देशों के पालन को मजबूरी समझना मूर्खता है। स्वच्छता मानसिक और वैचारिक स्तर पर होनी ही चाहिए। सरकारी निर्देश और विशेषज्ञों की चेतावनी हमें वह याद दिलाने के लिए है, जिसे गलती से हम भूल गये थे। हमें अपनी गलती सुधार लेनी चाहिए और विचार तथा आचार के स्तर पर कल्याणकारी संशोधन करते हुए विवेकशील मनुष्य की तरह भावी जीवन का प्रारूप निर्धारित करना चाहिए। विपदा में भी सम्पदा खोज लेना विवेकसम्पन्न मनुष्य का कर्तव्य है।

**सम्पादक**
**प्रो0 जटाशंकर तिवारी**

# भुवनेश्वरी स्वरूप–चिन्तन

**पद्मभूषण अचार्य स्व0 बलदेव उपाध्याय**

(श्री भुवनेश्वरी के नाम से अभिहित विद्या–प्रतिष्ठान के नाम के विषय में लोगों को जिज्ञासा होती है। कुछ लोग इसे तांत्रिक साधना से सम्बद्ध पीठ के रूप में समझते हैं; कुछ लोग व्यक्ति विशेष के नाम से होने का भ्रम करते हैं, तो कुछ बड़े नाम का प्रदर्शन मानते हैं। मौखिक रूप में लोगों की जिज्ञासा शान्त की जाती रही है। एक विद्वत्तापूर्ण विवेचन, आप्त व्यक्ति के द्वारा, प्रस्तुत करना आवश्यक था। इस आवश्यकता की पूर्ति आचार्य बलदेव उपाध्याय (पद्मभूषण) ने अपने इस लेख से कर दिया । आचार्य प्रवर हमारे प्रतिष्ठान के सम्मानित सदस्य हैं । श्री भुवनेश्वरी देवी तथा प्रतिष्ठान के विषय में आचार्य महोदय जैसे लोगों द्वारा की गई व्याख्या सर्वाधिक विश्वसनीय है। यह प्रतिष्ठान विद्या के प्रचार–प्रसार के निमित्त है। श्री भुवनेश्वरी विद्या की अधिष्ठात्री देवी हैं इनकी कृपा से सारी विद्याएँ करतलामलकवत स्पष्ट होती हैं। इसी कामना से सर्वप्रथम देवी का नाम लिखा जाता है। इस बात पर आचार्य प्रवर के विद्वत्तापूर्ण इस लेख को पढ़कर लोग श्रद्धवान होंगे, ऐसी आशा है।) – सम्पादक

**हृतपण्डरीकमध्यस्थां प्रातः सूर्यसमप्रभाम्।**
**पाशांकुशधरां सौम्यां वरदामभयहस्तकाम्।**
**त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्त कामदुधां भजे।। (देवी उपनिषद)**

भगवती भुवनेश्वरी के स्वरूप के विषय में यहाँ थोड़ा चिन्तन प्रस्तुत किया जा रहा है। तन्त्रशास्त्र में 10 महाविद्याओं की प्रसिद्धि है। ये महनीय शक्तियां हैं, जो इस संसार के सृष्टि तथा पुष्टि के निमित्त नाना प्रकार के कार्यो का सम्पादन कर अपनी प्रभुता



जमाए रहती है। काली आद्या शक्ति हैं और उन्हीं से उद्भूत होकर अन्य 6 शक्तियाँ मानी जाती है। दश विद्याओं के नाम इन पद्यों में दिये गए है––

**काली तारा महा विद्या षोडशी भुवनेश्वरी**
**पंचमी छिन्नमस्ता च महाविद्याः प्रकीर्तिताः।**
**त्रिपुरा भैरवी धूमावती च वगलाम्बिका**
**मातंगी कमला चव सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः।**

काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, त्रिपुराभैरवी, घूमावती, बगलामुखी, मातंगी तथा कमला ये ही दस महाविद्याओं के नाम है, जिनमें भुवनेश्वरी चतुर्थी महाविद्या है। यहाँ इन्हीं के साहित्य एवं स्वरूप का थोड़ा विवेचन तन्त्रशास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

## (1) तन्त्र ग्रन्थ

भुवनेश्वरी विषयक तन्त्र ग्रन्थ संख्या में अधिक नहीं है और जितने विद्यमान हैं, उनमें ही भुवनेश्वरी के स्वरूप, पूजा–अर्चना, मन्त्र–यन्त्र आदि का विवरण पर्याप्त रूपेण दिया गया है।

1. **भुवनेश्वरी रहस्य**–भुवनेश्वरी की उपासना का सर्वप्रथम ग्रन्थ यही है। 26 पटलों में विभक्त इस ग्रन्थ में देवी की अर्चना पद्धति सांगोपांग वर्णित है। इसके निर्माता पृथ्वीधराचार्य है जो आदिशंकराचार्य के शिष्य माने जाते हैं। पृथ्वीधर का शिष्य क्रम इस प्रकार है–ब्रह्मचैतन्य, शिवचैतन्य, आनन्द चैतन्य, देवचैतन्य, जनार्दनचैतन्य। उक्त ग्रन्थ की एक प्रति रायल ऐशियाटिक सोमाइटी, बंगाल के

पुस्तकालय में विद्यमान है जिसका लेखन काल 1694 है । शिष्य क्रम का निर्देश 'बालार्चन विधि' नामक ग्रन्थ में है । भुवनेश्वरी के विषय में–

2. **भुवनेश्वरी तन्त्र तथा**
3. **भुवनेश्वरी पारिजात भी प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।**
4. **भुवनेश्वरी महास्तोत्र**–

सकलागमाचार्य चक्रवर्ती पृथ्वीधराचार्य इस स्तोत्र के प्रणेता है । इस स्तोत्र में 46 पद्य है जिनमें आदि के 36 पद्य भगवती की विशद स्तुति के प्रतिपादक है तथा अन्तिम 10 पद्य गुरु तथा ग्रन्थ के विषय में है । स्तोत्र का 37वाँ पद्य गुरु का नाम निर्देश करता है

**श्री सिद्धिनाथ इति कोऽपि युगे चतुर्थे**
**प्रादुर्वभूव करुणावरुणालयेऽस्मिन्।**
**श्री शम्भुरित्यभिधया स मयि प्रसन्नं**
**चेतश्चकार सकलागम चक्रवर्ती।।**

इनके गुरु का नाम श्री शम्भु या शम्भुनाथ था । इस स्तोत्र के टीकाकार पद्मनाथ कवि ने ऊपर के पद्य की टीका में ''वरुणालय'' शब्द का अर्थ नर्मदा तट निकटवर्ती ग्राम विशेष किया है जिससे स्पष्ट है कि शम्भुनाथ नर्मदा तट के इस ग्राम के निवासी थे । आडफेक्ट ने अपने ''कैटेलाग कंटेलोगास्म'' नामक बृहत् सूचीपत्र में पृथ्वीधराचार्य के नाम सात रचनाओं का नाम दिया है जो इस प्रकार हैं– (1) भुवनेश्वरी स्तोत्र, (2) लघुसप्तशती स्तोत्र, (3) सरस्वती स्तोत्र, (4) कातन्त्र विस्तर विवरण, (5) मृच्छकटिक व्याख्या, (6) वैशेषिक रत्नकोष, (7) भुवनेश्वर्यर्चन पद्धति। लघुप्तशती स्तोत्र में 18 पद्य है



जिनमें दुर्गासप्तशती के वर्ण्य कथाओं का संक्षेप किया गया है। इसके 17वें पद्य में भी रचयिता ने अपने गुरु का नाम शम्भुनाथ ही दिया है

**श्री सिद्धनाथापर नामधेयः श्री शम्भुनाथो भुवनैकनाथः।**
**तस्य प्रसादात् सकलागमाच्च पृथ्वीधरः स्तोत्रमिदं चकार।**

''भुवनेश्वरी अर्चन पद्धति'' का भी निर्देश मिलता है जिसका आधार लेकर ''भूवनेश्वरी क्रमचन्द्रिका'' का निर्माण किया गया था । ध्यान देने की बात है कि ऊपर के दोनों स्तोत्रों में पृथ्वीधर ने अपने गुरु का नाम ''सिद्धनाथ'' अपर नाम वाले शम्भुनाथ बतलाया है। फलतः ये शंकराचार्य के एतन्नामक शिष्य से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इतना तो निश्चित है कि पृथ्वीधराचार्य भुवनेश्वरी के विशेष उपासक तथा तद्विषक ग्रन्थों के मानवीय निर्माता थे।

5. **भुवनेश्वरी पंचांग**–

इसके भीतर पांच ग्रन्थ सम्मिलित हैं–

(क) पटल (श्लोक सं० 111) यह रुद्रयामल के ''दशविद्या रहस्य'' के अन्तर्गत माना जाता है।

(ख) भुवनेश्वरी पूजा पद्धतिः

(ग) कवच (32 अनुष्टुप) ''त्रैलोक्यकवच'' नामक भुवनेश्वरी का कवच।

(घ) भुवनेश्वरी सहस्रनाम (112 पद्य) रुद्रयामल तन्त्र में यह सहस्रनाम निर्दिष्ट है। एक दो पद्य देखिये––

हसन्ती शिवसंगेन वांछितानन्ददायिनी

नागांगी नागभूषा च नागहारविधारिणी।।42।।

शुक्रस्था शुक्रिणी शुक्रा शुक्रपूजकपूजिता

कामाक्षा कामरूपा च योगिनी पीठवासिनी।।82।।

(ङ) भुवनेश्वरी अष्टोत्तरशतनाम स्तोत्र।

6. भुवनेश्वयंष्टकम्–रूद्रयामल तन्त्र में वर्णित।

7. भुवनेश्वरी–मकारादिसहस्रनाम स्तोत्र

इस स्तोत्र में 202 पद्य हैं और यह ''महातन्त्रार्णव'' नामक ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है।

8. भुवनेश्वरी हृदय स्तोत्र (21 पद्य)

9. भुवनेश्वरी स्तोत्र रुद्रयामल तन्त्र, (26 पद्य)

इसकी बड़ी ही रमणीय स्तुति भगवती की कृपा की प्रकाशिका है।

**10. भवनेश्वरी क्रम चन्द्रिका–**

पृथ्वीधराचार्य की पद्धति एवं शारदातिलक आदि नाना तन्त्रों के मत का अवलम्बन कर दाईदेव सम्प्रदाय वाले अनन्तदेव ने इसका निर्माण किया। इसमें तीन कल्प हैं। पूजा के विभिन्न प्रकारों का, नाना फल प्राप्ति के उद्देश्य से, वर्णन किया गया है ।



इन दश ग्रन्थों में से आदि के तीन ग्रन्थ अप्रकाशित हैं । अन्तिम सात ग्रन्थ राजस्थान पुरातन ग्रन्थ माला में ग्रन्थांक 54 रूप में 'श्री भुवनेश्वरी महास्तोत्र' नाम से एकल प्रकाशित है। सम्पादक पं. गोपाल नारायण बहुरा, जोधपुर, 1965 ई0। ग्रन्थ का सम्पादन बड़े परिश्रम तथा अध्यवसाय से किया गया है, जिसके लिए सम्पादक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

**(2) श्री भुवनेश्वरी : तान्त्रिक दृष्टि में–**

सृष्टि के आरम्भ होने पर जब भुवनों का निर्माण हुआ, तब उनकी रक्षा तथा पोषण के निमित्त शक्ति विशेष की कल्पना की गयी। उन्हीं का नाम हुआ भुवनेशी अथवा भुवनेश्वरी। वह शिव के साथ सर्वथा अभिन्न रूप से स्थित होने वाली, स्वतन्त्र, विघ्नों से रहित है। समस्त विश्व को व्याप्त कर उस पर शासन करने वाली इस देवी. का नाम भुवनेश्वरी है:–

**शिवाविनाभूत शक्तिः स्वतन्त्रा निरूप्लवा।**
**समस्तं व्याप्य भूवनमीष्टे तेनेश्वरीमता।।**

भुवनेश्वरी के ध्यान का स्वरूप इस पद्य में दिया गया है–

**चंचन्मौक्तिकहेममण्डन युता माताऽतिरक्ताम्बरा**
**तन्वङ्गी नयनत्रयातिरुचिरा बालार्कवद्भासुरा।**
**या दिव्यांकुश पाशभूषितकरा देवी सदा भीतिहा**
**चित्तस्था भुवनेश्वरी भवतु नः सेयं मुदे सर्वदा।।**

भुवनेश्वरी दुबली पतली गात्र यष्टिधारण करती हैं। गले में मोती की माला तथा सुवर्ण के आभूषण हैं। उनका वस्त्र अत्यन्त लाल वर्ण को है। उनके तीन नेत्र हैं। वे बाल

सूर्य के समान द्युति धारण करती है। उनके चार हाथ हैं जिनमें वे अंकुश, पाश, वर एवं अभय धारण करती हैं। भय को दूर करने वाली भगवती भक्तों के चित्त में विराजमान रहे। पद्य में यह दिव्य प्रार्थना की गयी है।

वृद्धिंगत विश्व के अधिष्ठान त्र्यम्बक शिव है और उन्हीं की शक्ति भुवनेश्वरी है। शक्ति तथा शक्तिमान् में अभेद के कारण ही वे भी तीन नेत्रों वाली है। सोमात्मक अमृत से वे विश्व का पोषण करती है और इसीलिए भगवती ने अपने किरीट में चन्द्रमा धारण कर रखा है । वे ही अपने नाम को सार्थक करती हुई त्रिभुवन का पोषण करती है और इसी तथ्य का संकेत उनके हाथ की मुद्रा करती है। वे जीवों पर सर्वदा कृपा दृष्टि बनाए रखती है और इसकी सूचना उनके मृदु हास्य से मिलती है। वे त्रिभुवन की शासनकर्त्री हैं और इसलिए इस तथ्य की सूचना उनके अंकुश तथा पाश के द्वारा भक्तों को मिलती है। यही भगवती का स्वरूप है। इसी तथ्य को सूचित करने वाला यह पद्य भी भुवनेश्वरी के स्वरूप का प्रतिपादन करता है :–

**उदयद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटं**
**तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्**
**स्मेरमुखीं वरदांकुशपाशा**
**भीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्।**

भुवनेश्वरी के चार हाथ है जिनमें वरदमुद्रा, अंकुश, पाश तथा अभयमुद्रा विराजमान रहती है।

**अथानन्दमयीं साक्षात् शब्दब्रह्मस्वरूपिणीम्।**
**ईडे सकल सम्पत्यै जगत्कारणमम्बिकाम्।।**



सकल सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए आनन्दमयी, जगत् को उत्पन्न करने वाली तथा शब्द ब्रह्म के प्रत्यक्ष रूप वाली अम्बिका की स्तुति करता हूँ ।

''भुवनेश्वरी महास्तोत्र'' के अध्ययन से उनका सरस्वती के साथ अभिन्न होने के तथ्य की सूचना प्राप्त होती है। एतद्विषयक कतिपय पद्यों का उद्धरण यहाँ किया जाता है–वैखरीमयी वाणी का उनका रूप इस पद्य में निर्दिष्ट है (स्तोत्र का द्वितीय पद्य)

**आदि क्षान्तविलास–लालसतया तासांतुरीया तु या**
**क्रोडीकृत्य जगत्त्रयं विजयते वेदादिविद्यामयी।**
**तां वाचं मणि सम्प्रसादय सुधा–कल्लोल–कोलाहल**
**क्रीडा कर्णन वर्णनीय कविता साम्राज्य सिद्धिप्रदाम्।।**

भगवती से प्रार्थना है कि आप तुरीया वाणी वैखरी वेद आदि विद्यामयी है। अमृत को लहरियों के कलरव की क्रीड़ा वाली कविता के द्वारा साम्राज्य की सिद्धि प्रदान कीजिए। भगवती के नाना फलों को देने वाले मन्त्रों का स्पष्टीकरण भी इस स्तोत्र के विभिन्न पद्यों में किया गया है। भगवती के मृत्युजंय मंत्र की आराधना का फल तथा रूप 33वें मन्त्र में दिया गया है। इस स्तोत्र की विशेषता है कि यह बीज मन्त्रों से गर्भित है। मन्त्रों का उद्धार तथा तत्तत् फलों का विवरण इसे महनीय बना रहा है। उपासना विधि का भी संकेत किया गया है। भुवनेश्वरी की अनन्यपरता पृथ्वीधराचार्य को अभीष्ट है। अर्थात् जगत् में माता, पिता, भाई, बन्धु, सुहृद आदि जितने सम्बन्धी है, भगवती तत्तत् रूप हैं। भगवती को छोड़कर विश्व में कोई भी व्यक्ति वा पदार्थ उनसे पृथक नहीं है–

**त्वं माता पितरौ त्वमेव सुहृदस्त्वं भ्रातरस्त्वं सखा**
**त्वं विद्या त्वमुदारकीर्तिचरितं त्वं भाग्यमत्यद्भुतम्।**

**किंभूवः सकलं त्वमीहितमिति ज्ञात्वा कृपा कोमले**
**श्री विश्वेश्वरि सम्प्रसीद शरणं मातः परं नास्ति में।**

**(स्तोत्र ३६ श्लोक )**

मन्त्र के जप के समय का विधान भी बताया गया है (43 श्लोक) उचित विधि से मन्त्र जाप करने पर तीन मास में ही अलौकिक विद्याओं की प्राप्ति सद्यः सम्पन्न हो जाती है। भगवती भुवनेश्वरी–के दो सहस्रनाम–स्तोत्र उपलब्ध है। एक तो रुद्रयामल–तन्त्र का है, दूसरा भकारादि सहस्त्रनाम स्तोत्र ''महात्तन्त्राणेव'' तन्त्र में उपलब्ध होता है, जिसमें भुवनेश्वरी का प्रत्येक नाम भकार से ही आरम्भ होता है। नमूने के तौर पर कुछ पद्य दिये जाते हैं––''भास्कर'' शब्द से आरम्भ होने वाले नाम लगभग 40 श्लोकों में है और प्रत्येक पद्य में 5 नाम भी मान लिये जायें, तो इन नामों की संख्या दो सौ के आस–पास हो जाती है–

**भास्कराधाररूपेशी भास्कराधाररूपिणी**
**भास्कराधारकाम्येशी भास्कराधारकामिनी।।128।।**
**भास्कराधार चक्रस्था भास्कराधारचक्रिणी**
**भास्करेश्वरजननी भास्करेश्वरपालिनी।।130।।**

''ललितासहस्रनाम'' नामों की विविधता तथा गूढ़ार्थपरता के कारण इस सहस्रनाम से निनान्त भिन्न है। यह सहस्रनाम ब्रह्माण्डपुराण के उत्तरखण्ड में हयग्रीव के द्वारा लोपामुद्रा के पति अगस्त्य ऋषि को उपदिष्ट है। इसके ऊपर ''सौभाग्य भास्कर'' नाम्नी भास्कर राय की प्रख्यात व्याख्या है, जिसमें प्रत्येक नाम का गम्भीरार्थ– प्रकाशित किया गया है। भगवती के प्रत्येक नाम में उनके गुण एवं स्वभाव के रूप की व्याख्या की गयी है। उदाहरणार्थ केवल दो नामो की व्याख्या प्रस्तुत है–



भगवती का नाम मीनाक्षी है। इसके तात्पर्य के प्रकटीकरण में एक गम्भीर तथ्य का प्रतिपादन उपलब्ध है। भगवती के नेत्र मीन के नेत्र के समान है। सामान्यतः इस उपमा में साधारण धर्म सौन्दर्य के रूप में प्रतिष्ठित प्रतीत होता है। परन्तु इस नाम में एक नवीन तथ्य का संकेत उपलब्ध है–

मीनानां वीक्षण मात्रेण शिशूनामभिवृद्धिः, न तु स्तन्यपानेनेति प्रसिद्धिः। तेन–कटाक्षमात्रेण भक्तपोषका इत्यर्थः। यह प्रसिद्धि है कि मछली अपनी दृष्टि से ही शिशुओं का पोषण करती है। वह उन्हें स्तन्यपान नहीं कराती। इसी प्रकार भगवती अपने भक्तों पर अपनी दृष्टि डालती हैं–कटाक्षपात करती हैं। उतने से ही उनका पोषण हो जाता है। इस तथ्य का प्रतिपादक यह नाम है ।

दूसरा नाम कुमारी है। दुर्गासप्तशती में इस प्रसंग का निर्देश किया गया है। शुम्भ ने भगवती दुर्गा के पास अपने दूत के द्वारा, विवाह का प्रस्ताव भेजा था, जिसके उत्तर में भगवती ने अपनी कठिन प्रतिज्ञा को कह सुनाया–

**यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्प व्यपोहति**
**यो मे प्रति बलो लोके समे भर्ता भविष्यति ।**

सप्तशती 5/120

इस प्रतिज्ञा को खण्डित करने वाला कोई भी नहीं पैदा हुआ। फलतः उनका कौमार्य अखण्डित है। इसलिए वे ''कुमारी'' नाम से विख्यात हैं। कुमारी पूजा का विधान शारद नवरात्र में किया जाता है, जिसमें कुमारियां भगवती का प्रातिनिध्य करती हैं। 'महाकाल संहिता'' में इस पूजा का विशेष वर्णन उपलब्ध होता है।

निर्वाणतन्त्र के सप्तक पटल में महर्लोक के वर्णन प्रसंग में कहा गया है कि वहां परमेश्वर तथा भुवनेश्वरी का विशेष रूप से निवास होता है। वहाँ निर्गुण के आलय सर्वकर्ता ईश्वर शिव भुवनेशी के बिना स्पन्दन भी नहीं कर सकते। वह नितान्त पंगु हो जाते हैं और कहीं आ जा नहीं सकते। भुवनेश्वरी की आराधना के फल रूप ही वे सबके स्वामी तथा ईश्वर होते हैं। अतः भुवनेशवरी विश्वमाता हैं, विश्व की पालनकारिणी हैं तथा विश्व को मोक्षदायिनी हैं–

**ईश्वरः सर्वकर्ता च निर्गुणस्यालयः शिवः।**
**भुवनेशीं बिना देवि स्यन्दितु नैव शक्यते।।18।।**
**पंगुप्रायोः सदा ईशो गन्तुं च नैव शक्यते**
**भुवनेशी समाराध्य सर्वस्वामी स ईश्वरः।।19।।**
**मोक्षदा सर्वलोकानां मुक्तिदा विश्वमातृका**
**भुवनेशी बिना ईशः कर्तुं किंचिन्न शक्यते।।21।।**

**–निर्वाणतन्त्र, सप्तम पटल**

इस प्रकार तन्त्र की दृष्टि में भुवनेश्वरी सर्वाधिक महत्वशालिनी देवी हैं। शिव का ईश्वरत्व तथा जगतरक्षकत्व भुवनेश्वरी की उपासना का ही परिणत फल है।[2]

### (3) भुवनेश्वरी : पौराणिक दृष्टि में–

देवी भागवत के अनेक स्कन्धों में भुवनेश्वरी की स्तुति ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के द्वारा सम्पन्न की गयी है। इस पुराण के तृतीय स्कन्ध के तृतीय अध्याय में देवताओं के द्वारा इस विश्व को उत्पन्न करने वाली आदिशक्ति के रूप में उनका वर्णन किया गया है । ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव अपनी जननी को खोजते हुए आकाश में अपने विमानों द्वारा



घूम रहे थे, तब उन्होंने एक दिव्य रूपधारिणी सुन्दरी को देखा । वह रत्न, माल्य तथा अम्बरधारिणी, रक्त गन्ध से अनुलिप्त, सुरक्त नयन वाली, करोड़ों विद्युत की प्रभा के समान प्रभाशालिनी, चारुवदना, रमाकोटि से भी अधिक सुन्दरी, सूर्य बिम्ब के समान वरपाशांकुश धारिणी देवी थी–वही भुवनेश्वरी थीं –

**वरपाशांकुशाभीष्टघरा श्री भुवनेश्वरी।**
**अदृष्टपूर्वा सा दृष्टा सुन्दरी स्मितभूषणा।।40।।**
**हीकार जप निष्ठैस्तु पक्षिवृन्दैर्निषेविता**
**अरुणा करुणामूर्तिः कुमारी नवयौवना।।41।**

इन्हीं का नाम भुवनेशी भी है

**सखीवृन्दैः स्तुता नित्यं भुवनेशी महेश्वरी ।**
**उल्लेखाद्यभिरमरकन्याभिः परिवेष्टिता।।45।।**

इस नवयौवना सुन्दरी को देख कर विष्णु को अन्तःस्फुरण हुई, कि यही भगवती देवी हम सब का, त्रिदेव तथा समस्त भुवन का कारण है। यही महाविद्या, महामाया, पूर्ण, प्रकृति, अव्यय आदि नामों से अभिहित की जाती है। यही मूल प्रकृति है, जो सदा पुरुष से संगत होकर इस ब्रह्माण्ड की रचना कर उसे परमात्मा के लिए प्रकट करती है–

**मूल प्रकृतिरेवैषा सदा पुरुष संगता।**
**ब्रह्माण्ड दर्शयैषा कृत्वा व परमात्मने।।60।।**

इस देवी की स्तुति विष्णु ने (चतुर्थ अ0), शिव ने (पंचम म0) तथा ब्रह्मा ने (पंचम अध्याय) में किया। विष्णु का कथन है–भगवती के बिना कोई भी वस्तु स्थित नहीं है।

आप ही समस्त जगत को व्याप्त कर अवस्थित होती हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरुष सर्वदा कहा करते हैं, कि शक्ति के बिना व्यवहार में पुरुष नितान्त अशक्त है–असमर्थ है :–

**न स्वामृते किमपि वस्तु गतं विभाति**
**ध्याप्यैव सर्वमखिलं त्वमवस्थितासि।**
**शक्ति बिना व्यवहृतो पुरुषोऽप्यशक्तो**
**बंभण्यते जननि बुद्धिमता जनेन।।**

**(देवी भाग0 3/4/32)**

शिव जी का कहना था कि जो व्यक्ति त्रिदेवों के द्वारा सृष्टि का कार्य सम्पादन करना मानते हैं, वे अन्यथा भाषी है। त्रिदेव आपकी ही रचना है जो आपकी कृपा से जगत् की रचना करते हैं (तत्रैव 3/5/4) और इसीलिए वे कामदाता तथा मोक्षदाता बीजयुक्त नवाक्षर मन्त्र का सतत जप करते रहते हैं–

**जपन् नवाक्षरं मन्त्रं कामदं मोक्षई तथा**
**बीजयुक्तं शुभोच्चारं शंकरस्तस्थिवान् तदा।**

**(तत्रैव 3/5/24)**

नवाक्षर मन्त्र के अतिरिक्त बाग्बीज, कामराज तथा मायाबीज यह मन्त्र परमार्थ का दाता बताया गया है। इस स्कन्ध में शक्ति तथा परमात्मा का ऐक्य सिद्ध किया गया है

**या शक्तिः परमात्मासो योऽसौ सा परमा मता।**
**अन्तरं नैतयोः कोऽपि सूक्ष्म वेद च नारद।।**

**(तत्रैव 3/7/15)**



इस सप्तम अध्याय में तत्वों का निरुपण किया गया है। इसी स्कन्ध के अन्तिम अध्याय (21वां अ0) में भगवती का सर्व देवों की निर्मात्री तथा जगत की उत्पादिका–के रूप में सुन्दर वर्णन है। इस तथ्य के प्रतिपादक कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं–

**देही माया पराधीनः चेष्टते तद्वशानुगेः।**
**सा च माया परे तत्वे संविद्रूपोऽति सर्वदा**
**तदधीना प्रेरिता च तेन जीवेषु सर्वदा**
**ततो माया विशिष्टां तां सम्विदं परमेश्वरीम्**
**मायेश्वरी भगवतीं सच्चिदानन्द रूपिणीम्।।52।।**

इस भगवती का बिना आश्रय लिये जीव कभी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। जीव के लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस सन्दर्भ में भी भगवती भुवनेश्वरी या भुवनेशो का ही नाम अभिहित है–

**ध्यायेत्तथाऽराधयेच्च प्रणयेच्च जपेदपि**
**तेन सा सदया भूत्वा मोचयत्येव देहिनम्।।50।।**
**स्वमायां संत रत्येव स्वानुभूति प्रदानतः**
**भुवनं खलु माया स्मात् ईश्वरी तस्य नायिका**
**भुवनेशी ततः प्रोक्ता देवी त्रैलोक्यसुन्दरी।**

**(देवी भाग० 6/31/51)**

भगवती के पचास पीठों का उल्लेख किया गया है (देवी भाग0 7 स्कन्ध 38 अ0 के पूरे अध्याय में।) इनमें भगवती के विशिष्ट रूपों के लिए स्थान विशेष का भी निर्देश किया गया है। ये भौगोलिक स्थान पूरे भारतवर्ष मे बिखरे हुए हैं। इनमें से कुछ ही स्थानों का निर्देश उपलब्ध है जिन की भौगोलिक स्थिति का यथार्थ परिचय प्राप्त होता

है। भुवनेश्वरी का स्थान मणिद्वीप बताया गया है, परन्तु इसकी भौगोलिक स्थिति का निर्णय नहीं किया जा सकता–

**श्रीमच्छीभुवनेश्वर्या मणि द्वीपं मम स्मृतम्।।**

**(देवी भाग० 7/38/14)**

अन्त में काशी ही सब देवी क्षेत्रों में मुख्य माना गया है, क्योंकि इस तीर्थ में सब क्षेत्रस्थ भगवती का निवास रहता है। अविमुक्त क्षेत्र (वाराणसी) में विशालाक्षी देवी का मुख्य स्थान माना अवश्य गया है (अविमुक्ते विशालाक्षी तत्रैव श्लोक 27) परन्तु आग्रहहीन होकर वहीं पर सब क्षेत्रों का निवास मान कर काशी में ही देवीभक्त को रहने तथा देवी के पूजन का निर्देश भी किया गया है––

**अथवा सर्व क्षेत्राणि काश्यां सन्ति नगोस्तम।।32।।**
**तत्र नित्यंवसेन्नित्यं देवीभक्तिपरायणः**
**तानि स्थानानि संपश्यन् जपन् देवी निरन्तरम्।।33।।**

देवी भागवत के सप्तम स्कन्द के अन्तिम नौ अध्यायों में (32 अध्याय से 40 अध्याय तक) अध्यात्मतत्वों का विशेष विवरण दिया गया है। अतः यह अंश ''भगवती गीता'' के नाम से पुकारा जाता है। भगवद्गीता से इस भगवतीगीता के साम्य वैषम्य की समीक्षा विद्वज्जनों के मनन–निदिध्यासन के लिए एक गम्भीर गवेषणीय विषय है। अन्त में इस पुराण का सारभूत अद्वैतपरक उपदेश इन पद्यों में संग्रहित है––

**स्थितिः सैव गतिर्यात्रा मतिश्चिन्ता स्तुतिर्वचः**
**अहं सर्वात्मिको देवः स्तुतिः सर्व त्वदर्चदम्।।**
**अह देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकमाक्**



**सच्चिदानन्दरूपोऽहं स्वात्मानमिति चिन्तयेत्।।**

**–देवी भाग0 10/1/45–46**

**निष्कर्ष**–

पुराण तथा तन्त्र दोनो ही दृष्टि से विचार करने पर भुवनेश्वरी का जो स्वरूप निर्धारित होता है, उसका निर्देश ऊपर किया गया है। उनके दो रूप सामने आते हैं। एक रूप तो उनके विश्वमाता होने का है। इस प्रकार वे विश्व जननी हैं; ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र की उत्पादिका है। दूसरे रूप में वे दश महाविद्याओं के अन्तर्गत है तथा वागीश्वरी देवी के समान ही वाग् की ईश्वरी तथा वाणी को उत्पन्न करने वाली वेदमाता हैं।

**नाना दन्त्रसमादिष्टं भुवनेशी विचिन्तनम्।**
**तन्त्रतत्वज्ञसुधियां सद्यो मोदाय जायताम्।।**

**सन्दर्भ :**


1. द्रष्टव्य गोपीनाथ कविराजः नोट्स ऑन रिलीजन एण्ड फिलोसोफी नामक अंग्रेजी ग्रन्थ, पृष्ठ 277–280, प्रकाशक संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1983
2. तन्त्रसंग्रह द्वितीय भाग, (प्रकाशक संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी, 1970 ई0)

# समन्वय दर्शन

पद्मभूषण स्व. पट्टाभिराम शास्त्री

आस्तिक और नास्तिक के भेद से जितने दर्शन है वे महर्षिगण और विद्वद्गण के सतत चिन्तन और मनन का परिणाम होकर हमारे बुद्धितत्व के आहारप्रद है। जैसे पार्थिव शरीर के पोषण हेतु नाना प्रकार के आहार होते है वैसे ही बुद्धि और मन के पोषण हेतु कल्पना करके महर्षियों ने दर्शन विषय सम्बन्धी आहारों को हमें दिया है। जैसे पर्वत राज हिमालय से निकली हुई पुण्य सलिल गंगा तथा यमुना आदि नदियों की धारायें इस पवित्र भारत-भूमि में प्रवाहित होती है (उसी) प्रकार भारत से ही उत्पन्न दर्शन-नदियों की धारायें, भारत और भारत से अन्यत्र प्रवाहित होती है। इससे यह अर्थ निकलता है कि देशान्तरवासियों को दर्शन विषयक ज्ञान प्रदान कर भारत ने गुरूस्थान को प्राप्त किया है। मनु महाराज ने पृथ्वी के सभी मानव जाति के लिए भारत को चरित्र शिक्षक कहा और ज्ञानप्रद के रूप से गुरू भी ठहराया। मनु महाराज का अभिप्राय है कि पदार्थों का वास्तविक ज्ञान ही जाने पर चरित्र अपने आप सिद्ध हो जाता है।

यह विचार करना चाहिए कि कौन दर्शन किस प्रकार का ज्ञान देता है? उससे चरित्र निर्माण कैसे होता है? सर्वप्रथम निरपेक्ष दर्शनों को लेकर



देखें—श्रुति निरपेक्ष दर्शन छः प्रकार के है - चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, वैभाषिक, सौत्रान्तिक तथा आर्हत। इन्हें वेद का प्रामाण्य मान्य नही है। अतएव ये श्रुति निरपेक्ष दर्शन कहे जाते है और इसीलिये ये अवैदिक कहलाते है। अवैदिक होते हुए भी ये चोरी करनी चाहिए, डकैती डालनी चाहिए, परदाराभिगमन करना चाहिए, झूठ बोलना चाहिए, निर्दय होकर हिंसा करते रहना चाहिए, दयाभाव छोड़कर क्रूर बनना चाहिए, झूठ बोलना चाहिए, निर्दय होकर हिंसा करते रहना चाहिए, इस प्रकार के उपदेश नही करते है और निषेध मुख से चोरी आदि का निषेध भी नहीं करते है। इन विधि-निषेधों को वैदिक दार्शनिक कपिल, कणाद आदि भी नही करते है। यतः ये विधि-निषेध धर्मग्रन्थों को आचार के विषय है। दर्शन के ग्रन्थ धर्मग्रन्थ नही कहलाते है। दर्शन का विषय- यह जगत क्या है? इसका निर्माण करने वाला कौन है? इस जगत के साथ हमारा सम्बन्ध कैसे हुआ? यह सम्बन्ध नित्य है या अनित्य? जगत से छूटने का कोई उपाय है या नही? आदि-आदि। धर्म निर्णय के लिए वैदिक लोग वेद को मूल मानते है तथा अवैदिक लोग आत्मा तुष्टि को ही मूल मानते है। धर्म आचरण का विषय है और दार्शनिक तत्व तो भावना-साधना का विषय है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्म वैदिक अवैदिकों में मिलते-जुलते रह सकते है, किन्तु दार्शनिक तत्व सर्वथा भिन्न होते है।

दार्शनिक यदि वैदिक है तो इनके मूल पुरूष कपिल, पतञ्जलि, कणाद, गौतम, जैमिनि और बादरायण है, यदि अवैदिक है तो इनके मूल पुरूष चार्वाक, बृहस्पति, बुद्ध एवं जिन महावीर है। कपिल, पतञ्जलि आदि ने सूत्रों की रचनाकर अपने-अपने दर्शन संप्रदाय को चलाया और बुद्ध भगवान आदि महापुरूषों के उपदेश को प्राप्त कर अवैदिक दर्शन संप्रदाय चलने लगे। संप्रदाय शब्द का शुद्ध अर्थ- अविछिन्न गुरू शिष्य परम्परा से विद्या की प्राप्ति है। विद्या प्राप्ति को ही न्याय वर्तिककार उद्योतकर ने संप्रदाय कहा है। कौन सम्प्रदाय कब से शुरू हुआ यह हमारे निर्णय का विषय नही बनता है, क्योंकि विद्या के संप्रदाय के बिना भारत कभी रहा नही है, कपिल, पतञ्जलि आदि के सूत्र रचना के पूर्व तात्कालिक ऋषि, महर्षि विद्या-विहीन थे यह विश्वास नही होता है। गोष्ठियों में विविध विषय चर्चित होते थे, जिन्हें कालान्तर में सूत्र-बद्ध किया जाता होगा। भले ही पठन-पाठन का संप्रदाय न हो, किन्तु चर्चा का संप्रदाय तो रहा ही है। अतएव इन सूत्रों में अन्याय महर्षियों के नाम उल्लिखित पाये जाते है। इसी प्रकार बुद्ध भगवान के उपदेशान्तर ही संप्रदाय चला, ऐसा निश्चय नही कर सकते है। बाल्मीकि रामायण में जिस नास्तिकवाद का उल्लेख है वह बुद्ध के अनन्तर आया होगा यह कहना अत्यंत कठिन है। इस प्रकार संप्रदाय को महत्व देना ही उचित है।



किसी के खण्डन मात्र से संप्रदाय उछिन्न हो गया, ऐसा समझना ठीक नही है। खण्डन व्यापार का अंत नही है। वैदिक-अवैदिकों के आचरणों में भेद परलक्षित होगें। जैसे वैदिकों के आचरण वेदमूलक ग्रंथों पर आघृत है वैसे ही अवैदिकों के आचरण आत्मतुष्टि मूलक हो जाने से भिन्न हो गये है। वैदिकों में आचरणों का भेद परिलक्षित होने पर भी होलाकाधिकरण न्याय से प्रामाण्य माना जाता है, वह न्याय अवैदिक आचरणों में लागू हो सकता है। किन्तु वेदानुकूल न होने से उनमें वैदिक प्रमाण नही मानते है। दार्शनिक तत्व के विषय में तो शून्य निरालंबन आदि वादों का मूल वेद में उपलब्ध है किन्तु अवैदिक अपने वादों का मूल बुद्ध के उपदेशों को मानते है, उपदेश ही संप्रदाय का प्रवर्तक है।

वैदिक हो चाहे अवैदिक जगत् के स्वरूप निर्णय के लिए प्रवृत्त हुए है। यह तो स्पष्ट है कि जगत् का निर्माण करते हुए किसी को किसी दार्शनिक ने देखा नही। अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण को कोई भी प्रस्तुत नही कर सकता। अनुमान का आश्रय लेना होगा, या शब्द का आश्रय लेना होगा। अनुमान में कई प्रकार की शंकाये उत्पन्न हो जाती है और कुछ लोग शब्द को प्रमाण ही नही मानते। ऐसी स्थिति में अवैदिकों का गुरूपदेश ही एकमात्र अवलम्ब है। जैसे नदियों की धारायें पर्वतों से निकलती है, उसी प्रकार दर्शन तत्वों की

धारायें गुरूओं से निकलती है। गुरूओं की समालोचना भारतीय संस्कृति नही है। हम कपिल, पतञ्जलि आदि महर्षियों की समालोचना नही कर सकते है, किन्तु तत्परवर्ती ग्रन्थकारों के तर्कों की समालोचना कर सकते है। इस प्रकार मूल पूरूष का सम्प्रदाय यथावस्थित ही रहेगा। जिस प्रकार नाना नदियों की धाराओं का बहते रहना देश के लिए क्षेमकारक है, उसी प्रकार नाना सम्प्रदाय की धाराओं के बहते रहने पर कोई नुकसान नही है, प्रत्युत बुद्धि की पर्याप्त खुराक मिलती रहेगी। शरीर पोषणार्थ आहारों में यह भक्ष्य है यह अभक्ष्य है, यह खाना चाहिए यह नही खाना चाहिये, यह विचार उचित है किन्तु बुद्धिवर्धन के लिये कल्पित आहारों में त्याज्य एवं अत्याज्य का विचार क्यों प्रवृत्त होगा। विषयों के विचार से बुद्धि का विकास होता है। सम्प्रदायों में पूर्वापर भाव का निश्चय करना व्यर्थ प्रयास है। ग्रन्थकर्ताओं में इसका निश्चय हो सकता है। इससे सम्प्रदाय का निश्चय नही माना जा सकता। इस पवित्र भारत में ऐसा समय कभी भी नही रहा है जिसमें हमारे चिरंतर किसी भी विद्या से विहीन होकर पशु-पक्षियों के समान घूमते-घामते रहे हो।

श्रृति निरपेक्ष सम्प्रदाय के मूलतत्व पर ध्यान देकर देखें वे क्या कहते है और क्या उसका परिणाम होता है सर्वप्रथम वे कहते है-



'त्यज्यतामेष मूर्घाभिषिक्तः प्रथमों मोक्षः- आत्मग्रहो नाम । तन्निवृतो आत्मीय ग्रहोअपि विरंस्मति अहमेव न कि ममेति। तदिदमकड़र ममकार प्रहाणेन नैरात्म्यदर्शनमेव निर्वाणद्वारम इति।

बोधचर्यावितार ग्रन्थ में कहा है-

'यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन।

अहमेवक न किञ्चिच्चेत् भयं कस्य भविष्यति।।'

अर्थात सर्वप्रथम 'आत्म' रूपी ग्रह-मृत्यु को छोड़ो। उसके हट जाने पर आत्मीय अर्थात अपनापन भी शान्त हो जायगा। जब मै ही नही हूँ, तो मेरा क्या रहेगा। इस प्रकार अहंकार ममकार छूट जाने में निर्वाण-मोक्ष का द्वार खुल जाता है। लंकावतार ग्रन्थ में भी इसका उल्लेख है कि यदि- अहं नामक वस्तु रहेगी तो जिस किसी से भी भय हो सकता है। यदि मै ही नही हूँ तो भय किसका।

इस उक्ति से प्रतीत होता है कि उस काल में सभी मानव आत्मग्ह रूपी घड़ियाल से पीड़ित थे, अतएव बौद्धो की यह उक्ति निकली है। इससे वैदिक सम्प्रदाय सर्वत्र भूमण्डल में जोरो से प्रचलित था एवं नैरात्म्यदर्शनमेव निर्वाणद्वारम् इस उक्ति को परिसंख्या विधि मानकर विचार करेंगे तो मालूम

होगा कि नैरात्म्यवाद भी प्रचलित था, क्योंकि परिसंख्या विधि वही पर मानी जाती है जहाँ एक साध्य के लिए दो साधनों की प्राप्ति हो जाने पर एक की निवृत्ति करना हो। आत्मावाद एवं नैरात्म्वाद दोनों इकट्ठा प्राप्त होने पर 'एव' शब्द इतर को हटाता है, अथवा दो साधनों में एक का सम्बन्ध न होने पर 'एव' शब्द उसको जोड़ता है। दोनों दृष्टियों से देखे तो नैरात्म्यवाद भी प्रचलित था। पूर्वोक्त वचन का प्रणेता भले ही अर्वाचीन हो किन्तु गुरूपदेश रूपी सम्प्रदाय प्राचीन है। गुरू का उपदेशात्मक वचन विषय को जानकर ही निकला होगा। उक्त सम्प्रदाय प्राचीन है। मन्त्रों के उपदेश करने वाले पहले से ही स्थित मंत्र का उपदेश करते है, मन्त्रों को बनाकर उपदेश नही करते है। गायत्री बाला पञ्चाक्षरी, अष्टाक्षरी आदि मन्त्र पहले से विद्यमान है उन्ही का उपदेश है। भगवान् बुद्ध ने जो उपदेश किये है वे पूर्व विद्यमान थे, उनका स्मरण करके उपदेश किया। ईश्वर के विषय में भी यही प्रक्रिया है। कालान्तर में स्थित शब्दराशि वेद को स्मरण कर ईश्वर उपदेश करते है। बुद्ध भगवान् काल निश्चित होने कपर भी उनका उपदेश सम्प्रदाय से प्राप्त ही था। 'शून्य-शून्यम्' इतना ही उपदेश बुद्ध भगवान् का था, लेकिन उनके अनुवर्तियों ने निःस्वभाव, निरालम्बन-प्रतीत्यसमुत्याद-नैरात्म्य आदि वादों में परिवर्द्धित किया। माध्यमिकों का शून्यवाद है, यही निःस्वभाववाद कहलाता है। इसका



ठीक प्रतिद्वन्दी सांख्यदर्शन है। सांख्यदर्शन सर्वसतावाद का प्रतिपादक है। अतएव निःस्वभाववाद स्वभाववाद, निरन्वयोत्पति विनाशवाद परिणामवाद, भ्रान्तिवाद अविवेकवाद, असत्कार्यावाद सत्कार्यावाद, अयथार्थवाद यथार्थवाद, नैरात्म्यवाद सर्वात्मवाद। इस प्रकार पक्ष-प्रतिपक्ष चलने लगा। जैसे अल्पाकार वट का बीज बोने से महान शाखोपशाखाओं से युक्त वृक्ष खड़ा हो जाता है उसी प्रकार उपदेश को पक्ष-प्रतिपक्ष व्याख्यानोपव्याख्यान के रूप में साम्प्रदायिक लोगों ने विस्तृत कर दिया।

इनमें बुद्धदर्शन माध्यमिकों का सम्मत सर्वशून्यवाद है। यही निःस्वभाववाद कहलाता है। इसका प्रतिद्वन्द्वी दर्शन सर्वसत्यवाद और स्वभाववाद है। शून्यवाद के खण्डन में प्रवृत व्याख्याओं के देखने से हमें सन्देह उत्पन्न होता है कि किस सम्प्रदाय के पक्ष का अनुवाद करके खण्डन चला है। इस खण्डन को देखकर प्रतीत होने लगता है कि खण्डन के लिए अनुदित विषय या पक्ष उस सम्प्रदाय का नही है।

उदाहरणार्थ देखिये- मीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी वृत्तिकार उपवर्ष सम्मत व्याख्या को प्रदर्शित करते हुए निरालंबनवाद का अनुवाद करके तथा खण्डन करके प्रश्न उठाते है- 'शून्यस्तु कथम्'। यह प्रश्न किसका है? क्या निरालम्बनवादी का अथवा शून्यवादी का? दोनो वादों में महान भेद है। निरालंबनवादी

कहता है- ज्ञान का आलंबन बाह्य वस्तु नही है ज्ञान मात्र है। शून्यवादी ज्ञान का भी अपलाप करता हुआ तुच्छ लक्षण अभाव ही को शून्य कहता है। 'शून्यस्तु कथम्' यह प्रश्न करने वाला यदि शून्यवादी होगा तो प्रश्न का उपपादक भाष्य अर्थ ज्ञानयोराकार भेदंनोपलभामहे 'समाधन भाष्य' स्यादेतदेवम् यद्यर्थाकारा बुद्धिःस्यात् निराकारा तु नो बुद्धिः की संगति नही होगी। इसलिये निरालम्बनवादी योगाचार शून्यवादी पक्ष (माध्यमिक पक्ष) को लेकर उपस्थित हुआ है, इस निर्णय पर हमें पहुँचना है। अभाव पदार्थ को लेकर विचार करें तों यह भेद स्पष्ट प्रतीत हो जायेगा। दार्शनिकों में अभाव को वस्तुरूप देने वाले नैयायिक आदि कतिपय है और अभाव को अवस्तु मानने वाले कतिपय दूसरे दार्शनिक है। अभाव का व्यवहार जहाँ होता हो वहां जिसका अभाव कहते है, वह प्रतियोगी कहलाता है जहाँ कहते हो, वह अनुयोगी कहलाता है। जैसे 'भूतल घटाभाव' वाला इस प्रयोग में भूतल अनुयोगी अर्थात् विशेष्य, घट प्रतियोगी विशेषण है। प्रतियोगी विशेषण और अनुयोगी विशेष्य बनकर रहता है। यह अभाव का स्वरूप है। इसको हम तीन कोटियों में विभक्त कर सकते है-[1] प्रतियोगी अनुयोगी वस्तु है और अभाव भी वस्तु हैः[2] प्रतियोगी अनुयोगी दोनों अवस्तु है और अभाव भी अवस्तु है।[3] अनुयोगी वस्तु और प्रतियोगी अवस्तु है, अभाव भी अवस्तु है। इन तीन अभाव के प्रकारों में सभी दार्शनिक समाहित हो जाते है। प्रथम प्रकार में नैयायिक, द्वितीय में शून्यवादी तृतीय में श्रुति सापेक्षों में ब्रह्मवादी समाहित हो जाते है। अन्य दार्शनिक भी इन्ही तीनों में समाहित हो सकते है। हाँ एक चौथा प्रकार भी है जो अभाव को मानता ही नही है।



यद्यपि निरालम्बवादी तीसरे प्रकार में अन्तर्भूत होता है, तथापि सभी ज्ञानों का उदय वस्तु रूप के अधिष्ठान को लेकर होता है। निरालम्बनवादी 'शून्यस्तु कथम्' प्रश्न करता है। अधिष्ठान के रहने से ही ज्ञान का उदय मानना ठीक नही है, स्वाप्निक ज्ञान में वस्तु कहाँ है? वस्तु के बिना ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यह प्रश्न करने पर उत्तर है कि ज्ञान की अवस्था में वस्तु है ही प्रबोध के अनन्तर जो वाधक ज्ञान होता है वह पदार्थ का ही निषेध करता है ज्ञान का नहीं प्रबुद्ध होकर यह नहीं कहा जाता है कि मुझे किसी पदार्थ का ज्ञान नही हुआ मैने मैने किसी पदार्थ को नही देखा। जिनकों मैनें देखा वे पदार्थ नहीं है यही कहा जाता है। अतएव निरालंबनवादी तीसरी कोटि में अन्तर्भूत होता है। इसीलिये शून्यस्तु कथम् ऐसा निरालम्बनवादी प्रश्न करता है।

सम्प्रदाय की अनादिता में सृष्टि और प्रलय शब्द कारण हो सकते है। दोनों शब्द सापेक्ष है। सृष्टि हो तो किसकी? प्रलय हो तो किसका? प्रलय अवस्था में सृष्टि हो तभी सृष्ट पदार्थ का प्रलय सम्भव है। इस प्रकार जगत् की अनादिता सिद्ध है। जगत की अनादिता से सम्प्रदाय की अनादिता सिद्ध हो जाती है। भट्टपाद इस मार्ग का अनुसरण करते है। पुराणों में वर्णित सृष्टिप्रलय की उपपत्ति खण्डप्रलय और खण्ड सृष्टि मान लेने से हो जाती है। इसी पद्धति को स्वीकार करते हुए भट्टापाद ने ऋत्यधिकरण में मन्वादि स्मृतियों कपिल, कणाद, गौतम आदि के दर्शनों ज्योतिःशास्त्र, षड़अंगों विज्ञानमात्र, क्षणभग्ड. नैरातम्य आदिवादों का उपनिषदार्थवाद मूलक प्रामाण्य सिद्ध किया है। इतना ही नही उन्होंने तो लोक में प्रसिद्ध सर्वविद्या

वृश्चिक विद्याओं का भी प्रामाण्य सिद्ध किया है। अतः किसी सम्प्रदाय का अनादर भट्टपाद को अभीप्सित नहीं है। इतना तो अवश्य मानते है कि वैदिक हो चाहे अवैदिक वेद विरूद्ध होने पर अप्रामाण्य सिद्ध करने में सन्कोच नही करते है। जिसका जो सम्प्रदाय है संकट स्थिति प्राप्त होने पर भी वह उसका परित्याग न करें यह न्याय मार्ग है।

सम्प्रदाय से प्राप्त विद्या में आचरण के लिए जिनका उल्लेख है उनका आचरण भी एक सम्प्रदाय है। गूरू जिस प्रकार उपदेश के द्वारा विद्या देता है, उसी प्रकार गुरू अपने आचरणों के द्वारा शिष्य को आचार की भी शिक्षा देता है। इससे आचार की परम्परा सिद्ध होती है। भट्टापाद ने आचारों का प्रामाण्य सिद्ध करने में उदार दृष्टिकोण को अपनाया है। शाखान्तराधिकरण न्याय रहता है कि अपने सम्प्रदाय से प्राप्त विद्या के अध्ययन करने के बाद ही दूसरे सम्प्रदाय की विद्या का अध्ययन करना चाहिए। इससे सभी सम्प्रदायों की दृढ़ता सिद्ध होती है। आचरण मात्र से सम्प्रदाय का निश्चय नही होना चाहिए, किन्तु विद्या से निश्चय करना चाहिए। यतः विद्या से सम्प्रदाय का संक्रमण नही होता है। आचार से सम्प्रदाय का संक्रमण सम्भव है। अतः अपना संप्रदाय और अपनी आचार-परम्परा में सुदृढ रहेंगे तो भारत का गौरव सुरक्षित रहेगा। समन्वय दृष्टिकोण से सभी सम्प्रदायों को देखना ही समन्वय दर्शन है।

वेदमीमांसानुसंधान केन्द्र
वाराणसी।



द्वावम्भसि निवेष्टव्यों गले बद्धवा दृढ़ां शिलाम्।
धनवन्तमदातरं दरिद्रं चातपस्त्रिनम्।।

धनवान होते हुए भी जो दानी न हो और निर्धन होते हुए भी जो तपस्वी न हो, ऐसे दोनों प्रकार के लोगों को गले में भारी पत्थर बाँधकर जल में डुबा देना चाहिए।

वाराणसी

## आयुर्वेद- एक सर्वांगपूर्ण चिकित्सा-पद्धति

स्व0 यदुनन्दन उपाध्याय

आयुर्वेद क्या है? इस पर अब तक जो पाश्चात्य विचारकों की राय अभिव्यक्त की गयी है उसके आधार पर वर्तमान संस्थाओं में इसे पारम्परिक चिकित्सा (Traditional Medicine) पद्धति कहा गया है। इस पर मेरा विचार है कि आयुर्वेद परम्परिक चिकित्सा - पद्धति नही, वरन एक वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति है। वैज्ञानिक होते हुए यह आयुर्वेद सभी प्रकार के विकसित अथवा अविकसित चिकित्सा पद्धति का जनक भी है। यह सभी प्रकार के चिकित्सा विज्ञान का जनक है। आयुर्वेद शब्द की व्याख्या से ही इसकी वैज्ञानिकता स्पष्ट हो जाती है। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में "आयुर्वेद" शब्द तो नही आया है लेकिन "आयु" शब्द अवश्य आया है। अतः "आयु" एवं वेद शब्द अलग-अलग प्रयुक्त हुए है। लेकिन दोनों शब्दों को मिलाकर जो आयुर्वेद बना उससे आयु क्या है इसका सर्वप्रथम उल्लेख "चरक संहिता" एवं "सुश्रुत संहिता" में आया है। इसका विस्तार के साथ वर्णन चरक ने किया है जिसका सर्व प्रथम उल्लेख चरक से पूर्व के ग्रन्थ "अग्निवेश तन्त्र" में भी मिलता है। अब हम सबसे पहले आयु एवं आयुर्वेद दोनों की परिभाषा पर विचार करते है। आयु की परिभाषा चरक संहिता में दी गयी है।



यहाँ आयु को शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा इन चारों पदार्थों का संयोग बताया गया है। किन्तु जब इनमें से कोई भी पदार्थ अलग हो जाता है, तो आयु की सत्ता समाप्तप्राय हो जाती है। चरक ने स्प्ष्ट रूप से लिखा है कि - "शरीरेन्द्रिय सत्वात्म संयोगी धारि जीवितं नित्यगश्चातुबंधश्च पर्याये आयुः उच्यते"। यहां पर्याय पर विवेचन करने का औचित्य नही है। किन्तु इसके अलावा इन चारों वस्तुओं का विवेचन करते हुए जो आयु के महत्व का विवेचन किया गया है उसमें आयु के चार भेद किये गये है- हित आयु, अहित आयु, सुख आयु एवं दुःख आयु। जब शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा सभी चारों तत्व संगठित, सुखी एव सुख सुविधा एवं वैभव से समृद्ध रहते है तो उसे सुख आयु कहा जाता है। किन्तु यदि इन चारों में से किसी में भी कोई विकार है तो कष्टप्रद हो जाता है और उसे सुखी नही कहा जा सकता। अतः उसे दुख आयु माना जाता है। यदि शरीर, इन्द्रियां, मन एवं आत्मा सुखी है (विकार रहित है) और साथ-साथ मकान, वाहन, खाने पीने एवं अन्य अनेक प्रकार की भौतिक सुख- समद्धि से युक्त तो उसे सुख आयु कहा जाता है। किन्तु यदि सभी सुख-सुविधा एवं समृद्धि है तथा ज्ञान विज्ञान से युक्त है, फिर भी यदि शरीर का अंग कष्ट में है अथवा इन्द्रिय या मन खिन्न है अथवा दुखी रहता है तो उसे दुःख आयु कहते है। इसी प्रकार आयु के सभी

संगठन ठीक है, स्वस्थ है फिर भी यदि लौकिक सुख साधन सुलभ नही है तो दुख आयु हो जाता है। इस प्रकार सुख आयु एवं दुख आयु ये दो प्रकार हुए। अब हित आयु एवं अहित आयु क्या है? इस सम्बन्ध में हित आयु उसे कहते है जिसके अन्तर्गत समाद में रहकर अपने हित के साथ साथ सम्पूर्ण समाज के हित के कार्य करें और समाज के लिए उपयोगी हों। किन्तु जो लोग केवल अपने लिए जीते हैं यथा "यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्" वाली चार्वाक कहावत के अनुसार जीवनयापन करते है और "आप सुखी तो जग सुखी" के अनुसार आचरण करते है तथा देश, समाज, एवं प्राणि - जगत का हित नही वरन अहित होता है। अतः वह अहित आयु है। इस प्रकार "हिताहितं सुखं-दुखं आयु तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यवोक्त आयुर्वेद स उच्चते। अर्थात आयु के लिए उपयोगी एवं अनुपयोगी बातों के आधार पर शास्त्रों में सुख, दुख हित एवं अहित आयु का वर्णन मिलता है। मानम च अर्थात मान का अर्थ है आयु का प्रमाण यथा- अल्पायु, दीर्घायु एवं मध्यासु आदि। आयु क्या है? यह भी विवरण चरक संहिता में मिलता है जिसका उल्लेख ऊपर क्या जा चुका है। इस प्रकार आयु के लिए इन चारो संघटको का प्रकृतिस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है ऐसा प्रमाणित होता है। इसी प्रकार हमारे यहाँ त्रिवर्ग (धर्माऽर्थ काम) या चतुर्वर्ग (धर्म अर्थ, काम एवं



मोक्ष) का उल्लेख मिलता है। हमारे शास्त्रों में मिलता है कि शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् अर्थात शरीर ही धर्म के आचरण का साधन है। शरीर से ही संसार में रहकर सभी के क्रिया-कलाप एवं धार्मिक अनुष्ठानों का काम किया जा सकता है। इसी प्रकार स्वस्थ शरीर से ही आर्थिक उपार्जन द्वारा सभी प्रकार की आर्थिक सुख-सुविधा का उपयोग किया जा सकता है और धन, वैभव, सूख एवं आर्थिक समृद्धि से साथ ही अन्य अनेक कामनाओं की भी सिद्धि करते हुए उसका आन्नद लिया जा सकता है और इन त्रिवर्ग (धर्माऽर्थकाम) के पूर्ण सेवन से ही चौथा "मोक्ष" नामक शाश्वत सुख का लाभ स्वाभाविक रूप से ही मिल जाता है, ऐसी हमारी भारतीय चिन्तन की धारणा है। यह सभी बातें आयु अर्थात स्वस्थ शरीर मन इन्द्रियों एवं आत्मा की निर्विकारता पर निर्भर रहता है। इसी कारण चरक संहिता में आया है- त्रिवर्ग "शून्यं नारंभं भवेत् तच्चाविरोधयन्" अर्थात कोई भी कार्य यदि प्रारम्भ करते है तो इस चातुर्वर्ग से परे नही रहता। क्योंकि "प्रयोजन अनुदिश्य न मंदोअपिप्रवर्तते" अर्थात बिना उद्देश्य के कोई कार्य नही किया जाता। अतः धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों की सिद्धि के लिए ही व्यक्ति हर कार्य करता है। सभी सांसारिक उद्देश्य अर्थात त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) का सम्बन्ध शरीर, इन्द्रिय एवं मन से जुड़ा रहता है ओर चौता अर्थात मोक्ष

का सम्बन्ध आत्मा से जुड़ा रहता है। इस प्रकार सभी पुरूषार्थों का सम्बन्ध आयु (शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा) से जोड़ा गया है। क्योंकि इन चारों पुरूषार्थों की सिद्धि के लिए स्वस्थ आयु और आयु के लिए उपर्युक्त चारों तत्वों (शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा) का स्वस्थ रहना आवश्यकक है जिसे निर्षिकार बनाना आयुर्वेद का कार्य है। इनमें विकार न उत्पन्न हो तथा एक दूसरे में विरोध न हो, इसके लिए आयुर्वेद इनकी अलग-अवग व्याख्या करता है।

यहाँ आयु के चार मूल तत्वों में सर्वप्रथम आयुर्वेद के ग्रन्थों में शरीर की व्याख्या की गयी है, यथा "पंचमहाभूत समुदायात्मकं चेतनाधिष्ठानभूतम्।" अर्थात शरीर ऐसा पदार्थ है जो पंच महाभूत से युक्त है अर्थात पृथ्वी, जल, अग्नि, आयु एवं आकाश से युक्त है एवं चेतनाधिनिष्ठान है अथवा पंच महाभूतों से संयुक्त हुआ चेतना युक्त है। दूसरा तत्व मन है। यहाँ आयुर्वेद मे मन की जो व्याख्या की गयी है उसके अन्तर्गत चरक संहिता में आया है- "तन्मनः तदर्थात्म संपादायत्त चेष्टम्। चेष्टा प्रत्यय भूतं इद्रियाणाम्"। तदर्थ अर्थात मन का विषय चिन्तन, विचार एवं संकल्प - विकल्प आदि है और तदर्थ का भावार्थ विवेक सोचना आदि की उपस्थिति है। इंद्रियाँ उपस्थित हो और उनमें (इन्द्रियों को) जो सचेष्ट बनाए वही मन है।



इन्द्रियों की चेष्टा अर्थात क्रिया आदि जिसके ऊपर निर्भर हो उस मन या चेतन कहते है। इन चारों का वर्णन आयुर्वेद में मिलता है। यहाँ क्रमशः शरीर की सर्वप्रथम पंचभौतिक बताया गया है। पुनः शरीर के छः विभाग (षड़ग-सिर और ग्रीवा, अन्तराधी अर्थात घड़ चार शाखाएँ दो हाथ एवं दो पैर) फिर एक करके देखें तो हाथ के भीतर बाहु, अग्र बाहु, कर एवं अंगुलियाँ आदि है। आगे हम अंतरार्धि (धड़ा) पर विचार करें तो पाते है कि इसके भी दो तीन भेद किये जा सकते है, यथा वक्ष उदर एवं श्रोणी। इनमें भी अभ्यन्तर अवयव, यथा हृदय, फुफ्फुस, वक्ष के अन्तर्गत और यकृत, प्लीहा, अग्नियाशय, आमाशय आन्त्र, पक्वाशय, मलाशय आदि एवं वृक, मूत्राशय, शुक्राशय आदि उदर एवं श्रोणी के भीतर पाये जाते है। इन्हें प्रत्यग कहते है। इसी प्रकार शरीर के इन अंग-प्रत्यागों के भी अनेक भेदोपभेदों का विस्तृत विवरण आयुर्वेद में मिलता है और इन अंग-प्रत्यंगों के निर्मापक रस, रक्त, मांस मेंद अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं का एवं त्वचा, नख, लोम, स्नायु आदि उपधातुओं का भी विवेचन है। वे धातु एवं उपधातु भी अनेक सूक्ष्म पदार्थों के संयोग से निर्मित होते है, जिन्हे शरीरावयवपरमाणु कहते है। यह परमाणु पृथ्वी, जल, तेज,वायु, एवं आकाश के परमाणुओं से निर्मित होते है। इन्ही के तारतम्य के अनुसार पूर्वोक्तर पदार्थों का विचित्र

रूपों में विकास होता है। यद्यपि आयुर्वेद का विकास स्वयं भारतीय दर्शनों में पृथ्वी, जल, तेज को सत्तावान कहा गया है और इन्ही के आनुपातिक भेद से विभिन्न धातुओं एव तत्वों का विवेचन किया गया है। इसी को त्रिवृतकरण कहा गया है। यथा आधुनिक विज्ञान में सामान्य दृष्टि से फिजिक्स एवं केमिस्ट्री का महत्व है, किन्तु सजीव पदार्थों के सम्बन्ध में विवेचन करते समय बायोफिजिक्स एवं वायोकेमिस्ट्री का विशेष महत्व होता है। इसी प्रकार जो हमारा चेतनाधिष्ठित पंच महाभूत है उसमें स्वाभाविक महाभूतों के गुण धर्म और कर्म में विशेषता आ जाती है। प्राचीन दर्शनों में असत्तावान कहकर जिसकी उपेक्षा की गयी है उनकी आयुर्वेद में विशेष महत्ता है। आयुर्वेद में पृथ्वी एवं जल प्रधान- पदार्थों को कफ वर्ग में और अग्नि प्रधान पदार्थों को पित्त वर्ग में तथा वायु एवं आकाश प्रधान पदार्थों को वायु वर्ग में मानकर उनके प्राकृतिक स्वरूप को त्रिधातु एवं विकृत स्वरूप को दोष एवं मल कहा गया है। इनमें दोष को विशेष महत्व देते हुए त्रिदोष सिद्धान्त को आयुर्वेद ने स्वीकार किया है जो कि दार्शनिकों के त्रिवृत्करणा सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। अर्वाचीन विज्ञान में एवाटोमी में शरीर के रचनात्मक स्वरूप का वर्णन किया गया है इसको हम कप वर्ग में मान सकते है। दूसरा फिजियालॉजी में एक क्रियात्मक एवं दूसरी पाकात्मक पद्धति बतायी गयी है। पाक के



अन्तर्गत एक एनावोलिज्य (संघटनात्मक) एवं दूसरा केटाबोलिज्म (विघटनात्मक) क्रियाये होती है। क्रिया के अन्तर्गत शरीर के भीतर ही नही वरन् मन में भी जो स्थल या सूक्ष्म क्रियाये होती है, उनका संग्रह होना है जो वायु से संचालित होता है इससे प्रमाणित होता है कि वस्तुतः समस्त क्रियाओं का नियन्त्रण या सञ्चालन वायु के द्वारा होता है। इस प्रकार यद्यपि पंचमहाभूतों में पित्त का 'अष्टांग हृदय में बहुत अच्छा वर्णन मिलता है पञ्चभूतात्म तत्वेति यत्तैजस गुणोदयात् त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणा अनल संज्ञितम अर्थात यह पंच भौतिक एवं द्रव होते हुए भी द्रव के स्वाभाविक गुण का त्याग करके तेजस गुण की प्रधानता के कारण पाकादि कार्यों का सम्पादन करता है। अतः पित्त को अग्नि कहा जाता है। इस प्रकार शरीर के जो पाचक तत्व है उनके तेरह प्रकार के मूल-भूत तत्व बताये गये है,यथा पाचकाग्नि या जाठराग्नि, सप्त धातु अग्नि एवं पांच भूताग्नि। ये तत्व आहार को शरीर के अनुरूप धातुओं के रूप में काटछांट कर शरीर के लिए ग्राह्य बनाते है। इन्ही के द्वारा आग्रहय पदार्थ मल रूप में बदल जाते है। इनकी शिथिलता के कारण जो आहार द्रव्य न धातु रूप में और न मल रूप में परिणत होता है उसे आम कहते है और वह शरीर में अवांछित रूप में रहकर अनेक रोगों का कारण बन जाता है।

"सर्वा श्रेष्टा वातेन" अर्थात सब कुछ ठीक रहने पर भी यदि चेष्टा नही होती तो क्रिया नही होती और यदि क्रिया नही होती तो सब बेकार है। इसी दृष्टि से वायु को नैयायिकों ने जो यह कहा है कि असत्तावान है, तो यहां सबसे बड़ी सत्ता उसकी ही है। यहाँ जब संयोग एवं विभाग होगा तभी कोई क्रिया होगी। इसीलिए कहा गया है कि पित्तं पंगुः कफः पंगुः पंगवी मलधातवः। वायुना तत्र वर्षन्ति नीयन्ते तत्रा वर्षन्ति मेघवः।

अर्थात वायु जहाँ ले जाता है बादल वही वर्षा करता है।

आयु के संघटकों में दूसरा स्थान मन का है जिसे सत्व भी कहा जाता है, क्योंकि वही उसका स्वाभाविक गुण है, (सत्वं लघु प्रकाशकम्) मन लघु है अर्थात सूक्ष्म है और इन्द्रियों का सचेष्टक है। मन के सत्व गुण को विकृत करने वाले गुण रज एव  तम है। रज विशेष रूप से सक्रिय होता है। किन्तु तम निष्कियता की तरफ ले जाता है। इस प्रकार मन यदि तम के साथ होगा तो निष्किय होगा किन्तु यदि रज के साथ रहेगा तो वह सचेष्ट होकर क्रियाशील रहेगा। शरीर के भीतर यद्यपि कि वह मन के गुण है लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से यदि देखें तो स्वाभाविक एव प्राकृतिक संघटक होते हुए भी इनको दोष नही कहा गया है। जब ये विकार पैदा करने वाले हो जाते है



तो इन्हें दोष कहा जाता है। इसी कारण वायु, पित्त एवं कफ को धातु कहा गया है। (धारणाद धातनः) और मल कहा गया है (मलिनीकरणात् मलः) और दूषणात दोषः अर्थात दोष कहा गया है। इस प्रकार वायु, पित्त एवं कफ शरीर के स्वाभाविक संघटक होते हुए भी जिस समय जैसा कार्य करते है उस समय उसी के अनुसार धातु मल एवं दोष कहे गये है। उसी प्रकार मन का स्वाभाविक रूप उसका सत्व है लेकिन  उससे सम्बन्धित जो रज और तम है उनको मन का दोष कहा गया है। इसलिए शरीर व्याधि एव मनोव्याधि के विवेचन के साथ-साथ इनका भी विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। आयु का तीसरा संघटक इंद्रियाँ है। वस्तुतः इनकी स्वतंत्र सत्ता नही है क्योकि इंद्रियों के अधिष्ठानभूत अवयव शरीर के भाग होते है और उसकी क्रियाये मन द्वारा नियंत्रित होती है। इसलिए वह इंद्रियां उभयाश्रित है। आयु का चौथा संघटक आत्मा है आगे आत्मा के बारे में चरक संहिता में कहा गया है कि "निर्विकारः परत्वात्या सत्वभूतगुणोदर्यः चैतन्ये कारणं नित्यं द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः" अर्थात आत्मा निर्विकार होता है। अतः इसमें कोई दोष नही होता और न तो इसमें कोई परिवर्तन होता है। जो परिवर्तन होता है, वह शरीर एवं मन में होते है, (शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधीनाम् आश्रयों मतः)

आत्मा में क्रिया या विकृति का अनुभव मात्र होता है जो अहंकार के कारण होता है जैसा कि गीता में आया है कि "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वसः। अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते। अतः वह आत्मा निर्विकार है।

आयुर्वेद का विवेचन तीन महत्वपूर्णु विभागों में किया गया है जिन्हें त्रिसूत्र कहा गया है- (1) हेतु (2) लक्षण और (3) औषधि (चिकित्सा)। हेतु रोग होने का कारण दूसरा लक्षण अर्थात उसके क्या लक्षण है? और तीसरा चिकित्सा अर्थात् उपचार करना। इस प्रकार शरीर के अन्दर पित्त, वायु एवं कफ में जो दोष उत्पन्न हो जाता है उस दोषयुक्त परिवर्तन अर्थात रोग को दूर करने के लिए चिकित्सा रूपी उपचार किया द्वारा औषधि करने का विधान किया गया है। औषधि कैसी होती है? इसके बारे में आयुर्वेद में आया है कि "मुक्तिव्यपाश्रय" अर्थात योजना करके यह खाने को दो, यह पीने को दो, यह दवा दो आदि 'युक्ति उपाश्रय' के अन्तर्गत आता है। दूसरी बात है द्रव उपाश्रय यथा- प्राचीन काल में जैसा कि धार्मिक रूप दिया गया है कि शंकर जी की अथवा विष्णु जी की उपासना करने का उपाय बताना। औषधियों के बारे में आयुर्वेद में आया है कि यह दो प्रकार की होती है- प्रथम द्रव्य भूत एवं दूसरी अद्रव्यभूत, द्रव्य भूत का अर्थ द्रव्य या दवा आदि दूसरा



अद्रव्य भूत अर्थात थक जाना आदि जिसके बारे में यह है कि बिना दवा किये सो जाने या आराम कर लेने मात्र से ही रोग का शमन हो जाता है। औषधि की तीसरी विधि सत्वविजय है।

प्रायः मन का तो स्वयं स्वाभाविक गुण है वह सत्व होता है। लेकिन रज और तम उसके साथ में होते है तो उसके लिए "मानसौ पुनरूद्धिष्टी रजश्त तम एव च"। अतः मानस रोगियों के रोग के दूर करने के लिये ये पाँच सिद्धान्त बताये गये है (मनसो ज्ञान-विज्ञानों धैर्यस्मृतिसमाधिभिः) यथा- ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति एवं समाधि ये पाँच सूत्र रूप में मान्य है। इन्हीं के आधार पर यदि विचार किया जाय तो हमारा जो योग शास्त्र है वह इन्ही पाँच सूत्रों के अन्तर्गत आता है। भर्तृहरि के वाक्यपदीय में आया है- "कायवाग्वुद्धिविषयाः ये मलाः पर्यवास्थिताः चिकित्सा लक्षणा- ध्यात्म शास्त्रैः तेषां विनिष्चयः"। अर्थात- चिकित्सा के समय काय (शरीर) पर विचार करना होगा, वाक् (वाणी) पर विचार करना होगा, बुद्धि पर विचार करना होगा। यहाँ काय के लिए चिकित्सा (आयुर्वेद)का प्रयोग किया गया है। यद्यपि कि आयुर्वेद व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसके साथ में वाक् (वाणी) का दोष है। उसके अन्तर्गत शुद्ध उच्चारण से वाणी का दोष दूर कर सकते है। शुद्ध उच्चारण से ही व्यक्ति अपने आचरण को प्रकट कर सकता है। शुद्ध वाक

व्याकरण से नियंत्रित होता है। बुद्धि विषयः अर्थात मन के विकार को दूर करने के लिए अध्यात्म शास्त्र यथा-योग, सांख्य एवं वेदांत आदि ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार बुद्धि विकार को दूर करने सम्बन्ध मार्ग की तीन विधाएँ है।

आयुर्वेद में सभी प्रकार की चिकित्सा पद्धतियो एवं स्त्रोतों का विवेचन किया गया है। उपशय(थराप्यूटिक) में द्रव्य का ही प्रयोग होता है जिसके विवेचन में आयुर्वेद का ग्रन्थ अष्टांग हृदय आया है- "हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्। औषधन्नविहाराणां उपयोगः सुखावहः।। विद्यात उपशंयं व्याधे"। जा हेतु अर्थात् कारण है उस कारण के विपरीत वस्तु का प्रयोग करना और व्याधि विपरीत अर्थात् जो लक्षण उत्पन्न हो गये है उन लक्षणों के हारक वस्तु का उपयोग। व्याधि विपरीत के बाद उभय विपरीत। तीसरा एलोपैथी एलॉस पैथॉस (Against feeling) जो कुछ भी कष्ट हो रहा है उसके विपरीत औषधि या उपचार करना व्याधि विपरीत कहा गया है। पुनः विपरीतार्थाकारी अर्थात देखने में तो समान मालूम पड़ता है लेकिन उसकी क्रिया उसके विपरीत होती है, यथा देखने में मालूम पड़ता है कि कोई जल गया है तो आग से सेंक देने से थोड़ी ही देर में छालापड जाता है लेकिन अग्नि से जलने पर यदि पानी डाल दिया तो थोड़ी देर में ठीक हो



जाता है। इसी प्रकार विपरीत एवं विपरीतार्थकारी औषधि का प्रयोग व्याधि विपरीत कहा गया है। अन्न,बिहार एवं काल (ठंडक में गर्म एवं गर्म को ठंडक) का प्रयोग इसके अन्तर्गत आता है। इस प्रकार 30 प्रकार की औषधि पद्धतियाँ बतायी गयी है। इनमें भी बताया गया है कि जिसको जो अनुकूल हो (पुरूषं पुरूषं वीक्ष्य-चरक) वह औषधि प्रयोग में लायी जानी चाहिए। इस प्रकार की उपचार विधि बताने वाली आयुर्वेद विद्या को यदि कोई कहे कि यह पारम्परिक औषधि है और इसमें कोई वैज्ञानिकता नही है, तो यह बात कहाँ तक सत्य है। इसीलिए चरक ने चरक-संहिता में स्पष्ट रूप से लिखा है- "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्"। अर्थात रोग से सम्बन्धित जो भी मैने लिख दिया है वह अन्यत्र मिल सकता है किन्तु जो इसमें नही लिखा है वह कही भी नही मिल सकता है। केवल पुस्तक या शास्त्र प्रमाण ही नही वरन व्यावहारिक प्रयोग भी होना चाहिए। आयुर्वेद में मौलिक बातों के साथ-साथ अवान्तर बातों का भी ध्यान देना चाहिए। सुश्रुत ने स्पष्ट रूप से कहा है कि चिकित्सक को बहुश्रुत होना चाहिए अर्थात जिसे अनेक विषयों का ज्ञान हो वही उत्तम चिकित्सक है न कि केवल एक ही विषय का। विषयांतर ज्ञान और विषयांतर के अतिरिक्त प्राचीन दर्शनों में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शास्त्र प्रमाण होना चाहिए। स्वयं चरक ने कहा है कि आयुर्वेद युक्ति

प्रमाण है। स्वयं हमारी आयु ही युक्ति है। चार के संयोग से बना हुआ यह युक्त पदार्थ है। इसके उपचार के लिए बहुकारण की आवश्कता पड़ती है। शरीर, (युक्ति) मन, (मनोविज्ञान) औषधि (इयों का प्रयोग) द्रव्यों में रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव ये पाँच विभाग है, आयुर्वेद में इनकी अलग-अलग विवेचना की गयी है। अतः यह आयुर्वेद मात्र पारम्परिक(Traditional) नही, वरन सभी चिकित्सा शास्त्रों का मूल अर्थात जनक कहा जा सकता है, जैसा कि चरक ने लिखा है- "स्वयम् आयुर्वेदः शाश्वतों निर्दिश्यन्तै, अर्थात् आयुर्वेद स्वयं शाश्वत शास्त्र है। यह अनादि और अनन्त है।

वायु, पित्त एवं कफ की विकृति के कारण ही सभी शारीरिक विकार उत्पन्न होते है और इसका उपचार ही आयुर्वेद है। इसीलिए आयुर्वेद के सिद्धान्त विविध बुद्धि शिष्य के उपयोगी है। अर्थात् मन्द बुद्धि, मध्यबुद्धि एवं उत्तम या प्रखर बुद्धि वाले विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। औषधियों के सम्बन्ध में आयुर्वेद का निम्नलिखित सिद्धान्त आज के युग में अत्यन्त महत्व का है। जैसा कि चरक ने कहा है- उदीरणं शमयेत व्याधिः योअन्यम् अन्यम्उदीरयेत्। नासो विशुद्धः शुद्धस्तु शमयन्तं नकोपयेत्।।" अर्थात वही उत्तम चिकित्सा है जिससे जो वर्तमान कष्ट है वह तो दूर हो ही लेकिन



उसके प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरा रोग भी न उत्पन्न हो, वही शुद्ध है। उत्तम कोटि का चिकित्सक सबका विवेचन करके चिकित्सा करता है।

अन्त में सुश्रुत ने आयुर्वेद के बारे में बताया है- "वाक् सौष्ठवे अर्थविज्ञाने प्रागल्भे कर्मनैपुणे। तदम्यासे च सिद्धौ च प्रयतेतध्यनांतगः।।" अतः आयुर्वेद के ज्ञाता के लिए आयुर्वेद के पूरे ग्रन्थ, उसके किसी एक खण्ड एवं अध्याय एवं उसमे वर्णित प्रश्नों एवं उनके समाधान के लिए वाक्यशः वाक्यार्थशः और वाक्यार्थावयवों को उतरोत्तर महत्व का माना गया है। इतना ही नही वरन् उस वाक् सौष्ठव (पूर्ण स्पष्ट वाणी) निष्णात् व्यावहारिक एव पुनः अभ्यास करना चाहिए।

काय, वाक और बुद्धि नियमों के सम्यक आचरण होने पर चिकित्सा की पूर्णता होती है। चरक संहिता में लिखा है-

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्षकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः।।
मतिर्वचः कर्मसुखानुवन्ध सत्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तर्तपरता च योगे यस्यास्ति तं नानुपयान्ति रोगाः।।

पूर्वोक्त से यह सिद्ध होता है कि आयु के चारों मुख्य संगठन अर्थात(शरीर, इन्द्रिय,मन, आत्मा) जब प्रकृतिस्थ होंगे तभी प्राणी पूर्ण स्वस्थ होगा। सदाचार, धर्माचरण, ज्ञान के समन्वित होने पर ही पूर्ण स्वस्थता सम्भव है। इस प्रकार पूर्ण स्वास्थ्य होने पर ही पूर्वोक्त आयु के लक्ष्य सुखायुक्त, दीर्घायुत्व और हितायुत्व की प्राप्ति हो सकती है।

भूतपूर्ण प्राचार्य, आयुर्वेद महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



# प्रमाण का नया सिद्धान्त - प्रमाणाद्वैत

स्व0 प्रो. संगम लाल पाण्डेय

1. शब्द की प्रमाण मूलकता- सभी प्रमाण शब्दोपजीवी हैं किन्तु प्रमाणों को अभी तक ऐसा नहीं समझा गया हैं। अतः प्रमाणों के प्राचीन सिद्धान्तों को बदलना अनिवार्य है और भाषा की पृष्ठभूमि में उनका विवेचन करना आधुनिक युग की आवश्यकता है। भर्तृहरि ने समस्त ज्ञान को शब्द से अविनाभूत सिद्ध करके जो दार्शनिक क्रान्ति की थी उसके अनुरूप भारतीय ज्ञानमीमांसा की संरचना नही की गयी है। वे कहते हैं

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते।।

अर्थात् कोई ऐसा प्रमाण नहीं जो शब्दानुगम के बिना हो। समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध है सब कुछ शब्द के द्वारा ही भासित होता है। यहाँ भर्तृहरि के कथन में शब्द के स्थान पर वाक्य और प्रत्यय के स्थान पर परामर्श या प्रतिज्ञप्ति रख देने से उनका कथन समकालीन ज्ञानमीमांसा का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकथन हो जाता है। इसके आलोक में प्रमाणों की चर्चा करना युगानुरूप प्रमाणमीमांसा है।

भारतीय दर्शन में शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है और प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनपलब्धि को शब्द से स्वतन्त्र प्रमाण सिद्ध किया जाता है किन्तु वास्तव में शब्द-प्रयोग के बिना कोई प्रमाण सम्भव नही है अतः किसी प्रमाण को शब्द से स्वतन्त्र कहना सत्य नही हैं।

शब्द कोई प्रमाण नहीं है। वह वाक्य का सूचक है और वाक्य भाषा की इकाई है। अतः शब्द का तात्पर्य यह है कि भाषा सभी प्रमाणों की जननी है जब वाक्य को भाषा की इकाई नहीं माना जाता था, और शब्द को भाषा की इकाई माना जाता था, तब शब्द को समझने के लिए आकांक्षा, आसक्ति और योग्यता की आपेक्षायें थीं।

उदाहरण के लिए-

(1) यह पेड़ .....। यह वाक्य अधूरा है अतः जब 'यह पेड़' कहा जाता है तो श्रोता की आकांक्षा होती हैं कि आगे क्या कहा जायेगा। जब वाक्य पूरा कर दिया जाता है और कह दिया जाता है, यह पेड़ हरा है तो श्रोता की आकांक्षा पूरी हो जाती है। इस प्रकार प्राचीन काल में आकांक्षा को



शाब्दबोध का एक हेतु माना गया किन्तु जब वाक्य को भाषा की इकाई मान लिया गया तो आकांक्षा व्यर्थ हो गयी।

(2) इसी प्रकार आसक्ति को शब्द बोध का दूसरा हेतु माना गया था। इसका तात्पर्य है कि अगर कोई प्रातःकाल 'यह' कहे दोपहर को 'पेड़' कहे और शाम को 'हरा है' कहे तो इस वाक्य के पदों में आसक्ति या एक साथ होना नहीं है और आसक्ति न होने से शाब्दबोध नहीं होता है किन्तु जब वाक्य भाषा की इकाई है तो पदों की आसक्ति व्यर्थ हो गयी। वाक्य के पदों को अलग-अलग सम में कहवा प्रलाप या बकवास मात्र हैं।

(3) योग्यता को शाब्दबोध का तीसरा हेतु माना गया था और कहा गय था कि वह आग से पेड़ सींच रहा है, इस वाक्य में सींचना और आग आपस में समन्व योग्य नहीं है। इस कारण इस वाक्य में योग्यता नही है। अब वास्तव में यह कहना चाहिये कि वह आग से पेड़ सींच रहा है यह निरर्थक बकवास है और कोई वाक्य नहीं है। इस कारण योग्यता को भी शाब्द बोध का हेतु नही कहा जा सकता है।

वास्तव में आकांक्षा, आसक्ति और योग्यता उस काल में शाब्दबोध के हेतु माने जाते थे, जब शब्द को भाषा की इकाई माना जाता था और शब्द

समूह को वाक्य कहा जाता था। आधुनिक युग में वाक्य को भाषा की इकाई मान लेने से शाब्दबोध में ये तीन हेतु अप्रासांगिक हो गये हैं। मनुष्य जो बोलता है वह वाक्य है कभी- कभी जब वह एक शब्द बोलता है तो उस शब्द का बी अर्थ वाक्य होता है। जैसे- यदि कोई प्यासा कहे- 'पानी' तो इसका अर्थ है कि मुझे पानी दो और पानी शब्द इस सम्पूर्ण वाक्य का सूचक है।

'शब्द' का प्रयोग कभी-कभी 'वाक्य' के अर्थ में भी किया जाता है। जैसे जब पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य का लक्षण दिया, रमणीयार्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है तो यहाँ 'शब्द' से उनका तात्पर्य 'वाक्य' है। इसी प्रकार शाब्दबोध का भी अर्थ वाक्य-बोध है। अतः वाक्य के अर्थ में 'शब्द' का प्रयोग करना प्रचलन में है। हम यहाँ वाक्य के अर्थ में ही शब्द का प्रयोग करेंगे।

वाक्य में ही प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों की अभिव्यक्ति की जाती है। अतः वाक्य सभी प्रमाणों का कलेवर है जो ज्ञान वाक्यगत नहीं है उसके बारे में कुछ कहना समभव नही है। भर्तृहरि ने कहा है कि ऋषियों मुनियों को जो दुर्लभ ज्ञान मिलता है वह भी वाक्यगत है जो अत्यन्त असत् विषय है- उसका भी कुछ ज्ञान शब्द या वाक्य कराता है। इस प्रकार जिस ज्ञान को प्रातिभ कहा जाता है या जिसे वेद या श्रुति कहा जाता है वह भी वाड्मय है



वाक्य समस्त ज्ञान की मात्रिक है। वही समस्त ज्ञान को उत्पन्न करती है, वहीं समस्त ज्ञान का प्रवर्तन तथा सत्यापन करती है और अन्त में वही समस्त ज्ञान को सूत्रबद्ध करती है।

जो लोग शब्द को प्रमाण मानते हैं वे शब्द की निम्नलिखित परिभाषा देते हैं-

(1) तत्व चिन्तामणिकार गंगेशोपाध्याय कहते हैं कि प्रयोग-हेतु भूतार्थ-तत्व ज्ञान जन्यः शब्दः- अर्थात् प्रयोग हेतुक भूतार्थ के ज्ञान से उत्पन्न शब्द प्रमाण है।

(2) न्याय सूत्रकार गौतम ने लिखा कि आप्तोपदेशः शब्दः अर्थात् किसी मान्य व्यक्ति का कथन शब्द प्रमाण है।

इन दोनों परिभाषाओं के आधार पर ठीक ही वैशेषिक दार्शनिक मानते है कि शब्द प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत है क्योंकि वह वास्तव में किसी अनुमान का निष्कर्ष होता है। वास्तव में जब शब्द को प्रमाण माना जाता है तो शब्दों की अभिव्यक्ति में जो ज्ञात ज्ञापकता रहती है उसी को शब्द प्रमाण कहा जाता है किन्तु वह शब्द में अभिव्यक्त ज्ञान है जो प्रत्यक्ष और अनुमान से प्राप्त किया जाता है।

(2) <u>प्रत्यक्ष और भाषा-</u> प्रत्यक्ष को कुछ लोग भाषा, से स्वतन्त्र मानते हैं और कहते हैं कि विषयों का निर्विकल्प प्रत्यक्ष इन्द्रियों के माध्यम से होता है। इस प्रत्यक्ष को संवेदना कहा जाता है किन्तु यदि यह भाषा के द्वारा व्यक्त किया जाता है तो यह सविकल्पक प्रत्यक्ष हो जाता है और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नही रह जाता है निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मात्र सम्भावना है इस कारण विद्वानगण उसे शुद्ध मिथक कहते है।

गौतम ने प्रत्यक्ष की निम्न परिभाषा दी है-

इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञांनम् अव्यपदेश्यम् अव्याभिचारिव्यवसायत्मकं प्रत्यक्षम् अर्थात इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है और वह शब्दातीत अव्यभचारि और व्यवसायात्मक है। इस लक्षण में प्रत्यक्ष को शब्दातीत कहा गया है जो ठीक नही है क्योंकि शब्दातीत होने पर प्रत्यक्ष को अव्यभचारि और व्यवसायात्मक कहना संभव नही है। पुनश्च, प्रत्यक्ष को इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष स उत्पन्न कहना कार्य-कारण भाव से सापेक्ष है। इन सब विशेषणों के कारण प्रत्यक्ष में शब्द-प्रयोग और अनुमान-प्रयोग निहित है वह सविकल्पक प्रत्यक्ष के रूप में ही सम्भव है।



पुनश्च, दिड्नाग ने प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुये कहा प्रत्यक्षंकल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् अर्थात प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो कल्पना रहित है और नाम, जाति, गुण, और क्रया से असंयुक्त है। फिर दिड्नाग स्वयं कहते है-

- विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पना शब्द योनयः

कार्य-कारणता तेषां नार्थ शब्दाः स्पृश्न्त्यपि

अर्थात विकल्प का कारण शब्द है और शब्द का कारण विकल्प है इस प्रकार शब्द और विकल्प (कल्पना) में आपस में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। अतः शब्द किसी अर्थ को छू नहीं सकते हैं। वे केवल विकल्प को सूचित करते है।

(3) ज्ञान के त्रिविधकरण का सिद्धान्त- भाषा में जो ज्ञान अभिव्यक्त होता है वहा शब्दमय और विकल्पमय है। यदि इसके अतिरिक्त वह और कुछ नही है तो उसे प्रत्यक्ष की संज्ञा दी जाती है किन्तु शब्द और विकल्प का विश्लेषण करने प्र ज्ञात होता है कि वह ज्ञान मात्र प्रत्यक्ष नही है, क्योंकि वह त्रिविध है। उसमें अपरोक्ष अनुभव या साक्षात इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रातिभ ज्ञान की त्रिपुटी रहती है। उदाहरण के लिए गुलाब लाल है। इस वाक्य को लीजिये। ऊपर से देखने पर यह प्रत्यक्ष लगता है किन्तु गुलाब एक

फूल है जो-अन्य फूलों से भिन्न है लाल एक रंग है जो अन्य रंगों से भिन्न है, गुलाब का लाल रंग भी टमाटर के लाल रंग, गूलर लाल रंग और गुड़हल के लाल रंग से भी भिन्न है। फिर 'गुलाब' और 'लाल' है। इन उद्देश्य और विधेय में द्रव्य-गुण, कारण-कार्य, भेदा-भेद, विशेष्य-विशेषण आदि के सम्बन्ध निहित है ये सारे सम्बन्ध तब तक उत्पन्न नही हो सकते जब तक बुद्धि के अनुमान व्यापार द्वारा इन सबको एक वाक्य में निविष्ट न किया जाय।

अन्त में गुलाब लाल है इस वाक्य की जो अखण्ड एकता है उसका भी बोध तब तक नही हो सकता है जब तक प्रातिभ ज्ञान द्वारा आत्म ज्ञानकी एकता से इस वाक्य को समाहित न किया जाय। जब नैयायिकगण कहते है कि घट के प्रत्यक्ष में चेतना निमित्त कारण है और घट समवायि कारण है तो वे वास्तव में यह स्वीकार करते है कि घट के प्रत्यक्ष में अपरोक्ष अनुभव (जो इन्द्रियजन्य है) अनुमान (जो कार्य-कारण भान को आरोपित करता है) और प्रातिभ ज्ञान (जो चेतना के अस्तित्व को घट प्रत्यक्ष में कारण सामाग्री मानता है) शामिल है। विश्लेषण करने पर घट के प्रत्यक्ष में ही नही किन्तु समस्त ज्ञान में ये तीन तत्व विद्यमान रहते है। प्रायः इनमें से कोई तत्व अन्य तत्वो से पृथक नही रहता परन्तु जब किसी ज्ञान में इनमे से किसी एक की प्रधानता रहती है तब उसके आधार पर उस ज्ञान को अपरोक्ष



अनुभव, अनुमान या प्रातिभ ज्ञान कह दिया जाता है जैसे-यह घट है, यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष अपरोक्ष अनुभव है क्योंकि यहाँ प्रधानता अपरोक्ष अनुभव को उजागर करना है।

पहाड़ में आग है क्योंकि वहाँ धुआँ है, यह अनुमान है क्योंकी यहाँ पर यह दिखाना प्रधान विषय है कि धुयें से आग का ज्ञान होता है। अन्त में मै हूँ, 2+2 = 4 ये ज्ञान प्रातिभ है क्योंकि यहाँ यह दिखाने का तात्पर्य है कि ये ज्ञान स्वयंसिद्ध हैं।

ज्ञान के त्रिविधकरण का तात्पर्य यह है कि वह सदैव त्रिवृतकृत रहता है, ज्ञान सरल या एकल नही होता। वह कठिन और व्यामिश्र होता है। इसलिए तुलसीदास जी कहते है-

कहत कठिन समुझत कठिन साधक कठिन विवेक।
होत गुणाक्षर न्यायजिनि पुनिप्रत्युह अनेक।।

ज्ञान की व्यामिश्रता, सत्यापनीयता तथा असत्यता से उसकी भिन्नता ऐसे विषय हैं जिनका स्पष्टीकरण करने के लिए गहन विश्लेषण की आवश्यकता है। जब तक संशय का उदय नही होता तब तक ज्ञान की कोई समस्या खड़ी नही होती किन्तु संशय होने पर ज्ञान की सभी समस्यायें

उठखड़ी होती है तब उन समस्योओं का समाधान विश्लेषण द्वारा ही सम्भव होता है। विश्लेषण में इन्द्रिय प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान अनुमान और प्रातिभज्ञान या अंर्तदृष्टि उपयोगी होती है। किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रातिभज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण है। इन्हें हम प्रमाण के अंग के रूप में स्वीकरा कर सकते हैं किन्तु इनकी स्वतन्त्रता को सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि ये तीनों प्रमाण परस्पर घुले-मिले रहते हैं यहाँ हम जो प्रतिपादित करना चाहते है वह मुख्य प्रमेय यह है कि ये तीनों प्रमाण परस्पर मिलकर कार्य करते है और वास्तव में इनका मिला-जुला रूप ही एकमात्र प्रमाण है। अन्य प्रमाण जिन्हें दार्शनिक गण मानते है वे इसी प्रमाण के अन्तर्गत आते है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि बौद्ध दार्शनिक और वैशेषिक दार्शनिक केवल प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को ही मानते है। पाश्चात्य दर्शन में बुद्धिवादी और अनुभववादी क्रमशः अनुमानवादी और प्रत्यक्षवादी है। जिनका खण्डन करके काण्ट ने प्रतिपादित किया कि वास्तव में प्रत्यक्ष और बुद्धि दोनों मिलकर कार्य करते है और ज्ञान या प्रमाण विविध नहीं किन्तु एक ही है।



हमने ऊपर सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष सदैव सविकल्पक होता है और जो सविकल्पक होता है वह अनुमानिक होता है इस प्रकार हमारे द्वारा भी केवल एक प्रमाण की सिद्ध की गयी है। आधुनिक विज्ञानदर्शन में प्राक्कल्पनात्मक निगमन को ज्ञान-विधि माना गया है। इसी को हम विकल्प मूलक अनुमान-विधि कहते है। अतः जिस चिवृत्त प्रमाण की मान्यता को यहाँ अग्रसर किया जा रहा है वह काण्ट दर्शन और विज्ञान दर्शन से समर्थन योग्य है।

(4) अनुमान-सिद्धि - अनुमान समस्त ज्ञान के आकार को स्पष्ट करता है प्रत्यक्ष से जो प्रदत्त उपलब्ध होते है उनको जब एक आकार में प्रस्तुत किया जाता है तभी ज्ञान उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए गुलाब लाल है, इस ज्ञान को लीजिये, यहाँ हमें दो प्रदत्त मिलते है- (1) यह गुलाब है, (2) यह लाल है।

जब इन दोनों प्रद्त्तो को हम संयुक्त कर देते हैं तब गुलाब लाल है यह ज्ञान होता है, यहाँ जो संयोजन है वह अनुमान का एक प्रकार है। हम उसे क + ख ..... के रूप में रख सकते है। यहाँ + के पूर्व और पश्चात् जो वर्ण उनके स्थान पर कोई भी विषय रखे जा सकते है जो अलग- अलग

अनुभव में आते हैं। इसी प्रकार निम्न उदाहरण को लीजिये- (1) यदि क ख है तो य र है। (2) क ख है अतः य र है।

यह पूर्ववत् अनुमान या हेतुहेतुमत् अनुमान का आकार है इस आकार को हम निम्न रूप से व्यवहार में ला सकते हैं। यदि वर्षा होती है तो भूमि गीली हो जाती है, वर्षा हुई है अतः भूमि गीली है।

सामान्यतः अनुमान के अनेक आकार हैं और उन सब में कोई न कोई निगमन का सम्बन्ध रहता है वैसे उक्त पूर्ववत् अनुमान को या उसके आकार कों अनुमान मात्र का प्रारूप माना जा सकता है इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक साधारण वाक्य हेतुहेतुमत् वाक्य में बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए सभी मनुष्य नश्वर है। इस साधारण वाक्य को निम्नलिखित हेतुहेतुमत वाक्य ही मूल है और उस का सूक्ष्म विकास करके साधारण वाक्य बना लिया जाता है मूलतः यदि तो सम्बन्ध और यदि से आरम्भ होने वाले कथन का प्रतिपादन सभी अनुमान का मूल है। यदि से आरम्भ होने के कारण अनुमान पर शंका की जाती है और कहा जाता है कि अनुमान वास्तव में निश्चित ज्ञान नही दे सकता इस आपत्ति को श्री हर्ष ने निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है-



व्याघातो यदि शंकास्ति, न चेच्छंका ततस्तराम् ।

व्याधाता बधिराशंका तर्क शंकावधि कुतः ।।

अर्थात यदि व्याघात उत्पन्न हो जाता है तो शंका अवश्य रहेगी क्योंकि किसी व्याघात का उठना शंका के बिना नही हो सकता है। फिर यदि व्याघात नही है तो शंका सुतरां रहेगी ही क्योंकि तब शंका का कोई प्रतिबन्धक नही होगा। अतः शंका की अवधि व्याधात पर्यन्त है यह कैसे कहा जा सकता है? कैसे कहा जा सकता है? तात्पर्य यह है कि यदि व्याघात रहेगा तो शंका अवश्य होगी और व्याघात शंका का प्रतिबन्धक नही हो सकता। तर्क स्वयं अप्रतिष्ठित है अतः वह शंका का समूल नाश नहीं कर सकता।

श्री हर्ष की इस आपत्ति का उत्तर उदयन ने दे दिया है और उन्होनें अनुमान की प्रमाणिकता को सिद्ध किया। वे कहते है-

शंका चेदनुमास्त्येव, न चेच्छंका ततस्तराम।

व्याघाता वधिरा शंका तर्क शंकाबधिर्मतः।।

अर्थात यदि अनुमान की प्रमाणिकता पर शंका की जाती है तो अनुमान अवश्य वैध है और अनुमान को तब प्रमाण अवश्य मानना पड़ेगा। कारण शंका अनुमान रूप है। पुनः यदि शंका नही है तो अनुमान सुतरां सिद्ध ही है, क्योंकि वह तब शंका रहित है। शंकाओं की परम्परा तभी तक चल सकती है

जब तक अन्तिम शंका स्वबाधित न हो जाय। फिर तर्क क द्वारा ही सभी शंकाओं का निराकरण समभव है। अतः तर्क प्रतिष्ठित है और वह हमें निश्चयात्मक ज्ञान तक ले जा सकता है।

इस प्रकार अनुमान प्रमाण है । यह सिद्ध हो जाता है किन्तु अनुमान का कोई एक प्रकार नहीं है। आधुनिक तर्कशास्त्र में अनुमान के अनेक नियमों की खोज की गयी है और यह निश्चित किया गया है कि यद्यपि सिद्धान्तः समस्त अनुमान आपादन सम्बन्ध पर निर्भर है तथापि उसके अनेक प्रकार है। इसी प्रकार भारतीय तर्कशास्त्र में पूर्ववत शेषवत, सामान्यतोदृष्ट, अन्वय व्यतिरेकी, केवल-अन्वयी, केवल व्यतिरेकी आदि अनेक प्रकार के अनुमान बताये गये है। अनेक अनुमान प्रकरा उन प्रचलित न्यायों में भी मिलते है जो विभिन्न दर्शनों में प्रचलित है। जैसे कैमुतिक न्याय अरून्धती, न्याय, घुणाक्षर न्याय आदि। इन सभी अनुमान प्रकारों की चर्चा करना यहा प्रासांगिक नही है क्योंकि उनके लिए तर्कशास्त्र की पुनः रचना करना अपेक्षित होगा जो प्रस्तुत लेख के विषय के बाहर है। यहा इतना कहना पर्याप्त है कि अनुमान ज्ञान का प्राण है और वही ज्ञान की स्पष्यता और बुद्धि का कारक है। सामान्यतः वह समस्त शंकाओं को दूर करके ज्ञान



को सुनिश्चित कर देता है किन्तु कभी-कभी अनुमान से निश्चय की प्राप्त नही होती है तब वहाँ प्रातिभ ज्ञान सयाहक होता है।

(5) प्रातिभ ज्ञान-

प्रातिभ ज्ञान को प्रो. एच. जोखिम ने बौद्धिक कहा है उनके मत से बौद्धिक प्रातिभ ज्ञान बौद्धिक ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसी प्रकार उपनिषदों में कहा गया है कि तत्व का साक्षात्कार सूक्ष्मदर्शी विद्वानों की सूक्ष्म बुद्धि के अग्रिम भाग से होता है। इसका तात्पय् है कि प्रातिभ ज्ञान अन्तरात्मा की आवाज, अन्तर्नाद, अन्तःकरण का दर्शन, श्रद्धाजन्य ज्ञान, भक्ति आदि नहीं है जब कोई ज्ञानी व्यक्ति विधिवत् किसी समस्या का समाधान प्राप्त करने के लिए निरन्तर सावधानी से प्रयास करता है और फिर भी उसे समाधान नही मिलता तो उसकी बुद्धि एक ऐसे तत्व का साक्षात्कार कर लेती है जिससे उसको समाधान मिल जाता है। उपनिषद के ऋषियों को इसी मार्ग द्वारा तत्व साक्षात्कार हुआ था। वे मन्त्र के द्रष्टा हैं। ऋषि वही होता है जो मन्त्र का साक्षात्कार करता है मन्त्र के वाक्य है जो तत्व की सूचना देते हैं वे ही ज्ञान की इकाई है उनको ही मूल अर्थ में वेद कहा जाता है। इस प्रकार वेद प्रतिभज्ञान के भण्डार है उसको शब्द प्रमाण के अन्तर्गत

इसलिए रखा जाता है कि हम जैसे साधारण मनुष्यों के लिए वे ऋषियों के ज्ञान के वाहक हैं यदि वे शब्द में अभिव्यक्त न होते तो हम ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान को जान न पाते, हमारे लिए जो शब्द या प्रमाण वाक्य अथवा मन्त्र है वह ऋषियों के लिए प्रातिभ ज्ञान है। इस प्रकार वेद हमें जो तत्व ज्ञान देता है वह प्रत्यक्ष और अनुमान से नही मिलता है जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान असफल हो जाते है वहाँ वेद हमारी सहायता करता है। इसिलिए कुमारिल भट्ट कहते है-

प्रय्यक्षेणानुमित्या च यस्तूपायोनविद्यते।
एतद् विदन्ति वेदेन, तस्माद् वेदस्य वेदता।।

जो तत्व वेद में वर्णित है उसको न जानने पर वेद भाषा का जानना बेकार है। अतः कहा गया है- यस्तन्न वेद किम् ऋचा करिष्यति अतः प्रातिभ ज्ञान को उसकी भाषा से पृथक करना चाहिये। पुनश्च, ऋषियों ने यह मत व्यक्त किया है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता है। कोटभ्रमरन्याय से यह अनुभव गुरू शिष्य परम्परा द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है। देकार्त ने इसी विधि से ऐसा प्रतिभ ज्ञान प्राप्त किया था कि "मै सोचता हूँ इसलिए मै हूँ"।



किन्तु प्रातिभ ज्ञान का मुख्य कार्य स्वयंसिद्ध ज्ञान को प्रदान करना है न कि किसी तत्व का ज्ञान कराना। तत्व का ज्ञान अन्यथा भी सम्भव है किन्तु स्वयं-सिद्धता का ज्ञान अन्यथा सम्भव नही है। अतः यदि हम किसी स्वयं सिद्ध ज्ञान को किसी तर्कविधि से अनुमान द्वारा सिद्ध कर देते है तो वह प्रातिभ ज्ञान नहीं रह जाता है। उदाहरण के लिए देकार्त ने माना था कि 2+2=4 है। यह प्रातिभ ज्ञान है, किन्तु पियानो ने अंकगणित की नवीन स्वयंसिद्धियों को मान करके अनुमान द्वारा सिद्ध किया कि 2+2=4 तर्कतः हो जाते है।

अतः अब पियानों की दृष्टि से यह प्रातिभ ज्ञान नही रह गया किन्तु पियानो ने जिन स्वयंसिद्धियों को माना है उनका ज्ञान प्रतिभ ज्ञान से ही सुलभ होता है। प्रायः परिभाषा के रूप में प्रातिभ ज्ञान की उपयोगिता सर्वत्र स्वीकार की जाती है। यहाँ हम कोई विषय सिद्ध कर रहे है और हमें सभी उपलब्ध अनुमान के नियम सहायता नही दे रहे है, वहाँ हम एक परिभाषा बनाकर अपनी उपपत्ति को आगे बढ़ाते है युक्लीड की ज्यामिति में इस प्रकार की बहुत सी परिभाषायें दी गयी है। पाणिनि ने अपने व्याकरण में भी इस विधि से कुछ नियमों का आगम (प्रातिभ ज्ञान से सुलभ) कर लिया है।

इस प्रकार उपयोगी परिभाषाओं के निर्माण से प्रातिभ ज्ञान की भूमिका को शास्त्रकारों ने भली भांति स्वीकरा है।

ज्ञान के प्रमाणीकरण से सम्बन्धित जो चक्रक दोष, अनवस्था दोष आदि प्रकट होते हैं उनको दूर करने के लिए भी प्रातिभ ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी परिस्थिति में हम किसी ज्ञान के प्रमाणीकरण को उस ज्ञान के प्रमाणीकरण से तर्कतः जोड़ते है जो स्वयंसिद्ध रहता है और जिसकी स्वयंसिद्धता का बोध प्रातिभ ज्ञान द्वारा होता है। इस प्रकार यदि हम अत्यन्त साधारण रूप से कहें तो कह सकते है कि प्रत्यक्ष हमें कुछ प्रदत्त देता है, अनुमान उसको आकार प्रदान करता है और उसकी सत्यता का अनुसन्धान करता है तथा प्रातिभ ज्ञान सत्यता के इस अनुसंधान को निश्चय प्रदान करता है। इस प्रकार ज्ञान के त्रिवृतकरण में ज्ञान की तीन समस्याओं का समाधान मिल जाता है।

इस त्रिवृतकरण में सबसे अधिक महत्व अनुमान के नियमों का है वे इतने अधिक है और समस्त ज्ञान को इतना अधिक सुदृढ़ और सुव्यवस्थित करते है कि प्रत्यक्ष और प्रातिभ ज्ञान से उपलब्ध ज्ञान भी अन्ततोगत्वा अनुमानगम्य या अनुमान सिद्ध कर दिया जाता है। अतः प्रत्यक्ष और प्रातिभ



और प्रातिभ ज्ञान की प्रायः आरम्भिक मानी जाती है। अनुमान के आलोक में प्रत्यक्ष और प्रातिभ ज्ञान अपनी स्पष्टता के लिए अनुमानगम्य बन जाते है। इसलिए भारतीय दर्शन में कहा गया है कि- (1) तर्क रसिक लोग प्रत्यक्ष के विषय को भी अनुमान से सिद्ध से सिद्ध करते है और (2) ब्रहम भी तर्क से जाना जा सकता है। ये दोनों स्थितियाँ अनुमान ज्ञान की परिपक्वता और सर्वव्यापकता को सिद्ध करते है जो कुछ व्यक्त है अथवा अभिव्यक्त है वह अनुमानगम्य है उसके परे अव्यक्त है अभिषा अनिवर्चनीय है वह अनुमान गम्मता के दायरे से परे है किन्तु उसका संकेत या उसकी सम्भावना का विचार किसी न किसी प्रकार से अनुमान द्वारा ही संभव है। अतः जगत को या परमतत्व को तर्कसंगत तथा बुद्धिगम्य कहा जाता है।

(6) उपमान की प्रमाणता- न्याय सूत्रकार गौतम ने उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है और उन्होंने उसका निम्न लक्षण किया है।

"प्रसिद्धसाध्यम्र्यात्साध्यसाधन मुपमानम्" अर्थाक प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से जब कोई साध्य सिद्ध किया जाता है तो इस प्रकार के साधन को उपमान कहते है। उदाहरण के लिए गाय एक प्रसिद्ध पदार्थ है। किसी वनवासी ने कहा कि गवय गाय के समान होता है। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति गवय

नामक पशु को देखता है जब उसे वनवासी द्वारा बताया गया गवय शब्द स्मरण होता है और वह उस पशु को गो सदृश देखकर गवय कह देता है। इस प्रकार यह पशु गवय है क्योंकि यह गो सदृश है ऐसा उपमान होता है।

इस ज्ञान को सभी प्रमाणों से भिन्न किया जाता है क्योंकि यहाँ न तो प्रत्यक्ष है न शब्द प्रमाण और न अनुमान। यद्यप गवय का प्रत्यक्ष होता है तथापि गो सादृश्य का प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि गवय के प्रत्यक्ष के समय गाय अनुलब्ध है यहाँ अनुमान भी नही होता है। क्योंकि सादृश्य का समानाधिकरण्य नहीं है। दूसरे शब्दों में जहाँ गो सादृश्य है वहाँ गवय है ऐसी व्याप्ति बनाने के लिए कोई सपक्ष नही है। अतः व्याप्ति सम्भव न होने के कारण यहाँ अनुमान का प्रयोग नही हों सकता। पुनश्च, यहाँ शब्द प्रमाण भी सहायक नही है क्योंकि गवय पद से गवय पशु का अर्थ निकलना यहाँ सीधे नही अपितु गोसादृश्य के माध्यम से। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द के अतिरिक्त उपमान को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता है।

किन्तु यहाँ हम कहेंगे कि अनुमान करने के लिए सदैव व्याप्ति की आवश्यकता नही है उदाहरण के लिए जब हम यह कहते है कि 9 , 7 से अधिक है और 7 , 5 से अधिक है। अतः 9 , 5 से अधिक है तो यहां



व्याप्ति से भिन्न अनुमान करते है कि वाराणसी प्रयाग से पूर्व है क्योंकि प्रयाग वाराणसी के पश्चिम है। यहाँ दिशा बोध के आधार पर अनुमान हो जाता है अतः अनुमान के लिए व्याप्ति अनिवार्य नही है।

वास्तव में उपमान को आसानी स अनुमान के अन्दर रखा जा सकता है उपमान के उपर्युक्त उदाहरण को हम निम्न प्रकार से पूर्ववत् अनुमान में रख सकत है- (1) यह यह पशु गो सदृश है तो यह गवय है। (2) यह पशु गो सदृश है, अतः यह गवय है।

किन्तु यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि इस पूर्ववत् अनुमान में पहला आधार वाक्य प्रमाण वाक्य नही है। कोई और पशु भी जो गवय नही है गो सदृश हो सकता है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि यह पशु गो सदृश है इसलिए यह गवय है। अतः पूर्ववत अनुमान को छोड़ दिया जाय तो भी उपमान को निम्नलिखित व्यतिरेकी अनुमान में रखा जा सकता है- (1) यदि यह गवय न होता तो यह गो सदृश न होता, (2) यह गो सदृश है अतः यह गवय है- यह शुद्ध व्यतिरेकी अनुमान है जिसे आधुनिक तर्कशास्त्र मोड़स टोलेक्स (M.T.) कहा जाता है। सभी उपमानों को व्यतिरेकी अनुमान में

रखना सर्वथा वैध है। यहाँ पर आपत्ति करेंगे की यह पशु गो सदृश है यहा प्रमाण वाक्य शब्द, प्रत्यक्ष और स्मृति पर निर्भर करता है।

प्रचीन नैयायिक जयन्त भट्ट कहते है कि आगम (शब्द) और स्मृति के साथ होने वाला सादृश्य ज्ञान उपमान है। वे सादृश्य ज्ञान को प्रत्यक्ष से भिन्न करते है क्योंकि गो और गवय दोनों का ज्ञान एक साथ नही होता परन्तु जयन्त भट्ट यहाँ सादृश्य ज्ञान को उपमान कह रहे हैं जो वास्तव में न्याय का मत नहीं है अपितु मीमांसा का मत है। न्याय मत में सादृश्य ज्ञान साधन है और मीमांसा मत में सादृश्य ज्ञान साध्य है।

मीमांसाक सादृश्य को एक पदार्थ मानते हैं और उसके ज्ञान के लिए वे उपमान प्रमाण को मानते हैं गो सदृश गवय है और गो गवय सदृश हैं इन दो प्रकार क सादृश्यों को मानते हैं उनका तात्पर्य है कि सादृश्य सम्बन्ध सममित नही है, गवय गो सादृश्य की प्रतियोगी है। गो उस प्रतियोगी का अनुयोगी है। जब गो गवय सादृश्य का प्रतियोगी होता है तबवहाँ गवय अनुयोगी है जाता है, जब हम कहते है कि गवय गो सदृश है तब वहाँ हमारा तात्पर्य होता है कि गवय आकार-प्रकार में गो के समान है। पुनः जब हम कहत है कि गाय गवय के सदृश है तब वहाँ हमारा तात्पर्य है कि गाय वैसे



ही भागती है जैसे गवय इसी प्रकार दोनों प्रक्कथनों में सादृश्य के बिन्दु भिन्न-भिन्न है। पुनश्च, सादृश्य कोई संचारी सम्बन्ध नही है कभी-कभी क ख के सदृश हो सकता है और ख ग के सदृश हो सकता किन्तु क ग क सदृश नही हो सकता है।

अतः सादृश्य वास्तव में एक सम्बन्ध विशेष है जिसके आधार पर कुछ अनुमान करना सम्भव वास्तव में एक सम्बन्ध विशेष है जिसके आधार पर कुछ अनुमान करना सम्भव है इस कारण सांख्य और वैशेषिक दार्शनिक सादृश्य ज्ञान को अनुमान के अन्तर्गत रखते हैं उनका यह मत अनुमान की व्यापक परिभाषा के द्वारा प्रमाणीकृत है और उपमान को अनुमान का एक नियम मानना तर्क संगत है। सादृश्य से हम अपने ज्ञान का अतिदेश या विस्तार करते है। किन्तु सादृश्य ज्ञानात्मक और आलंकारिक दो प्रकार का होता है। आलंकारिक सादृश्य से किसी गुण को लेकर उपमेय और उपमान के बीच समानता दिखलाई जाती है जैसे-सीता का मुख चन्द्रमा के समान है। इससे सौन्दर्य का बोध सिद्ध होता है किन्तु यह ज्ञानवर्धक नही है। इसके विपरीत जब हम आकार के आधार पर गो के समान गवय को जानते है तब यहाँ समानता ज्ञानवर्धक होती है। सांख्य में जब कहा गया है कि द्रष्टा और अकर्ता पुरूष तथा सक्रिय प्रकृति परस्पर संयुक्त होकर वैसे ही कार्यसत होत

है जैसे-पंगु और अन्ध दो मनुष्य आपस में मिलकर जंगल से बाहर आ जाते है। तब यहां जो सादृश्य दिखाया गया है वह ज्ञानवर्धक है। ऐसा सादृश्य ही एक प्रकार के अनुमान के हेतु है। जहाँ भी किसी हेतु से साध्य का ज्ञान होता है वहाँ अनुमान होता है। कभी-कभी असद हेतु से भी साध्य का ज्ञान ही जाता है जैसे-घुणाक्षर न्याय में।

आधुनिक नैयायिक भीमाचार्य झलकीकर ने अपने 'न्याय कोष' में उपमान के अन्तर्गत यह मत स्वीकार है कि उपमान कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही है। उपमान को त्रिविध माना गया है। (1) सादृश्य विशिष्ट पिण्डज्ञान जैसे-यह गवन है क्योंकि यह गो सदृश है, (2) आसाधारण धर्म से विशिष्ट पिण्डज्ञान जैसे - यह खगमृग है, (3) वैधमर्य से विशिष्ट पिण्डज्ञान जैसे यह ऊँट है। खगमृग में नाक से लगा हुआ एक सींग रहता है इस कारण वह असाधारण धर्म से विशिष्ट पिण्ड है। ऊँट लम्बी ग्रीवा और टेढ़ी-मेढ़ी पीठ आदि वैधम्र्य से विशिष्ट पिण्ड है। अतः खगमृग है और यह ऊँट है। ये दोनों ज्ञान इन पिण्डों के क्रमशः असाधारण धर्म और वैधम्र्य की विशिष्टता से प्राप्त होते है, सूक्षमता से विचार करने पर जैसे गो सदृश से गवय का उपमान एक प्रका का अनुमान है वैसे ही अन्य दो प्रकार के उपमान भी अनुमान के अन्तर्गत है संज्ञा-संज्ञिभाव को जो लोग उपमान का लक्षण मानते



हैं उनके मत से उपमान वाच्य-वाचक भाव है और इस कारण वह शब्द प्रमाण के अन्तर्गत है। यहाँ शब्द को कोई प्रमाण नही माना गया है क्योंकि वह प्रमाण वाक्य रूप है और भाषा व्यवहार की तथा ज्ञान मात्र की इकाई है इस कारण वाच्य - वाचक भाव वास्तव में भाषा व्यवहार का सूचक है और स्वतः कोई प्रमाण नहीं है।

वास्तव मे उपमान लक्षण करने की एक पद्धति है उपमान के त्रिविध भेद इसके उदाहरण है, असाधारण धर्म का उदाहरण लेकर हम वास्तव में किसी पदार्थ का लक्षण करते है जैसे - पृथ्वी गन्धवती है, यह लक्षण वाक्य है और यही असाधारण धर्म मूलक उपमान भी है। इस लक्षण वाक्यों को निम्न व्यतिरेकी अनुमान में रखा जा सकता है। यह पृथ्वी है क्योंकि यह गन्धवती है। जो गन्धवती नही है वही पृथ्वी नही है जैसे अग्नि।

इस प्रकार उपमान के अन्य भेदों को भी व्यतिरेकी अनुमान् में रखा जा सकता है जो लोग यह मानते है उपमान संज्ञासंज्ञि भाव है वे स्पष्टतः स्वीकार करते है कि उपमान लक्षण विधि है। अतः उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है।

(7) अर्थापत्ति की प्रमाणता- मीमांसक प्रभाकर ने अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण माना है फिर भट्ट मीमांसा और वेदान्त में भी अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण माना गया। इन दर्शनों का कहना है कि जहाँ वाक्यार्थ उपपाद्य हों किन्तु उसका उपपादक ज्ञान अभिहित न हो वहाँ उसके उपपादक ज्ञान का अनुसन्धान करना अर्थापत्ति है। उदाहरण के लिए मान लीजिये देवदत्त हृष्ट-पुष्ट है और वह दिन में भोजन नही करता यहाँ जो वाक्यार्थ है उसका उपपादक ज्ञान कहा नही गया है अतः शंका होती है कि देवदत्त कैसे हृष्ट-पुष्ट है जब वह दिन में नही खाता है? इसका समाधान है कि देवदत्त रात में खाता है। अतः देवदत्त का रात्रि में भोजन करना उपपादक है। इसके बिना उक्त वाक्यार्थ सम्भव नही है। अतः उसके उपपादक का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है उसे अर्थापत्ति कहा जाता है। पुनश्च, अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है दृष्टा अर्थापत्ति और श्रुतार्थअर्थापत्ति। प्रथम का उदाहरण ऊपर दिया गया है दूसरे का उदाहरण निम्नलिखित है।

'तरिक शोक मात्मविति', आत्म ज्ञानी शोक रहित होता है। इस वाक्य का अर्थ तब तक स्पष्ट नही होता जब तक यह ज्ञान न हो जाय कि आत्म ज्ञानी शरीरबन्धन से मुक्त होता है। यह ज्ञान उपपादक है और आत्म ज्ञानी



शोक रहित होता है यह ज्ञान उसका उपपाद्य (साध्य) है। यह ज्ञान अन्यथा उपपन्न नही होता अतः अर्थापत्ति को मानना अनिवार्य है।

श्रुत्रार्थअर्थापत्ति भी दो प्रकार की मानी गयी है - अभिधान मूलक और अभिहितार्थ मूलक। दूसरे का उदाहरण -तरति शोक मात्मविति यह वाक्य है। प्रथम का उदाहरण निम्न है- मान लीजिये किसी ने कहा दरवाजा को.....। इस पर श्रोता के मुख स प्रसंगवश तुरन्त निकल आया ..... बन्द करो। इस प्रकार 'बन्द करो' का अध्याहार श्रोता ने वाक्य पूरा कर दिया जो अन्यथा उपपन्न नही था।

इन सभी प्रकार की अर्थापत्ति को नैयायिकगण स्वतन्त्र प्रमाण नही मानते उनका कहना है कि अर्थापत्ति का <u>अनर्तभाव</u> व्यतिरेकी अनुमान में किया जा सकता है। देखिये यदि दिन में भोजन न करने वाला देवदत्त रात में भोजन रता है। यह व्यतिरेकी अनुमीन है जो आधुनिक तर्कशास्त्र का M.T. है। विस्तार से देखा जाय तो अर्थापत्ति निम्न प्रकार से अनुमान के अन्तर्गत हो जाती है।

(1) यदि देवदत्त हृष्ट पुष्ट है तो वह दिन में या रात में भोजन कता है। वह हृष्ट पुष्ट है।

अतः वह दिन में या रात में भोजन करता है। यह वैध पूर्ववत् अनुमान है। इसके आगे हम पुनः अनुमान करते है।

(2) वह दिन में या रात में भोजन करता है।

वह दिन में भोजन नही करता है।

अतः वह रात मे भोजन करता है।

यह भी वैध वैकल्पिक अनुमान है। इस प्रकार उक्त दृष्टार्थ अर्थापत्ति का अनर्तभाव इन दो अनुमानों में हो जाता है। अतः उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार श्रुतार्थ अर्थापत्ति का भी एक लौकिक उदाहरण लिया जा सकता है। देवदत्त जीवित है किन्तु वह घर पर नही है अतः अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि देवदत्त बाहर है यह अर्थापत्ति भी क्रमशः पूर्ववत अनुमान और वैकल्पिक अनुमान द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है। आत्मज्ञानी शोक रहित होता है।यहाँ भी अर्यापति से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह अनुमानगम्य है। वह अनुमान यह है- यदि कोई आत्म ज्ञानी है तो वह शरीर बन्धन से मुक्त है पुनश्च, यदि वह शरीर बन्धन से मुक्त है तो वह शोक रहित है, वह शरीर बन्धन से मुक्त है अतः वह शोक रहित है।



इन दोनों अनुमानों के स्थान पर निम्न व्यतिरेकी अनुमान से भी यह अर्थापत्ति अनुमान के अन्दर रखी जा सकती है। आत्मज्ञानी शरीर बन्धन से मुक्त है क्योंकि उसे शोक का अनुभव नही होता जिसे शोक का अनुभव नही होता है वह शरीर बन्धन से मुक्त नहीं है। जैसे यज्ञदत्त। इन विश्लेषणों से सिद्ध होता है कि अर्थापत्ति प्रमाण तो है किन्तु वह अनुमान के अन्तर्गत है और कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही है। अतः अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानना ठीक नहीं है।

(8) अनुपलब्धि की प्रमाणता- अनुपलब्धि को कुमारिलभट्ट ने एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है उसका लक्षण करते हुये वे कहते है कि अनुपलब्धि के अभाव के अनुभव असाधारण कारण हैं और वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न है। उदाहरण के लिए जब हम देखते है कि हमारे कमरे में जो मेज थी वह इस समय वहाँ नही है तो उसके अभाव का ज्ञान हमें अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष से नही हो सकता क्योंकि हमें मेज नही दिखाई पड़ती और जो रिक्त स्थान दिखाई देता है उससे मेंज का सम्बन्ध इन्द्रियगोचर नही है।

अभाव का ज्ञान अनुमान से भी नही हो सकता क्योंकि उसका ज्ञान कराने के लिए कोई हेतु नही है चूँकि अभाव का ज्ञान उसके प्रतियोगी के विचार से होता है इसलिए इस ज्ञान को जानने के लिए एक ऐसे प्रमाण की आवश्यकता है जो प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति से भिन्न हों ये पाँचों प्रमाण किसी भाव पदार्थ का ही ज्ञान कराते है और वे अभाव का ज्ञान नही कराते इसलिए अभाव पदार्थ का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है वह अन्य प्रमाणों से भिन्न है।

जिसका अभाव होता है उसे प्रतियोगी कहा जाता है और जिसमें अभाव होता है उसे अनुयोगी। उदाहरण के लिए भूतल में घटाभाव है यहाँ भूतल अनुयोगी है और घट प्रतियोगी। दोनों के बीच अभाव का सम्बन्ध होता है। अनुपलब्धि दो प्रकार की होती है- (1) ज्ञात अनुपलब्धि, (2) अज्ञात अनुपलब्धि।

ज्ञात अनुपलब्धि में योग्य प्रतियोगी का अभाव अनुभव में आता है जैसे- यदि किसी गाय की एक सींग बिल्कुल टूट गयी है तो हमें उसकी सींग का भाव इस कारण ज्ञात होता है कि उसकी सींग होनी चाहिये था ऐसे ही जब भूतल में घट के अभाव का ज्ञान होता है तब घट की अनुपलब्धि में अभाव का प्रतियोगी कोई निश्चित नही रहता और वहाँ शुद्ध अभाव की ही ज्ञान होता है।



नौयायिक गण यहाँ कहते है कि अज्ञात अनुपलब्धि प्रत्यक्ष का विषय है क्योंकि भूतल को देखना और वहाँ किसी वस्तु को न देखना दोनों एक साथ प्रत्यक्ष के विषय है। कुमारिल के अनुयायी उनकों उत्तर देते हुये कहते है कि यद्यपि अज्ञात अनुपलब्धि में अभाव के आश्रय का ज्ञान होता है तथापि वह ज्ञान मात्र भूतल के प्रत्यक्ष से भिन्न है। भूतल का प्रत्यक्ष करना और उसी को किसी सम्भव वस्तु के अभाव के रूप में जानना दो भिन्न क्षणों के ज्ञान है। इस कारण दूसरा ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न है उनको उत्तर देते हुये नैयायिक कहते है कि प्रत्यक्ष के विस्तार में दोनों क्षण रहते हैं। इस कारण अज्ञात अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आसानी से रखा जा सकता है।

जहाँ तक ज्ञात अनुपलब्धि का प्रश्न है उनको नैयायिक अनुमान के अन्तर्गत रखते है क्योंकि यहाँ अभाव का योग्य प्रतियोगी अपने अनुयोगी के पूर्व साहचर्य से तर्कित है और अभाव का योग्य प्रतियोगी अपने अनुयोगी के पूर्व साहचर्य से तर्कित है और अभाव उस प्रतियोगी का विरोधी है जो पुनः तर्कगम्य है। इस प्रकार ज्ञात अनुपलब्धि अनुमान के अन्तर्गत है इस हम यों रख सकते हैं- भूतल में घट है या नही है अर्थात भूतल में घट या घटाभाव है। दोनों घट और घटाभाव एक साथ नही हो सकते अतः जब घटाभाव नही है तब घट है और जब घट नही है तब घटाभाव है। इस प्रकार घट है इस वाक्य के निषेध से घटाभाव सिद्ध हो जाता है निषेध वाक्य फलन है जो किसी स्वीकारात्मक प्रकथन को अस्वीकर करता है वह तर्क का एक नियम है अथवा संशय का उपपादक है और इस कारण तर्क के अन्तर्गत है।

अतः निषेध को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है। अनुपलब्धि का कार्य वही है जो निषेध का है। इसलिए अनुलब्धि कोई स्वतन्त्र प्रमाण नही है।

पुनश्च, अभाव को पदार्थ मानना भी तर्कसंगत नही है क्योंकि जब अभाव को ज्ञेय कहा जाता है उसे नित्य माना जाता है और उसके चार भेद (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव) माने जाते है तो इन मान्यताओं से स्पष्ट है कि अभाव के लक्षण और प्रकार है अतः अभाव के प्रत्यय में अन्तर्रविरोध है क्योंकि एक ओर उसे अभाव कहना और दूसरी ओर उसे लक्षण मुक्त कहना व्याघातक है। अतएव अभाव कोई पदार्थ नही है और उसकों जानने के लिए इस कारण किसी विशिष्ट प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

9. अन्य प्रमाणों की प्रमाणता

(क) शब्द प्रमाण- यद्यपि हमने शब्द को प्रमाण के रूप में स्वीकार नही किया है और उसे भाषा व्यवहार के रूप में लिया है तथापि जिन ज्ञानियों ने अपने ज्ञान का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है वे ग्रन्थ शब्द प्रमाण की कोटी में वैसे ही रखे जा सकते है जैसे ऐतिहासिक तत्यों का वर्णन करने वाले ग्रन्थ अतीत की घटनाओं के लिए प्रमाण है। इस प्रकार भारत में



श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण को प्रमाण माना जाता है। श्रुति के अतिरिक्त इन अन्य प्रमाणों की स्मृति कहा जाता है श्रुति का अर्थ वेद है जिसके चार भेद है- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद। स्मृति के अन्तर्गत आगमशास्त्र, महाभारत, बाल्मीकिरामायण, धर्मशास्त्र के ग्रन्थ जैसे मनुस्मृति और कृत्य कल्पतरू और पुराण आते है। इनके अतिरिक्त वांड्गमय के जो अन्य प्रकार है जैसे, काव्य नाटक ज्योतिष, चिकित्सा आदि वे भी लौकिक शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आते है। इन सभी ग्रन्थों में जहाँ अन्तर्रदृष्टि मिलती है वहाँ ग्रन्थकारों के या ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान रहते हैं- और जहाँ किन्ही विषयों का विवेचन रहता है वहाँ उनके व्याख्यान रहते है इस प्रकार से सभी ग्रन्थ ज्ञान प्राप्त करने में सहायक है।

इन ग्रन्थों में दार्शनिक ग्रन्थों का विशेष महत्व है। भारतीय दर्शन विविध है और प्रत्येक दर्शन का अपना साहित्य है। यह एक विचित्र संयोग है कि किसी किसी रूप में प्रत्येक दर्शन जीवित हैं और उसके साहित्य में निरन्तर वृद्धि हो रही है। दर्शनों में एक वाटयता का दावा करने वाले दार्शनिक भी हैं जिसमें से मुख्य अद्वैत वेदान्ती है, अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार अधिकार्य- भेद से या भूमिका भेद से प्रत्येक दर्शन के सिद्धान्त उपयोगी है।

किन्तु यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि सभी ज्ञान या प्रमाण शब्द प्रयोग है तथापि सभी शब्द प्रयोग ज्ञान या प्रमाण नही है। उदाहरण के लिए आकश कुसुम शशश्रृंग, बन्ध्यापुत्र आदि ऐसे शब्द प्रयोग है जो वस्तु शून्य है इन्हें योग दर्शन में विकल्प कहा गया है जिसका लक्षण है शब्द ज्ञानानुपाती वस्तु शून्योविकल्पः। ऐसे विकल्पों के समुदाय से निरर्थक वाक्य ज्ञान बन जाते है। जैसे- मृगतृष्णा के जल में स्नान करके आकाश-कुसुम की माला पहनकर शशश्रृंग की धनुष लेकर यह बन्ध्या-पुत्र आ रहा है। ऐसे ही अनेक अन्य प्रकार के वाक्य हैं जो अर्थहीन होते हैं जैसे स्तुति या प्रशंसा के कथन जिनमें केवल कुछ मनोविकारों के वर्णन होते है और किसी तथ्य का वर्णन नही होता है। अतः शब्द अवश्य प्रमाण है यह कथन ठीक नही है सभी शब्द प्रमाण नही है जो शब्द वस्तु के प्रतिपादक है वे ही प्रमाण हैं और उनमें उनके वक्ता का ज्ञान अभिव्यक्त होता है।

मैं जिस प्रमाण सिद्धान्त को यहाँ स्थापित करना चाहता हूँ वह मेरे विचार से सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों का निचोड़ है। उस प्रमाण सिद्धान्त को मै संदर्शन कहता हूँ जिसकी इकाई प्रमाण वाक्य है और जिसमें दर्शन, ज्ञान तथा चरित्र का समन्वय है। संदर्शन में शंका विशिष्ट अर्थ है जो सम्यकत्व का वाचक है। इसी तथ्य को सांडिल्य उपनिषद में कहा गया है कि ज्ञान



सम्यक बीक्षण है। सम्यक होने के कारण दर्शन मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है और न मात्र प्रतिभ ज्ञान ही है।

जब ये ज्ञान सत्यापित होते है तभी संदर्शन सिद्ध होता है। यह सिद्धि अनुमान द्वारा होती है इसीलिए अनुमान द्वारा सत्यापित इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान है जिसको प्रातिभ ज्ञान सुनिश्चित करता है। ऐसे संदर्शन जिन ग्रन्थों या श्रुतियों में मिलता है वे सभी संदर्शन के लिए उपयोग है और उन सभी का पुनर्गठन जिस दार्शनिक विचार धारा में किया जाता है वही संदर्शनशास्त्र है।

(ख) ऐतिहय- कुछ भारतीय दार्शनिक ऐतिहसा को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते है और इसके अन्दर ने जनश्रुति, परम्परा और इतिहास को रखत है जैसे- इस बरगद के पेड़ में एक यक्ष रहता है - ऐसी जनश्रुति किसी बरगद के पेड़ क बारे में हो सकती है। परम्परा से लोग कहते आ रहे है कि अमुक व्यक्ति शुद्ध ब्राहमण नही है अपितु छप्पन है यह ज्ञान भी ऐतिहय के अन्दर है किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो एतिहास के दो रूप है- एक शुद्ध एतिहासिक रूप में है जिस शब्द प्रमाण के अन्तर्गत रखा जा सकता है दूसरे किवदन्ती के रूप में है जिस गड्डलिका प्रवाह कहा जाता है वह सत्य नही है। कुछ भी हो ऐतिहय स्वतन्त्र प्रमाण नही है जिस रूप में वह प्रमाण के

रूप में स्वीकार्य है उस रूप में उसकी गणना ऐतिहासिक लेखों के रूप में आती है। जो एतिहासिक लेख विधिवत परीक्षा करने पर प्रामाणिक सिद्ध होते है वे मानव ज्ञान के लिए उपयोगी है और संदर्शन शास्त्र इनका उपयोग यथा विषय करता है।

(ग) सम्भव- पौराणिकगण सम्भव को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते है उनके मत से सम्भव दो प्रकार का होता है। सम्भवानात्मक औ निर्णायक। सम्भवानात्मक सम्भव प्रमाण का उदाहरण निम्न है- सम्भवतः यह ब्राह्मण चौदह विधाओं का ज्ञाता है यहाँ प्राचीन काल के चर्तुदश विधाओं के ज्ञाता ब्राह्मणों के आधार पर कहा जाता है कि-यह ब्राह्मण चौदह विधाओं का ज्ञाता है सम्भव है यह ब्राह्मण ऐसा ज्ञानी हो किन्तु यह सम्भवना निश्चित नही है अतएक उसको प्रमाण नही माना जा सकता।

निर्णायक समभव का उदाहरण निम्न है- वहाँ कमरे से लहभग सौ छात्र बैठे है अतः वहाँ पचास छात्र अवश्य बैठें है। यहाँ सम्भव प्रमाण है किन्तु यहाँ बहुल ज्ञान के द्वारा अल्प ज्ञान को सिद्ध किया जा रहा है। अतः यह एक प्रकार का अनुमान ही है। इसके आधार पर सम्भव का लक्षण पौराणिक लोग यह करते है कि समुदाय और समुदायी में अविनाभाव सम्बन्ध है



जिसके आधार पर समुदाय के द्वारा समुदायी का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव प्रमाण है- उदाहरण के  लिए एक सेर में सोलह छटाँक होते है सेर बटखरा समुदाय है और छटाँक उसके समुदायी है। अतः किसी के पास एक सेर भी है तो उसके पास एक छटाँक घी अवश्य है। प्राचीन ग्रन्थों में खारि और द्रोण होते थे तब कहा जाता था कि देवदत्त के पास एक खारि चावल है अतः इसके पास एक द्रोण चावल अवश्य है।

निर्णायक सम्भव प्रमाण है किन्तु वह कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में उसका अन्तर्भाव ठीक ही अनुमान में किया गया है। अनुमान का आधार अविनाभाव है जो सम्भव प्रमाण का भी आधार है। अतः सम्भव को अनुमान के ही अन्तर्गत रखना उचित है।

आधुनिक दृष्टि से सम्भव प्रमाण को प्रसम्भाव्यता से जोड़ा जा सकता है उदाहरण के लिए यदि भारतवासियों की औसत आयु 58 वर्ष है और संजय भारतवासी है तो वहां कह सकते है कि संजय सम्भवतः पचास वर्ष तक अवश्य जियेगा किन्तु यह ज्ञान भी वास्तव में निर्णायक नही है क्योंकि यह भी सम्भव है कि संजय और कम वर्ष तक जिए। जहाँ सम्भव निर्णायक है वहाँ वह वस्तुतः किसी नई वस्तु का ज्ञान नही देता यदि मेरे पास पाँच सौ

रूपये है तो यह कहने का कोई तुक नही है कि मेरे पास पचास रूपये अवश्य है अतः जिसे निर्णायक सम्भव प्रमाण कहा जाता है वह निष्प्रयोजन है यही कारण है कि अधिकांश दार्शनिक सम्भव को कोई प्रमाण नही मानते है।

(घ) चेष्टा- कुछ लोग चेष्टा को प्रमाण मानते है उदाहरण के लिए यदि हम गेंद को किसी को बताना चाहते हैं और गेंद शब्द का प्रयोग नही करना चाहते तो अपने दोनों हाथों से गेंद का एक आकार बनाकर श्रोता को बताते है कि ऐसे ही गेंद होती है। शरीर की चेष्टाओं से आवाभिव्यक्ति होती है इस अभिनेता और अभिनय के दर्शक जानते है। यदि कोई हिन्दी भाषी तमिलनाडू के किसी गाँव में चला जाता है जहाँ कोई हिन्दी नही जानता तो वह अपनी चेष्टाओं से पानी मांग लेता है या भोजन मांग लेता है और लोग उसे पानी भोजन दे देते है। इस प्रकार मानव व्यवहार में चेष्टा का प्रयोग ज्ञान के साधन के रूप में किया जाता है।

"चेष्टा च शब्द स्मारकतया शब्दानुमापकतया वा प्रमायामुपयोगिनी"

ऐसा न्याय कोष में भीमाचार्य अलकीकर ने लिखा है उनका तात्पर्य है कि चेष्टा शब्द का स्मरण कराती है और या शब्द का अनुमापक होती है इस कारण वह प्रमा में उपयोगी है। वे चेष्टा को दो प्रकार के मानते है-



कृतसमया और अकृतसमया। यहाँ समय का अर्थ अभिसमय या संकेत है। शंख ध्वनि सुनकर सत्यनारायणव्रत की कथा में पड़ोसी का आ जाना कृतसमया चेष्टा का उदाहरण है।

अकृतसमया चेष्टा प्रयोजक से अभिप्राय को अभिव्यक्त करती हुई प्रयोज्य को प्रवर्तित करती है जैसे किसी को हाथ से मार्ग दिखाकर हम अपने स्थान पर धीरे-धारे किसी को बुलाते है। दोनों प्रकार की चेष्टा वास्तव में प्रमाण नही है क्योंकि यहाँ प्रमाण वाक्य की जो प्रमुख शर्त है भाषा-व्यवहार उसी का अभाव है। अतः जो लोग चेष्टा को अनुमान के अन्तर्गत रखते है या प्रमा में उपयोगी मानते है उनका मत ठीक नही है जहाँ शब्द व्यवहार नही होता वहाँ से प्रमा को कोई लाभ नहीं है।

(10) प्रमाण विविधता के हेतु की परीक्षा- अभी तक हमने सिद्ध किया है कि वास्तव में प्रमाण एक ही है जिसमें प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द परस्पर सम्मिलत रहते है। इसके अतिरिक्ति जो प्रमाण माने जाते है वे वास्तव में अनुमान के अन्तर्गत है। अनुमान प्रत्यक्ष से अपनी उतपत्ति में सम्बन्धित रहता है किन्तु वह प्रत्यक्ष को अपने ढ़ंग से ग्रहण करता है इस कारण जैसे अनुमान प्रत्याक्ष पर आश्रित है वैसे प्रत्यक्ष भी अनुमान पर आश्रित है उनका

अन्योन्याश्रय कोई दोष नही है क्योंकि जहा केवल अनुमान होता है वही अन्योन्याश्रय दोष की सम्भावना रहती है जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान के सम्बन्ध बनते है वहाँ अन्योन्याश्रय दोष न होकर संयोग है जो दोनों को जोड़ता है।

किन्तु यहाँ हमारे विरोधी कहेंगे कि प्रमाणों की विविधता के लिए कुछ सदहेतु है जिन्हें भारतीय दर्शनों में मान्यता मिलती है। अतः इन सदहेतुओं का विचार करना प्रासंगिक है-

(क) परोक्षता अपरोक्षता का भेद- कहा जा है कि अनुभव दो प्रकार का होता है- परोक्ष और अपरोक्ष। परोक्ष अनुभव अनुमान है। अपरोध अनुभव पुनः द्विविध है- प्रत्यक्ष और प्रातिभ। अतः अनुभव भेद के आधार पर कम से कम प्रत्यक्ष प्रातिभ और अनुमान इन तीनों प्रमाणों को मानना चाहिये।

परन्तु विचार करने पर अनुभवभेद से प्रमाण भेद सिद्ध नही होता वास्तव में अपरोक्ष अनुभव ज्ञान नही है किन्तु ज्ञान का सहकारी है जब वह अनुभव युक्ति से प्रमाणित हो जाता है अथवा जब वह युक्ति से अबाधित हो जाता है। दब वह ज्ञान होता है। जो अपरेक्ष युक्ति युक्त नही है वे अज्ञान या भ्रम है। उदाहरण के लिए यह रजत है यह सर्प है आदि भ्रम के स्थलों में



जो अपरोक्ष अनुभव होता है वह अज्ञान है इसी प्रकार जब नाटक में कोई अभिनेता कहता है-मै ईश्वर हूँ और मेरा आदेश मानों तब उसका पहला वाक्य अपरोक्ष प्रातिभ ज्ञान नही है कुछ लोगों को जा प्रातिभ अनुभव होते है वे तब तक ज्ञान नही कहे जा सकते जब तक वे युक्तियुक्त न हो इसलिए कहा जाता है।

युक्ति युक्तं वचोग्राह्यं बालादपि शुक्रादपि।
युक्तिहीनं वचस्तयाज्यं वृद्धादपि शुक्रादपि।।

शुक्रदेव मुनि और बुधजनों के प्रातिभ अनुभवों यदि युक्तहीन है तो वे त्याज्य है ओर बच्चों और चिड़ियों के बोल यदि युक्तियुक्त है तो वे ग्राह्य है। युक्तियुक्तता ही ज्ञान को अनुभव से भिन्न करती है और वही प्रमाण का स्वरूप निर्धारित करती है। अतः अनुभव भेद से प्रमाण की विविधता सिद्ध नही होती है।

(ख) प्रमाण व्यवस्था का सिद्धान्त- कुछ दार्शनिक मानते है कि प्रत्यक्ष के विषय विशेष तथ्य और अनुमान के विषय सामान्य ज्ञान है। इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने माना है कि वेद विषय धर्म, स्वर्ग, मोक्ष ब्रह्म आदि है जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान् के विषय नही है अतः ज्ञेयों की विविध प्रकारता के आधारता पर उनके भिन्न प्रमाणों को मानना न्यायसंगत है।

किन्तु आलोचना करने पर प्रमाणव्यवस्था का सिद्धान्त प्रमाणों की विविधता को सिद्ध नही कर सकता। प्रमाणव्यवस्था ज्ञेय विषयों की प्रकारता को उत्पन्न करती है और विषयों की प्रकारता प्रमाण-व्यवस्था क सिद्ध करती है इस प्रकार प्रमाण विविधता को सिद्ध करने में अन्योन्याश्रय तथा चक्रक दोष है। पुनश्च, विषयों की प्रकारता स्वयं प्रमाणाधीन है सभी विषय इसी कारण ज्ञेय तथा अभिधेय है। उनके ज्ञेय और अभिधेय होने में प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द की त्रिरूपात्मक भूमिका है 'मेयं मानाधीनम्' इस मत से सभी विषय प्रमाण के अधीन है अतः विषयों की भिन्नता के आधार पर प्रमाणों की भिन्नता सिद्ध करना गलत है पुनः प्रमाण-संप्लव का सिद्धानत प्रमाण-व्यवस्था के विरूद्ध है और सिद्ध करता है कि कोई ऐसा विषय नही है जिसे अनुमान के द्वारा न जाना जा सके। अनुमान के अनेक नियम है और उन नियमों को अनुमान से भिन्न प्रमाण मानना व्यर्थ ही प्रमाणों की संख्या बढ़ाना है जब तक यह न ज्ञात हो कि अमुक ज्ञान प्रामाणिक है औ व युक्तियुक्त नही है तब तक उस ज्ञान को अनुमान से स्वतन्त्र नही माना जा सकता है परन्तु ऐसा ज्ञान सम्भव नही है। इसलिए विषयों की प्रकारता को लेकर प्रमाणों की विविधता नही सिद्ध की जा सकती है।



पुनश्च, सामान्य विशेष आदि विषयों को लेकर ज्ञान-मीमांसकों में अत्यन्त महत्वपूर्ण मतभेद है। कुछ दार्शनिक सामान्यवादी है और विशेष का निराकरण करते है तो कुछ दार्शनिक विशेषवादी है या नामवादी है और सामान्यों का निराकरण करते है। ये दोनों प्रकार के दार्शनिक ज्ञान और उसके विषय की युक्ति-युक्त व्याख्या करते है। यद्यपि इनमें मतभेद है तथापि ये मानते है कि प्रमाण एक ही है और वह विषय भेद से विभिन्न नही हो जाता है।

(ग) बुद्धि के वृत्तिभेद का हेतु- कुछ दार्शनिक मानते है कि जैसे अभिधा लक्षणा और व्यंजना ये तीन विभिन्न शब्दवृत्तियां है वैसे ही प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन बुद्धिवृत्तियां है। जैसे कोई शब्दवृत्ति अपना कार्य सम्पादित करके विरत हो जाती है और फिर भी दूसरी शब्दवत्ति से शब्द का अन्य अर्थ निकलता है वैसे ही जब एक बुद्धिवृत्ति अपना कार्य कर देती है तो वह समाप्त हो जाती है और फिर दूसरा बौद्धिक कार्य करने के लिए दूसरी बुद्धिवृत्ति की अपेक्षा होती है। प्रत्यक्ष बुद्धिवृत्ति या बुद्धि-व्यापार है। उससे हमें धूम का ज्ञान होता है किन्तु धूम का ज्ञान देकर वह समाप्त हो जाता है फिर जब हम धूम से अग्नि का ज्ञान प्राप्त करते है तब वह प्रत्यक्ष व्यापार से भिन्न एक दूसरा बुद्धि व्यापार है जिसे अनुमान कहा जाता है। इसी प्रकार

जब प्रत्यक्ष और अनुमान विफल हो जाते है तो तीसरा बुद्धि-व्यापार आरम्भ हो जाता है जिसे वेद या श्रुति प्रमाण या शब्द कहा जाता है। इस प्रकार बुद्धिवृत्तियों के भेद से प्रमाणों की विविधता सिद्ध की जाती है। सिद्ध करने के इस नियम को एक न्याय का रूप दे दिया गया है उस न्याय को "शब्द बुद्धि कर्माणां विरम्य व्यापारा भावः" कहा जाता है। इस प्रकार इस लौकिक न्याय के आधार पर प्रमाणों की विविधता सिद्ध की जाती है।

इसी न्याय से कुछ वेदान्ती सिद्ध करते है कि स्मृति (स्मरण शक्ति) एक स्वतन्त्र प्रमाण है। पाश्चात्य दर्शन में प्लेटों मानता है का स्मृति ज्ञान का साधन है स्मृति संस्कारजन्य को मनोजन्य ज्ञान है वह दो प्रकार की होती है यथार्थ और अयथार्थ। अयथार्थ स्मृति प्रमाण नही है किन्तु यथार्थ स्मृति प्रमाण है।

पुनश्च, काश्मीर शैव मत में माना जाता है कि प्रत्यभिज्ञान भी एक स्वतन्त्र प्रमाण है क्योंकि वह प्रत्यक्ष, स्मृति और अनुमान से भिन्न बुद्धिवृत्ति है। यह वही देवदत्त हैं - यह प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण है। यह यथार्थ या अयथार्थ हो सकता है। केवल यथार्थ हो सकता है। केवल यथार्थ प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। इस प्रकार बुद्धि के वृत्ति भेद के आधार पर स्मृति और प्रत्यभिज्ञान को भी प्रमाण माना जाता है। इसी प्रकार कुछ दार्शनिक



तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण मानते है उनके मत से तर्क दो प्रकार का होता है व्याप्तिग्राहक और विषयपरिशोधक। तर्क करना बुद्धि की वृत्ति विशेष इसलिए न्याय दर्शन में तर्क को स्वतंत्र प्रमाण नही माना जाता अपितु उसे अनुमान का अनुग्राहक या सहकारी माना जाता है।

परन्तु यह उपपादन तर्क संगत नही है। यदि बुद्धि-वृत्तियों के भेद से प्रमाणों की विविधता मानी जाय तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञान के अतिरिक्त कल्पना, विश्लेषण और निर्णय इन बुद्धि वृत्तियों के आधार पर भी प्रमाण माने जायेंगे किन्तु इनकों कोई प्रमाण नही मानता। स्मृति प्रत्यभिज्ञान, कल्पना, विश्लेषण और निर्णय बौद्धिक योग्यतायें है जो बुद्धि की प्रखरता को सिद्ध करती है। इनके द्वारा जिन विषयो का अववोध होता है वे प्रत्यक्ष ज्ञान से स्वतन्त्र नही है और उनकों जानने के लिए इन योग्यताओं को प्रमाण नही माना जा सकता। पुनश्च बुद्धि-वृत्ति के आधार पर प्रमाण भेद को सिद्ध करने में यह विचार निहित है कि प्रत्यक्ष शब्द रहित और अनुमान रहित है अनुमान शब्द रहित है तथा शब्द प्रत्यक्ष और अनुमान रहित है परन्तु हमने प्रमाण के जिस स्वरूप को सिद्ध किया है वह इन मतों का निराकरण करता है अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के विश्लेषण से यह सिद्ध करना सम्भव नही है कि ये तीनों परस्पर स्वतंत्र प्रमाण है। वस्तुत ये तीनों एकीभूत होकर

प्रमाण होते है और इस प्रकार ये सहकारी घटक है और स्वतंत्र प्रमाण नही है प्रमाण एक ही है और संदर्शन ही प्रमाण है जो प्रत्यक्ष अनुमान और प्रातिभ अनुमान के तीन घटकों से संयुक्त है उसकी अभिव्यक्ति प्रमाण वाक्य में होती है।

पुनश्च, यदि बुद्धि की वृत्ति-भेद को प्रमाण का नियामक माना जाय तो योग दर्शन में प्रमाण के अतिरिक्त विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति नामक जो चार बुद्धि-वृत्तियां मानी जाती है उनके आधार पर भी चार प्रमाण मानने पड़ेगे। किन्तु ये वृत्तियां अप्रमाण है क्योंकि ये प्रमाण विरोधी है। अतः बुद्धि-वृत्ति के भेद स प्रमाण भेद को मानना सर्वथा गलत है।

(2) समीक्षात्मक निष्कर्ष- प्राचीन भारतीय प्रमाणशास्त्र के विवेचन में हमने बारह प्रमाणों की स्वतन्त्र प्रमाणता का विचार किया है। ये प्रमाण है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, प्रातिभ ज्ञान, ऐतिह्य, सम्भव और चेष्टा। यह उल्लेखनीय है कि इन बारह प्रमाणों में से प्रत्येक प्रमाण के द्वारा प्रमा और अप्रमा दोनों का ज्ञान होता है तथा उनके द्वारा ज्ञात प्रमा के आधार पर उन्हें प्रमाण जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि अनेक प्राचीन दार्शनिकों ने उन सब



प्रमाणों को प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तर्गत रखा है। चार्वाक दार्शनिक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है और अनुमान की भी प्रमाणता को अस्वीकार करते है किन्तु यदि अनुमान को प्रमाण न माना जाया तो प्रत्यक्ष की प्रमाणता को सिद्ध करना तथा प्रत्यक्ष को भ्रम से भिन्न करना असम्भव हो जायेगा अतः प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों को जो दार्शनिक प्रमाण मानते है उनका मत अधिक सारगर्भित है। वह लाघवन्याय से भी सिद्ध है।

किन्तु हमने यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमा मे एक साथ सहकारी और उपयोगी माना है। इस कारण वास्तव में प्रमाण एक ही है। जिसमें प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त, प्रातिभज्ञान और शब्द प्रमाण का भी योगदान रहता है। शब्द प्रमाण वाक्य का अभिव्यंजक है और प्रातिभ ज्ञान उसके निश्चय का ज्ञापक है। प्रमाण की अभिव्यक्ति भाषा व्यवहार नही होता है तथापि उसमें भी जिस संकेत से ज्ञान होता है वह अभिसमय है और उसकी अभिव्यक्ति वक्ता और श्रोता को पहले से ही भाषा व्यवहार द्वारा विदित रहती है। कोई ऐसा संकेत नही हो सकता। जिसके निर्दिष्ट अर्थ को पहले से ही भाषा द्वारा निश्चित न कर लिया गया हो। अतः भाषा प्रमाण का कलेवर है और प्रत्यक्ष अनुमान तथा प्रातिभ ज्ञान उसके स्वरूप है। प्रमाणों की संख्या को लेकर मतभेद है चार्वाक प्रमाण को एक मानत हैं और

बौद्ध तथा वैशेषिक दो प्रमाण मानते है। साख्य तीन प्रमाण के स्वीकार करते है। न्याय दर्शन में चार प्रमाण माने जाते है। प्रभाकर मीमांसा में पांच प्रमाण माने जाते है तथा भाट्ट मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में छः प्रमाण माने जाते है। कुछ वैष्णव दार्शनिक आठ प्रमाण मानते है तो कुछ नौ या दस प्रमाण। इनके अतिरिक्त पौराणिक गण बारह प्रमाणों को मानते है जिनका विवेचन ऊपर किया गया है किन्तु ये सभी प्रमाण वास्तव मे प्रमाणता की एकता का प्रतिपादन करते है, क्योंकि उनसे जो प्रमा ज्ञात होती है वह एक ही प्रकार की होती है। प्रमाण भेद से प्रमा का भेद करना प्रमा की मात्र मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा से वह प्रमाणित नही है। दूसरे शब्दों में सत्य और निश्चित ज्ञान में कोई प्रकारता भेद नही है। इस दृष्टि से प्रमाणता एकविध है। अतः निम्न श्लोक के द्वारा उसे अभिहित किया जा सकता है।

प्रोक्तापुराप्रमाणज्ञैर्यो प्रमाणैक वाक्यता।
हेतुना तेन साध्यते प्रमाणष्यकताअधुना।।

प्राचीनों ने प्रामाणों की एकवाक्यता सिद्ध की थी। इस हेतु से यहाँ प्रमाण की एकता का प्रतिपादन किया गया है।

पूर्व अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद



# धर्म का क्षेत्र

स्व0 प्रो0 श्री राजाराम शास्त्री
(भू0पू0 कुलपति काशी विद्यापीठ, एवं संसद सदस्य)

आजकल अपने देश में यह प्रश्न बड़े महत्व का हो गया है कि राज्य और धर्म को एक दूसरे के क्षेत्र में कहाँ तक प्रवेश करना चाहिये या न करना चाहिये। पंजाब के गुरूद्वारे में उग्रवादी अकालियों के क्रिया-कलाप के सन्दर्भ में कहा जाता है कि धर्म के क्षेत्र में पुलिस को प्रवेश नहीं करना चाहिये और इसका यह अर्थ लगाया जाता है कि राजकर्मियों को किसी पूजा, स्थान मन्दिर, मस्जिद, गिरिजा, गुरूद्वारा आदि में नही घुसना चाहिए। साथ ही साथ दूसरा पक्ष भी सामने आता है, वह यह कि धर्म को राजनीति के क्षेत्र में दखल नहीं देना चाहिए। इस दूसरे पक्ष की बात को छोड़कर अभी पहले पक्ष पर ही विचार कर लिया जाय।

यदि यह बात अक्षरक्षः मान ली जाये कि पूजागृहों में राजकर्मी प्रवेश न करे तो इसके परिणाम बड़े भयंकर हो जाते हैं। आराधना-गृहों के अन्दर यदि धर्म न होकर अधर्म, अपराध, हिंसा, व्यभिचार आदि अनैतिक और गैर-सरकारी कर्म होने लगें, तो इसका निराकरण कौन करेगा। यह काम तो सारी सभ्यताओं में राज्य का ही माना गया है। भगवान् श्री रामचन्द्र जी जब राक्षसों के द्वारा ऋषियों के यज्ञ आदि आराधना कार्य में विध्न उपस्थित

होने की स्थिति में उन असुरों का संहार करते थे तो क्या वह इस बात की प्रतीक्षा करते थे कि असुर जब आश्रमों से बाहर निकले तभी उनका संहार किया जाय या वह तत्काल उसी स्थान पर उनका वध कर देते थे, क्योंकि यह राज्य का कार्य था। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण अनेक धर्मों से दिये जा सकते हैं किन्तु इससे जो निष्कर्ष निकलता है। वह यही कि इस प्रसंग में क्षेत्र का अर्थ कोई भौगोलिक सीमा अर्थात् आश्रम आदि की दीवारों के अन्दर पड़नेवाली भूमि नहीं हो सकती है। यहाँ क्षेत्र का अर्थ धर्म या राज्य का कर्तव्य अथवा क्रियाकलाप ही हो सकता है। सारांश यह निकलता है कि स्थान कोई भी हो, जहाँ जब अपराध होंगे तब राज्य वहाँ जायेगा, लेकिन केवल अपराधियों को पकड़ने एवं दण्डित करने के लिए। यहाँ हो रहे पूजा पाठ में अवश्य ही वह कोई दखल नहीं देगा। यदि राज्य का यह अख्तियार न माना जायेगा तो देश और समाज में दो या अनेक समानान्तर शासन और कानून की व्यवस्थाये बन जायेंगी, एक तो पूजा-गृहों के बाहर की, जिसमें राज्य का शासन होगा और उसके कानून चलेगें और दूसरी पूजा-ग्रहों को भीतर की, जिसमें पुरोहितों के बनाये गये कानून चलेगें और उन्हीं के द्वारा उनका अनुपालन होगा। हर धर्म और हर पूजा गृह की अलग-अलग व्यवस्था होगी और इस प्रकार नाना प्रकार की अव्यवस्था या अराजकता पैदा हो



जायेगी। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है कि आजकल रातभर में सार्वजनिक उपयोग के स्थानों पर नये-नये देव-स्थान खड़े कर दिये जा रहे हैं, जिससे इस अराजकता का कहीं अन्त ही नहीं रहता। इनका निर्माण ही गैर-कानूनी ढंग से अनधिकृत जमीन पर होता है और इसके पीछे जमीन हड़पने और देव-भक्तों से पैसा वसूल करने को की स्वार्थमय - प्रवृत्ति ही काम करती है। फिर इनके भीतर अस्त्र-शस्त्र आदि हिंसात्मक साधनों को एकत्र करने, अनैतिक अचरण करने और तस्करी के माल के भंडारण की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। ऐसी स्थिति में ऐसा लगता है कि धर्म के नाम पर आराधना स्थलों की व्यवस्था का क्षेत्र बराबर बढ़ता जायेगा और उसी मात्रा में राजकीय व्यवस्था का क्षेत्र घटता चला जायेगा। आप कहेंगे कि मैं वस्तु-स्थिति को अतिरंजित रूप में रख रहा हूँ और उसके भीषण पक्ष का ही वर्णन कर रहा हूँ। किन्तु मूल प्रश्न को समझने के लिये यह आवश्यक था, क्योंकि यदि हम इस बात पर सीमित रहें कि धर्म-क्षेत्र में राजनीति और स्वार्थ नीति का मिश्रण नहीं होना चाहिए तो भी सिद्धान्ततः बात यही रही कि धर्म राज्य के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर रहा है और इस अर्थ में अपने प्रकृत क्षेत्र का अतिक्रमण कर रहा है। अर्थात् वह स्वधर्म से विचलित हो रहा है और इस अर्थ में अधर्म में रूपान्तरित हो रहा है। यह कहा जा सकता है कि राज्य-क्षेत्र जिस प्रकार

सीमित है, उस प्रकार धर्म का क्षेत्र सीमित नहीं है और जीवन के हर क्षेत्र में इसका प्रभुत्व सर्वोपरि है। इसके उत्तर में दूसरा पक्ष यह भी मान सकता है कि राज्य का क्षेत्र असीम है और जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें राज्य का क्षेत्र असीम है और जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें राज्य का दखल न हो। सीमा इतनी ही है कि उसे अपना ही कार्य करना चाहिए, अर्थात् जहाँ नागरिकों के बीच व्यक्तिगत या सामाजिक संघर्ष और उसके परिणाम स्वरूप अव्यवस्था उत्पन्न हो, उसी का निराकरण उसे करना चाहिए। अन्य बातों में व्यक्ति या समुदाय की स्वतन्त्रता का अपहरण उसे नहीं करना चाहिये, चाहे वह समुदाय धार्मिक हो या लौकिक। यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है, जब अव्यवस्था दो धर्मों के बीच उत्पन्न हो जाती है और संघर्ष और हिंसा की नौबत आ जाती है। ऐसी स्थिति में या तो धर्म ही राज्य की शरण लेते हैं या यदि वे राजकीय कानून एवं व्यवस्था का सहारा न भी लेना चाहे, तो शान्ति की रक्षा के लिये राज्य को स्वयं हस्तक्षेप करना पड़ता है, और इसको कोई अनुचित नहीं समझता। निष्कर्ष यह निकला कि जहाँ शान्ति और व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित होगा, वहाँ धर्म को पीछे हटना पड़ सकता है। राज्य को धर्म के सामने कहीं पीछे हटना नहीं पड़ता। सीमा यही रही कि राज्य अपना कार्य करे। इसी प्रकार दूसरी ओर से यह कहा जा



सकता है यदि राज्य अपने प्ररकृत कार्य से आगे बढ़कर धर्म के ऐसे क्षेत्रों में दखल दे, जिनमें शान्ति और व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित होगा, वहाँ धम्र को पीछे हटना पड़ सकता है। राज्य को धर्म के सामने कहीं पीछे हटना नहीं पड़ता। सीमा यही रही कि राज्य अपना कार्य करे। इसी प्रकार दूसरी ओर से यह कहा जा सकता है कि यदि राज्य अपने प्रकृत कार्य करे। इसी प्रकार दूसरी ओर से यह कहा जा सकता है कि यदि राज्य अपने प्रकृत कार्य से आगे बढ़कर धर्म के ऐसे क्षेत्रों में दखल दे, जिनमें शान्ति और व्यवस्था का कोई प्रश्न नहीं है, तो धर्म को भी यह अधिकार होगा कि ऐसे राज्य के विरूद्ध जनान्दोलन करे और राज्य-शासकों को पदच्युत कर दे।

जैसे यदि राज्य देश में प्रचलित अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म से पक्षपात करे और दूसरे धर्मा का दमन या उनके प्रति अन्याय करे, अथवा उन पर होते हुए अत्याचार से आँख चुराये, तो धर्म को यह अधिकार होगा कि ऐसे राज्य के विरूद्ध राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करे, सीमा यहाँ भी यही होगी कि धार्मिक तटस्थता तथा सर्व-धर्म-समभाव की रक्षा के लिये ही वह ऐसा करता है न कि किसी लौकिक, आर्थिक या राजनीतिक उद्देश्य के लिये, तो दोनों हालतों में सिद्धान्त यही स्थिर होता है कि सामान्यतः न राज्य को धर्म में, न धर्म को राज्य में हस्तक्षेप करना चाहिये। इसका अपवाद इतना ही होगा कि

जब धर्म में अव्यवस्था होगी तब राज्य उसके क्षेत्र में घुसेगा और जब राज्य अपनी धार्मिक निष्पक्षता का अतिक्रमण करके किसी धर्म के विरोध में खड़ा होगा तब धर्म भी राजनीती में हस्तक्षेप करेगा। इस प्रकार धर्म ओर राज्य के कार्य-विभाजन में किसी भौगोलिक सीमा का कोई प्रश्न ही नही उठता। राज्य सब जगह जा सकता है और धर्म भी सब जगह जा सकता है। उनेहे एक दूसरे के कार्य क्षेत्र अर्थात कर्तव्यों के निर्धारण का अधिकार  नही है।

जहाँ तक कर्तव्यों के निर्धार्ण का प्रश्न है, बुनियादी सिद्धान्त यह बनता है कि राज्य का क्षेत्र लौकिक है और धर्म का क्षेत्र पारलौकिक। लौकिक क्षेत्र में वे सभी निर्णय आयेगे जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के द्वारा व्यवहार जगत् की वास्तविक स्थिति एवं तथ्यों को देख समझकर निर्धारित होंगे। पारलौकिक क्षेत्र में वे बात आएगी जो शब्द प्रमाण और आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर स्वीकृत होंगी। पारलौकिक क्षेत्र अर्थात धर्म के तीन अंग होते है- (1) ज्ञानकाण्ड (2) भक्तिकाण्ड (3) कर्मकाण्-ज्ञाकाण्ड में सृष्टि और देवताओं तथा ईश्वर के संबंध में कुछ दार्शनिक विश्वास आते है। इन्हीं विश्वासों के अनुसार आराध्य देवों के प्रति मनुष्य में भक्ति एवं श्रद्धा की भावना उत्पन्न होती है और वह उनके प्रति प्रार्थना, भजन, कीर्तन, जप, ध्यान, व्रत आदि के द्वार अपनी श्रद्धा निवेदित करता है। यह सब विधान



भक्तिकाण्ड के अन्तर्गत समाविष्ट होते है। इसके अतिरिक्त आराधना स्थल मूर्ति आदि का निर्माण करके, देवों की पूजा, यज्ञ तथा प्रार्थना की जाती है, जिसे कर्मकाण्ड के रूप में जाना जाता है। देवपूजा के अतिरिक्त मनुष्य जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में जन्म से मृत्यु पर्यन्त अनेक संस्कार अनुष्ठिक होते है। इन्हें भी कर्मकाण्ड के अन्तर्गत लिया जाता है। इन तीनों काण्ड़ों में ज्ञानकाण्ड तो आन्तरिक है और उसका बाह्य प्रकाशन केवल-पाठन तथा गुरू के द्वारा शिष्य को दिये जाने वाले उपदेश के रूप में ही होता है, अर्थात ज्ञानकाण्ड की अभिव्यक्ति केवल वचन के रूप में होती है। यद्पि भक्ति का मूल-स्थान हृदय है और प्रार्थना स्मरण, जप एवं भजन के रूप में उनकी अभिव्यक्ति भी शब्दों में ही होती है, किन्तु यही जप, ध्यान, भजन आदि जब सामूहिक रूप में होनें लगते है, तब ये कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते है और कर्मकाण्ड से इनका भेद करना कठिन हो जाता है। फिर मन्दिर, मस्जिद आदि विशिष्ट स्थलों में मूर्ति-पूजा, यज्ञ अथवा अन्य मूर्त प्रतीकों जैसे किसी चित्र, पत्थर, जल, वृक्ष आदि की पूजा, परिक्रमा तथा विशिष्ट तीर्थस्थलों की यात्रा आदि के रूप में कर्मकाण्ड का विशिष्ट रूप देखा जाता है, जिसके लिये विशिष्ट विधियाँ मन्त्र, दुआएँ और प्रार्थनाये तथा व्रत, बलिदान आदि का विधान हर धर्म में होता है। ये अनुष्ठान तथा मानव

जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न संस्कार जन्म, विवाह, मृत्यु आदि पूर्णरूप से कर्म के क्षेत्र में आते है, चाहे वे व्यक्तिगत रूप से या सामाजिक स्तर पर अनुष्ठिक हों।

अब विचारणीय विषय यह है कि यद्यपि धर्म के ये तीनों काण्ड परलोकोन्मुख होते है और तत्वतः इनका लौकिक व्यवहार क्षेत्र से कोई विरोध नही होता किन्तु जब कम और अंशतः भक्तिकाण्ड प्रकट रूप मे आते है, विशेषकर अपने सामूरिक रूप में तब कुछ मामलों में विभिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न कर्मकाण्डों में परस्पर विरोध होने लगता है। जैस हिन्दू धर्म में गाय की पूजा की जाती है और इस्लाम में गाय की कुर्बानी पुण्य समझी जाती है। इस्लाम धर्म के ही दो सम्प्रदायों—शिया एवं सुन्नी में कुछ खलीफाओं के बारे में मतभेद है, जिनकी सुन्नी लोग प्रशंसा रते है और शिया लोग निन्दा करते है। गोहत्या और गो-भक्षण के बारे में हिन्दू धर्म का विरोध ईसाई, यहूदी आदि अन्य कई धर्मों से भी है। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के पारस्परिक विरोध के उदाहरण अनेक धर्मों में औ सभी देशौं में प्रचुर मात्रा में मिलते है, और धर्म के नाम पर जितने युद्ध संसार में हुये है, उतने और किसी प्रसंग में नही हुये। ध्यान देने की बात यह है कि ये सभी संघर्ष धर्म के आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक स्वरूप के कारण न होकर सदा उसके



कर्मकाण्ड के कारण ही हुये है क्योंकि कर्मकाण्ड ही व्यवहार-जगत् में प्रकट होता है, यदि किसी देश या समाज में एक ही धर्म प्रचलित हो, तो उसका कर्मकाण्ड भी सर्वसम्मत होता है और उसमें किसी का विरोध नही होता, किन्तु जब आज की स्थिति में प्रायः सभी देशों में अनेक धर्म प्रचलित हो तो उसका कर्मकाण्ड भी सर्वसम्मत होता है और उसमें किसी का विरोध नही होता, किन्तु जब आज की स्थिति में प्रायः सभी देशों में अनेक धर्म प्रचलित हो गये है, तब विभिन्न कर्मकाण्ड जो कि स्थिति में प्रायः सभी देशों में अनेक धर्म प्रचलित हो गये है, तब विभिन्न कर्मकाण्ड जो कि अपनी-अपनी जन्म भूमि के विशिष्ट भौगोलिक एवं एतिहासिक पर्यावरण में विकसित हुये और उसी से अनुकूलता रखते है, दूसरे देशों और समाजों की नयी परिस्थितयों के सर्वथा अनुकूल तो नही ही रह जाते, उस परिस्थिति में इसी प्रकार स्थानान्तरित अन्य धर्मों के कर्मकाण्डों के विशेष रूप से विरूद्ध हो जाते है। वैसे तो एक ही परिस्थिति और देश में उत्पन्न होने वाले धर्मों या सम्प्रदायों में इस कारण भी संघर्ष हो जाता है कि धार्मिक नेता और ऐतिहासिक विशिष्ट पुरूषों के संबन्ध में उनकी धारणा एवं भावना भिन्न-भिन्न हो जाती है, किन्तु यह मतभेद भी संघर्ष के रूप में तभी आता है जबकि वह कर्मकाण्ड़ो के बाह्य रूप में प्रकट होता है। शिया और सुन्नी

अथवा हिन्दू संघर्ष तभी होता है, जब ये व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में उनका सार्वजनिक प्रदर्शन करने लगते है, जहाँ अन्य धर्मानुयायी भी विद्यमान रहते है।

ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि सभी धर्मों को अपने कर्मकाण्डों में कुछ प्रतिबन्ध लगाने पड़ेंगे। ज्ञानकाण्ड और भक्तिकाण्ड तक किसी सीमा की बात नहीं उठती। विश्वास और श्रद्धायें अपनी हद के अन्दर भिन्न-भिन्न होने पर भी कोई समस्या पैदा नहीं करती। केवल कर्मकाण्ड में ही विरोध उत्पन्न होने कारण नियंत्रण और परिसीमन की आवश्यकता होती है। कठिनाई यह है कि सभी धर्म अपनी व्याप्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानते हैं और उसकी कोई सीमा नहीं मानते है। किन्तु बिना सीमा लगाये धर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या हल नहीं हो सकती। अतएव सभी धर्मों को यह स्वीकार करना चाहिये कि धर्म का तात्त्विक स्वरूप आध्यात्मिक एवं भावनात्मक है। कर्मकाण्ड का स्थान गौण ही मानना पड़ेगा और उसमें देशकाल-निमित्त के अनुसार परिवर्तन की अनुमति देनी होगी ''देशकाल निमित्तानां भेदैः धर्मो विभिद्यते।''



अभी तक हमने यह देखा कि धर्म के तीनों काण्ड ज्ञान, भक्ति और कर्म स्वरूपतः पारलौकिक विश्वासों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति हैं। फिर भी कर्मकाण्ड के रूप में आकर जब वे संघर्षरत हो जाते हैं और इस प्रकार शांति एवं व्यवस्था की समस्या उत्पन्न करते हैं, तब वे पारलौकिक क्षेत्र से निकल कर लौकिक क्षेत्र में आ जाते हैं और यहाँ उनका संघर्ष अन्य धर्मों तक सीमित न रहकर, सामाजिक सांस्कृतिक एवं राज्य-व्यवस्था से भी होने लगता है। यद्यपि धर्म अपनी व्यापकता के आधार पर सामाजिक-व्यवहार और राजकीय व्यवस्था में भी अपना समावेश चाहता है, किन्तु यहाँ पर उसका दावा और भी असंगत हो जाता है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि धर्म का मूल स्त्रोंत ऋषियों या मुनियों की स्वानुभूति या इलहाम में होता है और जनसाधरण के लिये उनके द्वारा प्रकट किये हुये शब्द ही प्रमाण होते हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और उस पर प्रतिष्ठत अनुमान की बौद्धिक क्रिया का उनमें कोई स्थान नहीं होता। साथ ही साथ धर्म में यह भी पाया गया है कि लौकिक व्यवहार को देशकाल परिस्थिति के अनुसार बदला जा सकता है और बदलना चाहिये। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साक्षात्कार या इलहाम के समय की परिस्थिति कुछ और थी और अब कुछ और है जिसका आभास पहले नहीं था। ऐसी स्थिति में यदि

लौकिक व्यवहार के परम्परागत रूप को बदलना है, तो यह कौन बतायेगा कि आज के व्यवहार का क्या रूप होना चाहिये? स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर अवतरित धर्म में अथवा आप्त वाक्य से नहीं मिल सकता। आज की स्थिति के नवीन ज्ञान के आधार पर ही आज की समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है, जिसके लिये प्रत्यक्ष और अनुमान की बौद्धिक प्रक्रिया से ही काम लेना पड़ेगा। इसी प्रकार से नवीन सामाजिक मूल्यों और प्रशासकीय कानून का निर्धारण होता भी है। जनसाधारण की सामूहिक बुद्धि से, पारस्परिक तर्क-वितर्क के द्वारा ही राजकीय कानून बनते हैं, और सामाजिक विचार-विमर्श से ही लोक-व्यवहानर निर्धारित होता है। धर्म इसका मूल स्त्रोत नहीं हो सकता। वह लोक व्यवहार पर अपना शासन केवल इसी अर्थ में रख सकता है कि जो व्यवहार मूलतः बुद्धि द्वारा निर्धारित हो जाता है उसकी आलोचना करें। इस आलोचना का एक मात्र आधार नैतिकता का हो सकता है। धर्म देख सकता है कि जो व्यवहार निर्धारित हुआ, वह नैतिक मूल्यों के विरूद्ध तो नहीं है। नैतिकता के अतिरिक्त और कोई आधार धर्म के लिये लौकिक-व्यवहार में प्रवेश करने का नहीं है। अब नैतिकता जिस प्रकार धर्म का अंग है, उसी प्रकार सामाजिकता का भी अंग है। धर्म की बात छोड़ भी दे, तो शुद्ध बुद्धि के आधार पर भी बिना नैतिकता के किसी समाज का धारण



संभव नहीं है। सोवियत रूस का राजकाज धर्म-विरोधी है, लेकिन वह नैतिकता को किसी अन्य राज्य से कम महत्व नहीं देता और न ही उसका समाज विश्रृंखल है। न उसमें संहति या दृढ़ता की कमी है इन विचारों से परिणाम यह निकला है कि नैतिकता ही एक ऐसा विषय है जो धर्म और सामाजिक चिन्तन में समान रूप में प्रतिष्ठित है। इसलिये नैतिकता की दृष्टि से अगर धर्म राजकाज की आलोचना करता है, तो इसका स्वागत होना चाहिये। क्योंकि सामाजिक दृष्टि से भी जो गुण आवश्यक है धर्म के द्वारा भी उसकी पुष्टि हो तो इससे सामाजिक संगठन को और बल ही प्राप्त होता है। किन्तु नैतिकता के अतिरिक्त धर्म के अन्य अंगों का हस्तक्षेप राजकाज या सामाजिक व्यवस्था में न तो अपेक्षित है न समीचीन है। महत्व की बात यह है कि सामाजिक व्यवहार और राज-काज के निर्धारण का मूल उत्स सामाजिक बुद्धि में है न कि धर्म में धर्म की केवल आलोचनात्मक भूमिका है और वह भी केवल नैतिकता के आधार पर यदि धर्म लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में अपनी इसी सीमा को समझ ले और परस्पर विरोधी कर्मकाण्डों को अपनी ओर से सीमित कर लें, तो धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक कलह की शांति अवश्य ही हो सकती है।

# वाल्मीकि व तुलसी के रामायण

**स्व0 डॉ० देवसहाय त्रिवेद**

वाल्मीकि ने सीता चरित, पौलस्त्यवध[1] या रावण वध नामक सम्पूर्ण रामायण काव्य की रचना कर राजकुमार कुश व लव दोनों भाइयों को वेदार्थ का विस्तार के साथ ज्ञान कराने के लिये पढ़ाया, पहले इसे ऋषियों ने सुना, फिर राम की आज्ञा से प्ररित होकर राजसभा में दोनों भाइयों ने राष्ट्र प्रसिद्ध संस्कृत भाषा में इस रामायण को गाया।

उसी प्रकार इस रामायण को शिव ने उमा को शिव ने काकभुसुण्डी को तथा काकभुसुण्डी ने खगेश गरुड़ जी को, याज्ञवल्क्य ने भारद्वाज को तथा तुलसीदास जी ने शूकर क्षेत्र[2] (सोरों जिला एटा) में अपने गुरु से सुन कर जनता को सुनाया तथा अपने ग्रन्थ का नाम रामचरित मानस[3] रखा और इसकी रचना आरम्भ की । संवत् 37=1574 ई0 तथा वाल्मीकि ने अपनी रचना की कलिपूर्व 1200 = 4301 ई० पूर्व।[4]

रामायण का अर्थ है राम का घर, दोनों महाकवियों ने अपनी रचना का विभिन्न नाम रखा किन्तु उनके रचित नाम लुप्तप्राय हो गये और लोग दोनों को रामायण के नाम से ही जानते व पुकारते हैं। दोनों ने राम का गुणगान किया किन्तु दोनों की भाषा, शैली व कथानक में महान् अन्तर हो गया। इसी कथानक का यहाँ पर वर्णन का प्रयास है।

वाल्मीकि ने छः काण्डों की रचना की और कालान्तर में उसमें उत्तरकाण्ड भी आ गया। इसी प्रकार तुलसी ने सात काण्ड की रचना की और उसमें लव कुश काण्ड भी मिला दिया गया । तुलसी ने शिव, उमा व पार्वती चरित का भी खूब गुण गाया किन्तु तुलसी ने राम व शिव को अभिन्न बतलाया जिसमें वैष्णव व शैवों में सद्भाव बढ़े क्योंकि



उस समय लाठी के बल पर प्रयाग में शैवों व वैष्णवों की विशिष्टता सिद्ध की जाती थी। तुलसी का बाल्यकाण्ड विशाल है किन्तु वाल्मीकि का लघु।

**परशुराम :**

तुलसीदास परशुराम का आगमन धनुष टूटने के बाद ही बतलाते हैं।[5] उनके आते ही सर्वत्र हरकम्प मच गया। भृगुमुनि ने धनुष टूट जाने का कारण पूछा तब लक्ष्मण व परशुराम के संवाद ने घोर नदी धारा का रूप धारण कर लिया किन्तु अन्त में श्री रामचन्द्र का बल देखकर उन्हें अपना धनुष दे दिया और तप करने वन चले गये।

वाल्मीकि[6] के परशुराम कहते हैं कि इस वैष्णव धनुष को शिव ने विदेह राजर्षि देवरात को दिया था। मैं महेन्द्र पर्वत पर तप कर रहा था, वहाँ से शिवजी के धनुष टूटने का समाचार सुनकर मैं शीघ्र आया हूँ। राम कहते हैं कि मैं क्षत्रिय हूँ। इससे आपका आदर करता हूँ। आप मेरा तिरस्कार करते हैं अतः उन्होंने परशुराम के हाथ से उत्तम धनुष–बाण व वैष्णवी शक्ति ले ली । पुनः भृगुमुनि का पूजन किया और वे राम की परिक्रमा करके तप हेतु चले गये। यह उस समय की घटना है जब दशरथ अपने पुत्रों के विवाह के बाद अयोध्या को लौट रहे थे।

**राजाजनक :**

तुलसीदास राम के श्वसुर व सास को भी राम का वनवास देखने हेतु जनकपुर से चित्रकूट बुलाते हैं और दोनों कुल के ऋषि मुनि की सभा में राम को लौटने का अनुनय व विनय भरत करते हैं किन्तु वाल्मीकि ने कहीं भी जनक का इस विषय में जिक्र तक न किया। दोनों रामायण में राम यही कहते हैं कि पिता[7] की आज्ञा हम दोनों पालन करें, इसी में सभी का कल्याण[8] है क्योंकि पिता ने जब कैकेयी से विवाह[9] किया था उसी

समय यह वचन दिया था कि कैकेयी का पुत्र ही गद्दी पर बैठेगा, अतः हम दोनों को माता–पिता की आज्ञा माननी चाहिये कैकेयी ने उचित वर माँगा मैं किसी भी हालत में अयोध्या न जाऊँगा। चौदह वर्ष के बाद लौटकर भरत के साथ मिल–जुलकर राज्य भार संभालूँगा।

**जयन्त :**

वाल्मीकि ने सीता अनसूया संवाद अयोध्या काण्ड में किया किन्तु तुलसी ने अरण्य काण्ड में। तुलसी रामायण में इन्द्र पुत्र जयन्त सीता के चरण में चोंच मारकर भागता है।

**सीता चरण चोंच हति भागा। मूढ मंदमति कारन कागा।। (3।1।4)**

रामदास गौड़ इस प्रथम अर्द्धाली का अर्थ सीता का अँचरा करते हैं क्योकि वाल्मीकि के अनुसार (5।32।22) बायसः सहसागम्य विददार स्तनान्तरे–कौवे ने सहसा झपटकर मेरे स्तन में चोंच मार दी और रक्त की धारा बहने लगी। सीता ने यह गुप्त समाचार राम को सुनाने के लिये हनुमान् से सुन्दरकाण्ड में कहा जिससे उन्हें अपने बाण का प्रताप याद हो जाय।

**अग्नि प्रवेश :**

एक समय जब लक्ष्मण कन्दमूल लाने वन गये तब श्री राम ने जानकी से कहा–

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुशीला। मैं कछु करब ललित नर लीला।।

तुम्ह पावक भह करहु निवासा। जो लगि करौं निशाचर नाशा।। (3।24।1)

अग्नि पुरुष हैं ! पर पुरुष को अपनी स्त्री सौंपना पाप है किन्तु अग्नि से ही राम की उत्पत्ति हुई थी अतः एक प्रकार से वे राम के पिता भी हैं। अतः राम ने सीता को



अपने श्वसूर के संरक्षण में रखा ! अपितु लंका में अग्नि से पुनः परीक्षा में सफल निकले। अतः तुलसी ने सीता के अग्नि प्रवेश का नाटक रचकर दिखाया कि असली सीता का हरण नहीं किया गया था। वाल्मीकि ने सीता द्वारा इस अग्नि प्रवेश का कहीं जिक्र नहीं किया है।

सीता लक्ष्मण को फटकारती हैं कि तुम अनार्य, निर्दय, क्रूर एवं कुलाङ्गार हो। मुझसे विवाह करने हेतु छिपकर अकेले चले आये हो कि किस तरह राम मर जायें तो मैं तुम्हारे हाँथ लग जाऊँ, किन्तु मैं प्राण त्याग दूंगी, राम के बिना मैं भूतल पर जीवित न रहूँगी (वाल्मीकि, 3।45।21–26)। किन्तु तुलसी ने केवल पर्म वचन कहकर टाल दिया है और लक्ष्मण राम को खोजने निकल पड़े।

**बालि बध :**

बालि के बध के हेतु राम का आश्वासन पाकर सुग्रीव गर्जने लगा और सभी लोग शीघ्र किष्किंधापुरी में पहुँचकर एक गहन वन में वृक्षों की ओट में छिपकर खड़े हो गये। (वाल्मीकि, 4।14।1। और जब सुग्रीव बाली से मल्ल युद्ध में लड़खड़ाने लगे तब राम ने बाली की छाती में वाण मारा और वह पृथ्वी पर लोटने लगा। (4।14।37) किन्तु तुलसीदास साफ कहते हैं।

विटप ओट देखहिं रघुराई मारा बालि राम तब, हृदय मांझ सर तानि।। (4।8)

वाल्मीकि का बाली राम को धिक्कारता है कि मैं तो आपसे युद्ध करने नहीं आया था, आप धर्मध्वज हैं, आप ढोंगी हैं–मैंने आपके राज्य या नगर में कोई उपद्रव नहीं किया और न तिरस्कार, मैं फल मूल भोजन करता हूँ। दूसरे के साथ मेरी लड़ाई थी। आपने मुझे निरपराध क्यों मारा । हम दोनों में कोई बैर भी नही, वानर का चर्म, रोम व मांस भी

छूने के योग्य नहीं, आप पाप, अधर्म, अनाचार के मूर्ति हैं क्योकि आपने छिपकर मुझे मारा है। यदि आप मेरे साथ युद्ध करते तो यमपुर जाते। मैं आपके पास सीता को सागर तल या पाताल से स्वयं खोज कर ला देता तथा रावण को रस्सी में बांधकर आपके सामने उपस्थित कर देता। अतः आपने यह अनुचित किया कि रणभूमि में मेरा अधर्मपूर्वक वध किया । (4।17) राम से इसका समुचित उत्तर न बन पड़ा। वे कहते हैं कि भरत राजा हैं, उनका आदेश है कि पृथ्वी पर धर्म का पालन व प्रसार हो अतः हम धर्म के प्रसार करने की इच्छा से पृथ्वी पर घूमते हैं। धर्म–भ्रष्ट को दण्ड देते हैं। ज्येष्ठ भ्राता, पिता व गुरु–––सभी पिता तुल्य हैं, तुम अपने छोटे भाई की स्त्री से सहवास करते हो जो तुम्हारी पुत्र–वधू के समान है, इसी अपराध के कारण तुम्हें दण्ड दिया गया है।

यहां धर्म की सूक्ष्म गति को राम ने स्पष्ट नहीं किया । रावण वध धर्म की स्थापना हेतु आवश्यक था, शत्रु के शत्रु से मैत्री करनी चाहिये न कि शत्रु के मित्र से। बाली रावण का मित्र था, तथा सुग्रीव का शत्रु । अतः सुग्रीव भी रावण का शत्रु हुआ। यदि बाली से दोस्ती करते तो रावण को स्यात् वह बतला देता किन्तु बाली के मर जाने पर रावण का एक पक्का दोस्त व बाहु कट गया, अतः बाली को मारना आवश्यक था। तुलसीदास भी कहते हैं कि–

**धर्म हेतु अवतरेऊ गोसाई, मारेहु मोहि व्याधि की नाई।**

सुग्रीव व विभीषण ने भी तो अपने बड़े भाई की स्त्री को रख लिया था। उन्हें राम ने क्यों दण्ड न दिया, इसका उत्तर तुलसी देते हैं। स्वामी सेवक का तथा सेवक अपने स्वामी का दोष नहीं देखता।[10] जिस प्रकार सुग्रीव व विभीषण के दोष को राम ने न देखा।



**विभीषण :**

हनुमान का लंका में प्रवेश कर सीता को खोजना, कठिन काम था। उन्हें यह भी न मालूम था कि सीता कैसी हैं। राम ने केवल प्रतीति हेतु अपनी अंगूठी दी थी कि सीता को विश्वास हो जाय कि इसे राम ने भेजा है। हनुमान् रावण के अन्तःपुर में सभी जगह घूमते हैं कि देख लूं रावण के घर में कैसे लोग रहते हैं और खोजते–खोजते स्वयं अशोक वाटिका में पहुँच जाते हैं, जहां रावण सीता को अपनी भार्या बनाने हेतु अनेक प्रलोभन देता है तथा राक्षसियों को अपनी ओर आकृष्ट करने का आदेश देता है। अतः हनुमान् को विश्वास हो जाता है कि अवश्य ही यही सीता हैं। किन्तु तुलसी विभीषण का सम्पर्क. हनुमान् से कराते हैं और वे सीता से मिलने का उपाय बतलाते हैं। वाल्मीकि इस विषय में मौन हैं, सीता ही हनुमान् से कहती हैं–रावण के भाई विभीषण ने मुझे लौटाने के लिये कोशिश की थी क्योंकि विभीषण की ज्येष्ठ कन्या कला की माता ने उसे मेरे पास भेजा था। उसी ने ये सारी बातें मुझसे कही है। (5।37।11) अतः तुलसी ने विभीषण को बीच में ला दिया।

इन्द्र ने सीता को पायस दिया और अपना दिव्य रूप दिखाने पर पहचान जाने पर उन्होंने क्षीर स्वीकार किया । रावण की लंका में उन्होंने कभी अन्न जल ग्रहण न किया। (वाल्मीकि अरण्यकाण्ड 56 क प्रक्षिप्त सर्ग)। हनुमान राम को सूचना देने हेतु पूरे लंका को देखना चाहते थे अतः रावण की सभा व पूर्ण लंका को अच्छी तरह देखा तथा सीता के सन्मुख राम के अङ्ग–प्रत्यङ्ग की विशद व्याख्या की। (5।35)

**सीता का लौटाना :**

तुलसी कहते हैं कि सीता ने विनय किया कि हे हनुमान मुझे अपने साथ ले चलो तब हनुमान कहते हैं–

**अवहिं जाऊँ मैं मातु लवाई, आयसु नहिं रघुवीर दोहाई।**
**निशिचर मारि तुम्हें ले जइहैं, नारदादि सवै जश गैहें ।। (2।16।3)**

वाल्मीकि का हनुमान स्वयं सीता को ले जाना चाहता है किन्तु वे दो कारणों से टाल देती हैं कि राक्षस तुम्हारा पीछा करेंगे मैं स्यात् मार्ग में गिर जाऊँगी या मार डाली जाऊँगी। किंतु सबसे प्रबल कारण है कि पति भक्ति की ओर दृष्टि रख कर मैं राम के सिवा दूसरे किसी के शरीर का स्वेच्छा से स्पर्श करना नहीं चाहती। रावण के शरीर से जो मेरा स्पर्श हो गया उस समय मैं असमर्थ, अनाथ व विवश थी। मेरा कुछ वश नहीं चलता था।[11]

रावण शेखी बधारता है कि मुझसे सीता ने एक वर्ष का काल मांगा है और मैंने उसे पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की है, यथा।

**सा तु संवत्सर कालं मामयाचत भामिनी।**
**तन्मया त्रारुनेत्रायाः प्रतिज्ञातं वचः शुभम् ।। (6।12।19)**

सीता ने अपने मुँह से कभी नहीं कहा था कि मुझे एक वर्ष का समय दो। सीता ने सदा तिरस्कार पूर्वक उसके जघन्य प्रस्ताव को ठुकराया था। उसने स्वयं अपनी ओर से एक वर्ष का समय दिया था। हनुमान् से मिलने के बाद दो मास शेष रह गये थे। किन्तु तुलसी एक ही मास का समय शेष बतलाते हैं–

मास दिवस मह कहा न माना, तो मैं मारब कठिन कृपाना। (5।10।15)



**अङ्गद :**

**अङ्गद जब लंका दूत बनकर जाते हैं तब राम कहते हैं –**

**बहुन बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ । परम चतुर मैं जानत अहऊँ ।।**
**काजु हमार तासु हित होई । रिपुसन करेहु बतकही सोई ।। (6।17।4)**

अङ्गद ने रावण से कहा–

**जो मम चरन सके सठ टारी ।**
**फिरहि राम सीता मैं हारी ।। (6।34।5)**

किन्तु वाल्मीकि में राम द्वारा अङ्गद को अपना प्रतिनिधि बना कर रावण के यहाँ भेजने का संक्षिप्त उल्लेख है। (6।41) अपितु उक्त चौपाई के अर्थ का लोग अनर्थ कर देते हैं। भला अङ्गद को कभी यह अधिकार हो सकता था कि दूसरे की पत्नी को हार जाय, अतः इसका सीधा अर्थ है कि मैं भले ही हार जाऊं, किन्तु राम बिना सीता को लिये नहीं लौटेंगे।

लक्ष्मण को रावण द्वारा शक्ति लगती है और वे स्वतः स्वस्थ हो जाते हैं. पुनः मेघनाद द्वारा राम व लक्ष्मण दोनों के मूर्छित होने पर जाम्बवंत के आदेश से हनुमान हिमालय से औषधियों के पर्वत को लाते हैं और उन औषधियों की गन्ध से राम–लक्ष्मण व सभी वानर पुनः ब्रह्मास्त्र की पीड़ा से मुक्त हो जाते हैं। (6।74) लक्ष्मण व इन्द्रजित् में घनघोर युद्ध हुआ और मेघनाद मारा गया तब श्री राम मेघनाद वध का समाचार सुनकर प्रसन्न हुए, उन्होंने लक्ष्मण को गले लगाया तथा सुषेण वैद्य ने लक्ष्मण की चिकित्सा की। पुनः राम–रावण में घमासान युद्ध हुआ और रावण द्वारा लक्ष्मण को शक्ति लगी। यथा–

**रावणेन रणे शक्तिः क्रुद्धेनाशीविषोपमा ।**
**युक्ताऽऽशूरस्य भीतस्य लक्षाणस्य बभञ्जसा।। (6।100।34)**

(वह शक्ति विषधर सर्प के समान भयंकर थी। रणभूमि में क्रोधित रावण ने जब उसे छोड़ा तब वह निर्भय वीर लक्ष्मण की छाती में डूब गयी)। राम विलाप करने लगे। उन्हें बहुत विषाद हुआ और कहते हैं कि प्रत्येक देश में स्त्री व बान्धव मिल सकते हैं परन्तु ऐसा कोई देश नहीं दिखता जहाँ सहोदर भाई मिले।[12] अतः मेरे लिये मर जाना ही अच्छा है। तब सुषेण ने राम को समझाया कि युद्ध के मुहाने पर की हुई चिन्ता बाणों के समान होती है और केवल शोक को जन्म देती है। अतः हनुमान शीघ्र जाकर महोदय पर्वत से जिसका पता जाम्बवंत ने बताया था, उसके दक्षिण शिखा के विशल्य करणी (शरीर में घुसे बाण को निकाल कर घाव भरने व पीड़ा दूर करने वाली) सार्वण्य करणी (पहले वाली रंगत लाने वाली), संजीवकरणी (मूर्छा दूर कर चेतना देने वाली व संघानी[13] (टूटी हुई हड्डी को जोड़ने वाली) औषधियों को ले आओ।

हनुमान औषधि न पहचान सके अतः सारे पहाड़ को ही उठा लाये और महा तेजस्वी कपिश्रेष्ठ ! सुषेण ने उस औषधि को कूट–पीसकर लक्ष्मण की नाक में डाल दिया जिससे वे शीघ्र स्वस्थ्य हो गये। तुलसी ने लंका से सुषेण वैद्य व कालनेमि तथा भरत को हनुमान से मिलन की कल्पना की है जो वाल्मीकि में नहीं है।

राम द्वारा रावण के मारे जाने पर विभीषण पश्चात्ताप करते हैं और राम कहते हैं कि बैर मरने तक ही रहता है।[14] मृत्यु के बाद उसका अन्त हो जाता है। अतः जैसे यह तुम्हारा भाई है वैसे ही मेरा भी भाई है। अतः इसका दाह–संस्कार करो।



युद्ध की समाप्ति पर जब सीता ने अपने पतिदेव के सामने उपस्थित होकर उनके मुख का दर्शन किया तब उनका मन प्रसन्नता से खिल उठा। तब सीता के चरित्र पर राम को सन्देह हुआ तथा स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और कहा– मैंने सदाचार की रक्षा की। अपवाद का निवारण और वंश पर कलंक को दूर करने के लिये मैंने शत्रु को मारकर उसके चंगुल से तुम्हें मुक्त किया किन्तु तुम्हारे चरित्र में सन्देह है। अतः मैं अनुमति देता हूँ। तुम्हारे हेतु दशों दिशायें खुली हैं, तुमसे मेरा कोई प्रयोजनः नहीं । जहाँ तुम्हारी इच्छा हो चली जाओ। रावण तुम्हें अपनी गोद में उठा कर ले गया और तुम पर दूषित दृष्टि डाल चुका है । ऐसी दशा में यदि मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ तो. महान कुल में कलङ्क लगेगा।[15]

अतः सीता राम को उलाहना देती हैं कि आप मुझ पर व्यर्थ शंका करते हैं और लक्ष्मण से कहा कि मेरे लिये चिता तैयार कर दो। मेरे पति ने भरी सभा में मेरा त्याग किया है, अतः मैं अग्नि में प्रवेश करूंगी। राम की सम्मति से लक्ष्मण शीघ्र चिता तैयार कर दी और भगवान सूर्य, वायु, दिशायें, चन्द्र, दिन, रात दोनो संध्या, पृथ्वी व अन्य देवों से प्रार्थना की कि यदि मैं मन, कर्म व वचन से शुद्ध हूँ तो अग्निदेव सब प्रकार मेरी रक्षा करें। वह अग्नि में कूद पड़ी। कुछ देर के बाद मूर्तिमान् अग्निदेव सीता को लेकर चिता से प्रकट हुए और राम को समर्पित कर उनकी पवित्रता प्रमाणित की। तब राम ने सीता को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों रामायण के कथानक में आकाश–पताल का अन्तर है।

सन्दर्भ :–


1– वाल्मीकि, 1 ।4 ।7 2– अमर मारती, काशी, 1938 ई0

3– तुलसी, 1 ।36 ।1 4– इण्डियन क्रानोलाजी भवन, बम्बई, पृ०6

5– तुलसी, 1 ।271 6– वाल्मीकि, 1176 ।24

7– पितु आयसु पालिहि दुई भाई। –– तुलसी, 2 ।315 ।2

8– वाल्मीकि, 2 ।110

9– पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रीषीद् राज्यमुल्कमनुत्तमम् ।। (2 ।107 ।3)

10– जेहि अघ वधे व्याध जिमि वाली,
फिरि सुकंठ सोइ की न्हि कुचाली । (1 ।20 ।3–4)
सोइ करतूति विभीषण केरी,
सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी।। (4)

11– भर्तुक्ति पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानरं।
नाहं स्पष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम।। (5 ।37 ।62)
यदह गात्रसंस्पर्श रावणस्य गता बलात्।
अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती।। (5 ।37 ।63)

12– देशे–देशे कलवाणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः।। (6 ।101 ।15)

13– वाल्मीकि, 6 ।101 ।61–23

14– मरणान्तानि वैराणि नितं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।। (6 ।112 ।101)

15– 6 ।115 ।20



लंका, वाराणसी–5




# तुलनात्मक दर्शन : एक समीक्षात्मक विश्लेषण


**स्व0 प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय**


**तुलनात्मक दर्शन से आपाततः यह बोध होता है कि दर्शन की जिस प्रकार अन्यान्य विधाएं है, उसी प्रकार तुलनात्मक दर्शन भी एक दार्शनिक विधा अथवा निकाय है किन्तु इस शब्द की अर्थगवेषणा से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि हमारे विश्वविद्यालयों में अन्यान्य दार्शनिक विधाओं का अध्ययन-अध्यापन तो होता है, किन्तु तुलनात्मक दर्शन का अध्ययन-अध्यपन नहीं होता है। तुलनात्मक धर्म का अध्ययन- अध्यापन कुछ इने-गिने विश्वविद्यालयों में प्रारम्भ हो गया है किन्तु तुलनात्मक दर्शन का अभी तक नहीं। निस्सन्देह, यूरोप में तुलनात्मक दर्शन को "फेनामेनालाजी आँफ फिलासफीज" के रूप में स्वीकारा गया है।**[1]

**भारतीय विश्वविद्यालयों का सारा प्रारूप आक्सफोर्ड एवं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों को निकाय मानकर विलायत से आयातित किया गया है। बहुत लम्बे अर्से तक हम "प्रतीची दर्शन" को दर्शन के रूप में पढ़ते रहे। यूरोप में अभी भी दर्शन विभाग में मात्र पाश्चात्य दर्शन का पठन-पाठन होता है। भारतीय दर्शन अथवा एशिया के अन्य दर्शनों को अध्ययन-अध्यापन**

[1] **यह निबन्ध अखिल भारतीय दर्शन परिषद के 198 के अधिवेशव में स्वामी प्रणवानन्द व्याख्यानमाला के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया।**

एशियन अथवा प्राच्य विद्या विभागों, भारतीय विद्या विभागों में होता है। भारतीय विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों में इस शताब्दी के चौथे एवं पाँचवे दशक में भारतीय दर्शन ने धीरे-धीरे प्रवेश किया। किन्तु केन्द्र में ईसाई धर्म-दर्शन ही रहा है। इस शताब्दी के छठें दशक तक नव्य हेगेलवाद विशेषतः ब्रेडले का निरपेक्षवाद दर्शन की चरम निष्पत्ति के रूप में स्वीकारा गया था। पाँचवे दशक से भारतीय दार्शनिकों का एक वर्ग भारतीय दर्शन को, विशेषतः शांकर वेदान्त को, केन्द्र में ले आने का प्रायस किया। इस वर्ग के प्रथम भारतीय दार्शनिक आचार्य रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे है, जिन्होंने पारमिनीडीज की व्याख्या शांकर वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में की, आचार्य अनुकूल चन्द्र मुकर्जी ने कान्ट की व्याख्या शांकर वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में की, राधाकृष्णन ने ब्रेडले की, रमाकान्त त्रिपाठी ने स्पिनोजा की। क्या इसे हम तुलनात्मक दर्शन की संज्ञा नहीं दे सकते? दो शीर्षस्थ दार्शनिकों की तुलना क्या तुलनात्मक दर्शन नहीं है? हम प्लेटों एवं अरस्तु की तुलना नही करते? दर्शन के दो ही प्रकर हो सकते है - प्लेटोवाद अथवा अरस्तूवाद। हम तुलनात्मक संस्कृति का, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का, तुलनात्मक राजनीतिशास्त्र का, अध्ययन करते है, क्या उसी प्रकार का अध्ययन तुलनात्मक दर्शन नही है? यह उसी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। यह इस शताब्दी की सर्वथा नवीन विधा है।



इस अध्ययन के माध्यम के प्राची-प्रतीची के समन्वय एवं सम्मेलन पर बल दिया जाता है। "तुलनात्मक अध्ययन" केवल तुलनाएँ ही नहीं होते, वे समाजों, संस्कृतियों और सभ्यताओं के बीच तुलनाएँ होती है। उन सीमा रेखाओं के जो "हम" और "उन" के द्वारा परिभाषित होती है, आर-पार विस्तृत तुलनात्मक अध्ययनों का संसार, अनिवार्यतः "उस अन्य यथार्थ" को देखने का फल होता है जो उस दृष्टि से देखा गया हो उस अनिवार्यतः उस यथार्थ से बाध्य और इतर होती है।[2]

प्राची-प्रतीची, प्राच्य-पाश्चात्य शब्दों का क्या आशय है? क्या यह विभाजन सर्वथा निरपेक्ष है? यदि देश-काल सापेक्ष है तो उनका विभाजन कैसे निरपेक्ष होगा? क्या इस्लाम-पूर्व फारस यूनान एवं भारत के मध्य एक सेतु नहीं था? क्या यूनान एवं चीन ईसा की प्रथम शताब्दी में सन्नद्ध नहीं हो चुके थे? यदि यह मान भी लिया जाय कि पाश्चात्य धर्म-दर्शन एवं संस्कृति का प्रमुख उत्स यूनानी-यहूदी एवं ईसाई विचार है तथापि मिस्त्र का सांस्कृतिक अवदान पाश्चात्य धर्म-दर्शन एवं संस्कृति को क्या कम है? इजराइल एवं यूनान, मिस्त्र के कितने ऋणी है, यह सर्वविदित तथ्य है। यूनानियों को मिस्त्र एवं यहूदी संस्कृति का पर्याप्त ज्ञान था। क्या विश्व

[2] दयाकृष्ण (प्र.स.) डायोजिनिज, संख्या-7, 1986,पृ.-77।

संस्कृति को मेसोपोटामिया के योगदान को नकारा जा सकता है? सागर की प्रशान्त गहराईयों में, गिरि-गोह्वरों में विश्व के गहन कान्तारों में माया, अन्टेक, अजटेक आदि अनेक संस्कृतियाँ इतिहास के गर्भ में सोयी पड़ी है। कभी आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका एवं भारतीय प्रायद्वीप, परस्पर सन्नद्ध थे। अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया को हम प्राच्य मानते है या पाश्चात्य? रूस को किधर रखा जाय? प्राची-प्रतीची का, प्राच्य-पाश्चात्य का विभाजन सर्वथा सापेक्ष है। ट्वायनबी ने विश्व-संस्कृतियों का इक्कीस प्रकारों में विभाजन किया है, तो नारथ्राप ने नौ प्रकारों में। इस प्रकार प्राची-प्रातीची का, प्राच्य-पाश्चात्य का विभाजन सर्वथा सापेक्ष है तथापि व्यवहार में हम इनका धडल्ले से प्रयोग करते है। भारत एवं चीन को, अरब एवं इज़राइल को प्राच्य माना जाता है तो यूनान एवं रोम को (यूरोप) तथा अमेरिका को पाश्चात्य।[3]

इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन में मात्र तुलना ही नहीं होती अपितु दो परम्पराओं, समाजों, सभ्यताओं एवं संस्कृतियों की तुलना के माध्यम उनमें समन्वय एवं ऐक्य स्थापित कराने का प्रयास होता है, यही तुलनात्मक दर्शन का परम लक्ष्य है। किन्तु हमें भ्रम में रखा गया है। इस प्रकार व्यवहारतः "तुलनात्मक अध्ययनों का अर्थ था पाश्चात्य समाजों और संस्कृतियों द्वारा

[3] पी.टी. राजू, लेक्चर्स आन कम्परेटिव फिलासफी, पृ. 4।



स्थापित मानदण्डों से दूसरे समाजों और संस्कृतियों को ज्ञान ज्ञानेतर दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों में परखना। इन दूसरे समाजों और संस्कृतियों के विद्धानों ने भी पाश्चात्य समाजों को अपने दृष्टिकोण से देखने के बजाय पाश्चात्य विद्धानों द्वारा देखे गये मानदण्डों को ही स्वीकार कर लिया और सिद्ध करने के प्रयत्न में जुट गये कि उनकी अपनी संस्कृति ने विभिन्न क्षेत्रों में पाश्चात्य संस्कृतियों की उपलब्धियों से तुलनीय उपलब्धियाँ की है और वे किसी भी प्रकार से उनसे कम नहीं है। इस परिस्थिति में ऐसे अध्ययनों के उद्भव को अवरूद्ध कर दिया जिन्हें 'तुल्य तुल्यात्मक अध्ययन' कहा जा सकता है और जो इन क्षेत्रों में अधिक संतुलित अध्ययनों के आधार बन सकते थे।[4] इस प्रकार मात्र एक परम्परा रही, वह पाश्चात परम्परा रही, अन्य परम्परा की स्वीकृति ही नहीं हुई। निस्सन्देह आधुनिक विज्ञान एव तकनीकी का विकास पश्चिम में हुआ, अतः पश्चिम ही समस्त ज्ञान विज्ञान का निकस माना गया। दर्शन के जो भी इतिहास लिखे गये वे वस्तुतः पाश्चात्य दर्शन के इतिहास रहे। रसेल पहले विचारक है जिन्होने इस तथ्य को स्वीकार किया। व्यवहारतः सर्वाधिक प्रचलन खृष्टीय सन् का है। हमारे स्वतन्त्र भारत के प्रशासनिक क्रिया कलाप खृष्टीय सन् से नियन्त्रित है, हमारी मानसिकता में

[4] दयाकृष्ण (प्र.सं.) डायोजिनीज, संख्या- 7 1986, पृ. 78।

यह संस्कार इतना गम्भीर है कि हम चाहे या अनचाहे पहली जनवरी को ही वर्ष का प्रथम दिन मानते है, शुभ कामनाओं का आदान-प्रदान करते है। ऐसा क्यों? ग्रीकशब्द क्यों नही? रोमन सन् क्यों नहीं? विक्रम संवत क्यों नही? क्या इसलिए कि 8वी शताब्दी पर्यन्त स्वयं अंग्रेज जंगली एवं बर्बर रहे । क्योंकि विगत 3 सौ से अधिक वर्षों तक पूरे विश्व में उनका साम्राज्य था, वह भी ऐसा विशाल साम्राज्य जिसमें कभी सूर्यास्त नहीं होता था। समस्त ज्ञान विज्ञान के वही आदर्श बन गये। "डिक्लाड़न आफ द वेस्ट" में स्पेन्गलर ने अंग्रेजों के ऐतिहासिक बोध पर समीचीन टिप्पणी की है। अमेरिका का कुल इतिहास कितने वर्षों का है? किन्तु वह पूरे विश्व में ज्ञान विज्ञान एवं तकनीकी का प्रमुख नियामक एवं व्यवस्थापक बन गया है। पाश्चात्य विचारकों का दावा है कि भारतीयों में ऐतिहासिक बोध ही नहीं है। वे ब्रह्मवादी है। उनका ब्रह्म महाकाल एवं अकाल है। क्या महाकाल एवं अकाल का भी इतिहास होता है? कितने राम, कितने कृष्ण, कितने बुद्ध आये, चले गये एवं आते रहेंगे। कल्प-कल्पान्तर की काल-गणना करने वाले भारतीयों में ऐतिहासिक बोध हो भी कैसे? हमारी मानसिकता में ईसाई संस्कृति घर कर गयी है। "आक्सफोर्ड एवं कैम्ब्रिज एवं अब "हार्वर्ड" एवम् कैलिफोर्निया हमारी शैक्षिक एवं बौद्धिक ऊचाई के मापदण्ड है । शिक्षा एवं शिक्षाविदों के ये



मक्के-मदीने है. यह तो समझ में आता है किन्तु अब देश के प्रशासक भी नियमित रूप से इन विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण हेतु भेजे जा रहे है। देश की इससे बड़ी बिडम्बना और क्या हो सकती है? ऐसा क्यो? जहाँ तक इस्लामी दर्शन की बात है, वह सभी दर्शन के अंतर्गत आ ही जाता है। पाश्चात्य दर्शन के ग्रन्थों में अरबी दर्शन पर एकाध अध्ययन तो होता ही है। किन्तु उनमें चीनी दर्शन, जापानी दर्शन, अफ्रीकी दर्शन भारतीय दर्शन का नामोनिशान नही। ऐसा भेद भाव क्यों? हम अन्यान्य दर्शनों के प्रति भले ही अनभिज्ञ हो किन्तु भारतीय-दार्शनिक परम्पराओं का हमें बोध है। अतः तुलनात्मक दर्शन के संन्दर्भ में अपनी दार्शनिक परम्पराओं पर विचार करना एवं उन पर इस दृष्टि से प्रकाश डालना सर्वथा वांछनीय होगा। किन्तु इसके पूर्व पाश्चात्य दर्शन के परप्रेक्ष्य में तुलनात्मक दर्शन पर कुछ और विचार कर ले।

1923 में फ्रेंच-प्रच्यविद्याविद पाल मैसल आवरसील ने प्रथम पुस्तक "कम्परेटिव फिलासफी" प्रकाशित की।[5] इसके बाद 1953 में इन्डोनिशिया के प्राच्य विद्याविद क्ली स्वान लायट की पुस्तक "मैथड्स आँफ कम्परेटिब

[5] अंग्रेजी अनुवाद केशनपाल, लन्दन से प्रकाशित।

फिलासफी" प्रकाश में आयी।[6] इसके बाद अमेरिकन प्रो. एम. एस. सी. नारथ्राप की कृति "द मीटिंग आँफ ईस्ट एण्ड वेस्ट" प्रकाशित हुयी। यह एक चर्चित रचना है। प्रो. नारथ्राप के अनुसार प्राच्य अनुभूति प्रज्ञा प्रधान है तो पाश्चात्य बुद्धिप्रधान। वे प्राची-प्रतीची की अनुभूति एवं बुद्धि के समन्वय के हिमायती है। "यूरोप में तुलनात्मक दर्शन" एक प्रकार की "फेनामेनालाजी आफ् फिलासपीज" है, पाल मैसल आवरसेल इस धारणा के प्रणेता माने जाते है उन पर फ्रान्स के समाज वैज्ञानिक-अनुभववादियों का भरपूर असर था।

मैसल पाल आवरसेल के अनुसार दर्शन गोचर जगत् का अध्ययन है कोई भी दार्शनिक अपने देश काल का परिवेश का अतिक्रमण नही कर सकता। यदि सुकरात अपने परिवेश से अभिभूत है तो कन्फ्यूसियस् अपने परिवेश से एवं बुद्ध अपने परिवेश से। इस प्रकार तुलनात्मक दर्शन किसी काल विशेष की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं का परस्पर तुलनात्मक अनुभव-प्रधान अर्थ विवेचन है। यह एक महत्वपूर्ण अध्ययन है। किन्तु इसकी उपादेयता समाज वैजानिक विषयों के लिए अधिक है। यह बात मात्र इस तथ्य पर प्रकाश डालती है कि कोई बड़ा मानव व्यक्तित्व सर्वथा अपने काल विशेष का प्रतिफल होता है। किन्तु दर्शन मात्र इतना ही नहीं है। इसका

[6] युनिवर्सिटी आफ लाइडेन प्रेस, लाइडेन।



उद्धेश्य काफी विशाल है। दर्शन मानव एवं जगत् के स्वरूप पर प्रकाश तो डालता ही है, इससे आगे बढ़कर इन दोनों की अर्थवत्ता एवं लक्ष्य पर भी प्रकाश डालता है। इस प्रकार दर्शन जीवन एवं जगत् के प्रति उदात्त दृष्टि देता है। तुलनात्मक दर्शन समग्र जीवन के प्रति समग्र दृष्टि है। यह अपनी दिव्यता का, पूर्णता का बोध है। किन्तु ऐसी दृष्टि फेनामेनालाजी में कहाँ सम्भव है? इसी कारण प्रो. नारथ्राप ने तुलनात्मक दर्शन को मेटाफिलासफी की संज्ञा दी है। क्योंकि इसमें हम सभी दार्शनिक दृष्टियों का मूल्यांकन करते है।

फेनामेनालाजी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हेगेल ने किया- "दि फेनामेनालाजी आँफ स्पिरिट्" जिससे उन्होंने चेतना का विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति एवं समाज के विकास कम को दिखाकर उसके तत्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय अन्तर्निहितों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। ब्रेन्टालों के माध्यम से इस शब्द का यही रूप एडमण्ड हुसर्ल में स्पष्ट हुआ। स्वयं हुसर्ल के दर्शन में फेनामेनालाजी के विकास का एक लम्बा क्रम है जो गोचर जगत् के वर्णनात्मक अध्ययन से प्रारम्भ होकर अन्त में दार्शनिकता के उस बिन्दु पर ले जाता है जो सभी प्रकार की पूर्वमान्यताओं, पूर्वाग्रहों एवं पक्षपातों सें रहित हो, वे मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक एवं आदिम वस्तुवादी दृष्टिकोणों के

दोषों से मुक्त हो इस प्रकार फेनामेनालाजी दार्शनिक विधा के साथ-साथ एक दार्शनिक विधि भी है। निस्संदेह हुसर्ल की फेनामेनालॉजी-फेनामेनागोचर जगत् के वर्णानात्मक अध्ययन से अवश्य प्रारम्भ होती है किन्तु इस गोचर जगत् का विषयी-चेतना, विषयापेक्षा का जो उत्स है, उसके स्वरूप, एवं संरचना पर भी प्रकाश डालता है। पाश्चात्य दर्शन की यह अप्रतिम उपलब्धि है जो उसे तुलनात्मक दर्शन की अपेक्षाओं एवं उद्देश्य के समीप पहुँचा देती है।

मैक्समूलर आदि पाश्चात्य प्राच्य-विद्याविदों ने अपने गम्भीर अध्ययन एवं शोध से यह प्रमाणित किया है कि यूनानी, ईरानी एवं भारतीय संस्कृतियों का उत्स एक ही है। एथेन्स में सुकरात की मुलाकात भारतीय आचार्यों से हो चुकी थी।[7] पाणिनि के अपनी अष्टाध्यायी में यूनानी लिपि की चर्चा की है। उन्होने यूनानियों ही के लिये यवन शब्द का प्रयोग किया है। सभी धर्मों का उदय प्राच्य में हुआ। इसमें किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है। यूरोप के पुनर्जागरण-काल पूर्व तक प्राच्य चिन्तन छाया था। इस्लाम के विकास ने अवरोध का काम किया किन्तु पुनः इस्लाम अवरोध के बावजूद भारतीय विद्या 19वी शताब्दी में संस्कृत भाषा के माध्यम यूरोप के सर्वाधिक उर्वर स्थल जर्मनी में छा गयी। गोथे, फिख्टे, शेलिंग, हेगेल, शोपेनहावर,

[7] एस. राधाकृष्णन, ईस्टर्न रेलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, वलैरेन्डन प्रेस, आक्सफोर्ड 1931, पृ. 151।



मैक्समूलर एवं डायसन ने भारतीय विद्या की भूरि-भुरि प्रशंसा ही नहीं, इनमें से अधिकांश ने अपने सम्पूर्ण जीवन को भारतीय विद्या के प्रति समर्पित किया। ये सभी हमारे लिये ऋषिवत् परमपूज्य है। इन्होने भारतीय के गौरव एवं माहात्म्य का भरपूर प्रचार एवं प्रसार किया।

प्रतीची अपने प्राचीत्व को कैसे नकार सकता है? सारे धर्म प्राची में उत्पन्न हुए। इस प्रकार प्राची ने प्रतीची को धर्म एवं दर्शन दिया तो 16 वी शताब्दी से प्रातीची ने प्राची को विज्ञान एवं तकनीकी दिया, क्योकि इनका जन्म प्रतीचि में हुआ।

ईसाई धर्म की उत्पत्ति एलेजिन्डिया में हुई थी एवं वही से रोम के व्यवस्थित शासन तन्त्र ने इसे अपनाया जो धीरे-धीरे यूरोप एवं अमेरिका में छा गया। यही एलेजिन्डिया प्राची-प्रतीची के प्रथम सम्मेलन का स्थल है।[8] एक दार्शनिक के अनुसार 1964 में होनोलूलू में प्राची-प्रतीची के दार्शनिको के सम्मेलन का निष्कर्ष यह रहा कि पाश्चात्य संस्कृति मुख्यतः बौद्धिक है तो जापानी संस्कृति सौन्दर्यपरक, चीनी संस्कृति नैतिक है तो भारतीय तात्विक[9] इन चारों के समन्वय को कौन नहीं चाहेगा? किसी भी दार्शनिक का यह

[8] पी.टी.राजू लेक्चर्स आन कम्परेटि फिलॉसफी, पृ.- 31।

[9] वही, पृ. 35

दायित्व है कि वह अपनी परम्परा के साथ-साथ अन्य दार्शनिक परम्पराओं का अध्ययन करे एवं उसकी अच्छाइयों को ग्रहण करे। प्राची एवं प्रतीची के मिलन से "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श का साक्षात्कार होगा।

प्राची के आलोक से जो प्रतीची आलोकित हुआ उसी ने प्राची को बर्बर, जंगली एवं आदिम आदि विशेषणों से मण्डित किया। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है?

अब हम प्राची की अपनी परम्परा पर थोड़ा सा प्रकाश डालें। भारतीय दर्शन को एक लम्बे अर्से तक प्रतीची ने दर्शन की कोटि में नही स्वीकारा। उनका भारतीय दर्शन पर यह आक्षेप था कि यह वैराग्यवाद, मोक्षवाद एवं परलोकवाद का हिमायती है, एवं इसका विश्वास तर्क तथा अनुभव से परे आप्तता, प्रातिभ साक्षात्कार अथवा प्रज्ञा में अधिक है, उनका जो आक्षेप है उसे ही हम अपनी पहचान मानते है। वही हमारा गौरव है। भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में जैन, बौद्ध एवं वेदान्त पर मोक्षवाद, परलोकवाद एवं वैराग्यवाद का आक्षेप सर्वाधिक है। अन्य दार्शनिक विधाएँ- सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक एवं पूर्व मीमांसा वस्तुवादी है। न्याय एवं मीमांसा प्रमाणशास्त्र के सशक्त हिमायती है। हरिभद्रसूरि ने "षड्दर्शनसमुच्चय की रचना की। स्वयं जैनाचार्य



होते हुए सभी भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का सम्यक् विवेचन बिना किसी आग्रह के किया है। वही बात सर्वदर्शनसंग्रहकार में देखने को मिलती है। बौद्ध दर्शन असंग वसुवन्ध नागार्जुन धर्मकीर्ति चन्द्रकीर्ति एवं दिड़नाग जैसे तर्क विद्या के एक से एक धुरन्धर आचार्यों को उत्पन्न किया। ब्रह्म जिज्ञासा का प्रथम साधन नित्यानित्यवस्तु विवेक है, अर्थात "यथाभूत" को सत्य को समझने की आर्हता, योग्यता। ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी का न्याय प्रस्थान है। आचार्य शंकर ने तर्कपाद में अन्य भारतीय दार्शनिक परम्पराओ "का खण्डन श्रुति निरपेक्ष तार्किकता के निकष पर किया है इह तु वाक्य निरपेक्ष स्वतन्त्रस्तदयुक्ति प्रतिषेधः क्रियते"। वादन्याय की परम्परा भारतीय परम्परा है वादिप्रतिवादिभ्यां विर्णीतोअर्थः वादः, वादी प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ ही वाद है। यह शास्त्रार्थ की वैज्ञानिक विधि है, प्रक्रिया है। वादन्याय सत्यान्वेषण की सर्वथा वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसके बीज वेदों में विद्यमान है किन्तु उपनिषदों में इस प्रक्रिया का रूप सुस्पष्ट हो जाता है। वादन्याय सिद्धान्त के रूप में सर्वप्रथम गौतम के न्यायसूत्र में मिलता है। न्यायसूत्र के अनुसार प्रमाण और तर्क के आधार पर प्रतिपक्ष का खण्डन एवं सिद्धांत पक्ष का मण्डन वाद है। वाद में वात्स्यायन, उद्योत्कर आदि ने इसे पल्लवित एव पुष्पित किया। बौद्धचार्य दिड़नाग शान्तरक्षित एव धर्मकीर्ति नैयायिकों से पीछे

नही रहे। इसी वादन्याय का परिष्कार आचार्य गंगेश के अवच्छेदकता निरूपण की प्रक्रिया में किया गया है। समूचा भारतीय वाड्गमय- साहित्य, इतिहास, पुराण, दर्शन, आयुर्वेद यदि नव्य न्याय की परिष्कार शैली में नही लिखा गया तो उसे शास्त्र के रूप में स्वीकृति सादर प्राप्त नही होती थी। वादन्याय एव परिष्कार की प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विकास हुआ है। बौद्ध् ने "प्रमाणवार्तिक" की रचना की, तो जैनों ने "स्याद्वदमञ्जरी" की, अद्वैतियों ने खण्डनखण्डखाद्य की। आचार्य रामानुज ने समानुपपत्तियाँ उठायी जिनका निखार 'शतदूषणी' में हुआ प्रत्युत्तर में 'शतभूषणी' की संरचना की गयी।

प्रतीची प्राची के आलोक से ही आलोकित हुआ, किन्तु वह उसके समग्र आलोक को, प्रकाश को, सत्य को ग्रहण न कर सका। उसे उसने खण्डशः ग्रहण किया। यही कारण है कि सत्य जो अखण्ड, समग्र एव पूर्ण है सभी दृष्टि मे खण्डित अधूरा एवं अपूर्ण हो जाता है। सभी दृष्टि में प्रकृति अन्न है भोग्या है, साधन है अतः प्रकृतिक प्रकृतिदोहन वहाँ के मनुष्य का अधिकार है। सभी दृष्टि उपभोक्तावादी है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने इस सीमा तक विकृत्ति पैदा कर दी है कि सारा पर्यावरण दूषित हो गया है। जल,वायु, अन्न, फल, पृथ्वी, आकाश, समुद्र एवं अब आन्तरिक्ष भी दूषित हो गये है।



वे अब हमारे लिए अभिशाप बनते जा रहै है। इसके विपरीत भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि अर्थगवेषणा एव आत्मपर्थेषणा के सनातन इतिहास की सांकेतिक आदि व्यक्तियों का विषय है। भारतीय दृष्टि तत्वतः "एक सत्" की दृष्टि है, अद्वैती द्ष्टि है, "ईशावास्यमिदम" की दृष्टि है, वासुदेवः सर्वम् की दृष्टि है, "रसो वै सः" की दृष्टि है, "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" की दृष्टि है। फलस्वरूप प्रकृति के पोर-पोर में उसे "तस्य भासा" का ही प्रकाश दिखायी पड़ता है। वैदिक शान्तिपाल कितना उदान्त एवं मंगलम है-

द्योः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः
पृथिवी शान्तिरापः शांतिरोषधयाः शान्ति।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्ति ब्रंहमशांतिः।
सर्व शान्तिः शान्तिरेवशान्तिः सामाशान्तिरेधि।
शुक्ल यजुर्वेद संहिता 36/10/

समस्त अनेकय में एकता, समस्त भेदों में एक अखण्ड अभेद- "अविभक्तं विभक्तेषु" "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि आत्मनि" "यो मां पश्यति सर्वत्र च सर्वम् च मयि पश्चयति" सर्वत्र अखण्ड अनन्त पूर्ण अद्वैत ही तो है। अतः "सर्वरूपायनमौनयमः" प्रतिबौधविदितम् प्रत्येक ज्ञान में उसी का बोध है। सभी मनुष्यों में ही नही, सभी प्राण्यों में ही नही अपितु जगत

के कण-कण में एक ही अद्वैत तत्व का दर्शन। इसिलिए श्रीमद्भागवत का निम्न शलोक कितना सार्थक है-

खं वायुमाग्नि सलिल महीं च ज्योतीषि सत्वानि दिशीद्रुदीन्।
सरितसमुद्राश्च हरे शरीरम यत् किंच भूतं प्रणभेदनायः।।

श्रीमद्भागवत 11/2/41

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि, प्राणी, निशाएँ, वृक्ष नदियों और समुद्र जो कुछ भी है वे सब भगवान हरि का शरीर ही है। अतः सबको अनन्यभाव से प्रणाम करें। तुलनात्मक दर्शन का आदर्श साक्षात्कार अद्वैत की भावभूमि पर प्रज्ञापारमिता की भावभूमि पर ही सम्भव है। उत्तरयोगी श्री अरविन्द का उद्घोष कितना समीचीन है। समग्रपूर्णता परम दिव्य से सच्चिदानन्द से, परमात्मा से एकाकारता है। परमात्मा से एकाकारता सभी वस्तुओं एवं प्राणियों से एकाकारता है। समग्र दिव्यपूर्णता का यही सार है।[10]

[10] ब्रह्मसूत शंकराभाष्य तर्कपाद, 2/2/1



सन्दर्भः-


1. पी.टी.राजू.लेक्चर्स आन कम्परेटिव फिलासफी, पूना विश्वविद्यालय, पूना, 1970, पृ. 81।
2. वही, पृ. -2
3. दयाकृष्ण(प्र.स.) डायोजिनीज, संख्या-7,1986, पृ. -77।
4. पी.टी. राजू, लेक्चर्स आन कम्परेटिव फिलासफी, पृ. 4।
5. दयाकृष्ण (प्र.सं.) डायोजिनीज, संख्या- 7 1986, पृ. 78।
6. अंग्रेजी अनुवाद केशनपाल, लन्दन से प्रकाशित।
7. . युनिवर्सिटी आफ लाइडेन प्रेस, लाइडेन।
8. एस. राधाकृष्णन, ईस्टर्न रेलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट, वलैरेन्डन प्रेस, आक्सफर्ड 1931, पृ. 151।
9. पी.टी.राजू लेक्चर्स आन कम्परेटि फिलॉसफी, पृ.- 31।
10. वही, पृ. 35
11. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य तर्कपाद, 2/2/1
12. श्री अरविन्द, दि सेन्थासिस आफ योग, अरविन्द आश्रम पांडिचेरी, सिक्स्त स्प्रिंट. 1971, पृ. - 677। लेखक का समग्र योग, पृ. - 143।

# पातञ्जलयोगदर्शन में ईश्वरविचार

डा. कृपाशंकर

भारतीय दर्शन में ईश्वर की अवधारणा का विवेचन विविध दृष्टिकोणों से हुआ है, जिनमें उपासना की दृष्टि से किया गया विवेचन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार का दायित्व ईश्वर पर आरोपित करते हुए कहीं उसे जगत् का निमित्ताकारण तो कहीं अभिन्ननिमित्तोपादान कारण स्वीकार किया गया है, जबकि कुछ ऐसे भी दार्शनिक हैं जो ईश्वर को स्वीकार किया बिना ही सृष्टि की व्याख्या कर लेते हैं। निरीश्वरवादी दर्शनों में सांख्यदर्शन की भी गणना होती है जो प्रकृति और पुरूष के संयोग से ही प्रकृति के सृष्टि एवं प्रलयरूप व्यापार को संभव मानता है। अचेतन प्रकृति चेतन पुरूष-1 अधिष्ठित होकर ही अपने सृष्टिव्यापार में प्रवृत्त होती है। अचेतन प्रधान में प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले ईश्वर नामक किसी अन्य तत्व की आवश्यकता नहीं पड़ती। यद्पि सांख्य में ईश्वर की सत्ता को लेकर बहुत विवाद है, योगदर्शन में स्पष्टरूप से ईश्वर को स्वीकार किया गया है, जिससे इसे सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। यहाँ सूत्रकार ने ईश्वर को साधना के सबसे महत्वपूर्ण आलम्बन के रूप में ही स्वीकार किया है। योग का लक्ष्य पुरूष-1 की स्वरूपावस्था की प्राप्तिरूप कैवल्य है जो



चित्त की सभी वृत्तियों के निरूद्ध हो जाने पर ही संभव है। सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तिनिरोध के विभिन्न साधनों में सर्वप्रथम अभ्यास एवं वैराग्य का उपदेश किया है।[1] ईश्वर का प्रसंग योगसूत्र में उस समय आता है जब असम्प्रज्ञातसमाधि के द्विविध रूपों का विवेचन करते हुए बताया गया कि भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि विदेहों एवं प्रकृतिलीनों को और उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि योगियों को प्राप्त होती है।[2] वाचस्पतिमिश्र[3] के अनुसार अपने पूर्वजन्म के संस्काररूप अदृष्ट के कारण जिन योगियों के श्रद्धादि उपाय मृदु, मध्य एवं अधिमात्र परिमाण वाले होते है उन्हे मृदूपाय, मध्योपाय एव अधिमात्रोपाय वाले योगी कहा जाता है और पूर्वजन्मीय वासनारूप अदृष्ट के कारण उनका संवेग (वैराग्य) मृदु, मध्य एवं तीव्र परिमाण होता है, जिससे तीनों प्रकार के योगियों के पुनः मृदुसंवेग, मध्यसंवेग एवं तीव्रसंवेग वाला होने से कुल नौ प्रकार के योगी कहे जाते हैं। सवेग का अर्थ वाचस्पतिमिश्र वैराग्य बताते हैं जबकि विज्ञानभिक्षु[4] उपायों के अनुष्ठान में शीघ्रता करना। इन योगियों में उपाय एवं संवेग की उत्कृष्टता के आधार पर सूत्रकार[5] ने तीव्रसंवेग वाले योगियों को अतिशीघ्र समाधिलाभ बताया है। विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट किया है कि इन नौ प्रकार के योगियों में अधिमात्रतीव्रसंवेग वाले योगियों को ही समाधिलाभ एवं समाधिफल (कैवल्य) की शीघ्रतम प्राप्ति होती

है। अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियों के निरोध में प्रयत्नशील ये सभी योगी उच्चकोटि के साधक हैं।

उपर्युक्त नौ प्रकार के योगियों द्वारा समाधिलाभ की प्रक्रिया में विचारणीय है कि इनमें तारतम्यता का कारण क्या है? टीकाकार इसमें पूर्वजन्म के संस्कार एवं वासनारूप अदृष्ट को हेतु मानते हैं, किन्तु योगसाधना के मार्ग में आने वाले व्याधि, स्त्यान, संशय आदि अन्तराय भी इसमें हेतु हो सकते हैं। इनमें मुक्ति पाकर शीघ्र समाधिलाभ के उपाय में भी जिज्ञासा होती है कि क्या अभ्यास वैराग्य के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय भी है, जिससे समाधि और उसके फल की शीघ्रतम प्राप्ति हो सके? इसके उत्तर में सूत्रकार का कथन् है कि ईश्वरप्रणिधान से भी समाधिलाभ में शीघ्रता होती है। व्यास के अनुसार प्रणिधानरूप भक्तिविशेष से अनुकूल हुये ईश्वर के अभिध्यानमात्र (संकल्पमात्र) से योगी को समाधि और उसका फल (कैवल्य) आसन्नतम होता है। वाचस्पतिमिश्र ने अभिध्यान पद का अर्थ भवि-यत्कालिक पदार्थ की इच्छा बताते हुये अभिध्यानमात्रेण का अर्थ- उपायानतर के बिना ईश्वर द्वारा संकल्पमात्र से भक्त पर अनुग्रह करना और उसे अभीष्ट समाधिलाभ एवं समाधिफल प्राप्त कराना बताया है। अभ्यास वैराग्य के विकल्प के रूप मे यहां उपदिष्ट ईश्वरप्रणिधान परमात्मविषयाक सर्वश्रेष्ठ



ध्यानयोग है, जिसमें भक्तयोगी के ध्यान का विषय एक मात्र ईश्वर ही है। ईस्परप्रणिदान योगसूत्र में व्याख्याकारों के अनुसार तीनों प्रकार के योगियो के लिये उपदिष्ट हुआ है- उत्तमकोटि के योगियों के लिये अभ्यास वैराग्य के विकल्प के रूप में (ईश्वरप्राणिधनाद्वा) मध्यकोटि के साधकों क लिये उपदिष्ट क्रियायोग के अन्तर्गत (तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः) और मन्दकोटि के साधकों के लिये उपदिष्टि अष्टांगयोग में नियमान्तर्गत (शौचसन्तोषपतः स्वध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः)। इसमें इसका महत्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। ईस्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। योगियों की कोटि को लेकर वाचस्पतिमिश्र एवं विज्ञानभिक्षु में मतभेद है। वाचस्पतिमिश्र[7] व्युत्थानचित एवं समाहितचित्त से युक्त दो ही प्रकार के योगी मानते हुये 'समाधिपाद' में ईश्वरप्रणिधान को 'समाहितचित्त' वाले योगियों के लिये एवं 'साधनपाद' में क्रियायोग एवं अष्टांगयोग के अन्तर्गत ईश्वरप्रणिधान को 'व्युत्थानचित्त' वाले योगियों के लिये उपदिष्ट मानते हैं, जिन्हें क्रमशः योगारूढ एवं आरूरूक्षु कहा जाता हैं; किन्तु विज्ञानभिक्षु[8] के अनुसार सूत्रकार द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध के लिये अभ्यास, वैराग्य, क्रियायोग एवं अष्टांगयोग का उपदेश निश्चय ही उत्तम, मध्य एवं मन्दकोटि के साधकों के लिये हुआ है,

जिन्हें क्रमशः 'योगारूढ युज्जान' एवं 'आरूरूक्ष' कहा जाता है। अन्यथा नियम के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान के विद्यमान् होने पर भी उनका क्रियायोग के रूप में स्वतन्त्र कथन अष्टांगयोग के पूर्व न किया जाता है। इससे यह निर्भ्रान्तरूप से सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक कोटि के साधकों के लिये ईश्वरप्रणिधान का महत्व है और उसका यह महत्व इस तथ्य से और भी पुष्ट हो जाता है कि समाधिपाद में अभ्यास वैराग्य के बाद क्रियायोग में तप एवं स्वाध्याय के बाद ईश्वरप्रणिधान का निर्वचन हुआ है, जो निश्चय ही इसकी श्रेष्ठता का सूचक है।

ईश्वर के स्वरूप का विवेचन करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने उसे क्लेश, कर्म विपाक एवं आशय से अपरामृष्ट पुरूषविशेष कहा है। व्यास के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष, और अभिनिवेश ये पञ्चक्लेश हैं, जो नानाविध दुःखों द्वारा सांसारिक पुरूष का पीडित करते हैं। अनित्य का नित्य, अशुचि को शुचि, दुःख को सुख और अनात्म को आत्मा समझना अविद्या[10] है। अविद्या स्वयं एक क्लेश है और सभी क्लेशों का हेतु भी है। अविद्या के कारण द्रष्टा एवं दृश्य में एकात्मकता की प्रतीति अस्मिता[11] है। सुखभोग से उत्पन्न संस्काररूप में विद्यमान आशय (वासना) ही राग[12] है। दुःखभोग से उत्पन्न संस्काररूप में विद्यमान् आशय (वासना) ही द्वेष[13] है, व्यासभाय में



राग द्वेष को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि सुखाभिज्ञ जीव का सुख की अनुस्मृतिपूर्वक सुख में या सुख के साधनों में जो स्पृहा, तृष्णा या लोभ होता है वही राग है और इसके विपरीत दुःख में या दुःख के साधनों में जो प्रतिघात की इच्छा, मानसिक क्षोभ, घृणा या क्रोध होता है, वही द्वेष है। मृत्युभय को उत्पन्न करेन वाली क्लेशवृत्ति अभिनिवेश[14] है जो साधारण प्राणियों एवं विद्वानों दोनों में विद्यमान रहती है। धर्म और अधर्म को क्रमशः कुशल और अकुशल कहा जाता है। धर्माधर्म की उत्पत्ति कर्म से होती है, अतः औपचारिक रूप से धर्माधर्म को कर्म कहा जाता है। शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न जाति, आयु एवं भोगरूप फल को विपाक और इन कर्मफलों के अनुरूप बनने वाली वासाना को जो चित्तभूमि में विद्यमान रहती है, आशय कहा जाता है। इस प्रकार क्लेशादि से अपरामृष्ट पुरूषविशेष को ही ईश्वर संज्ञा से अभिहित किया गया, किन्तु क्लेशादि तो चित्त के धर्म है त्रिगुणातीत पूरूष तो स्वरूपतः इनसे अपरामृष्ट ही रहता है, तो फिर क्लेशादि का पुरूष में प्रतिषेध करने की व्यर्थ चेष्टा सूत्रकार ने क्यों किया? इस आशंका का समाधान करते हुये 'व्यासभाष्य' में कहा गया है कि यद्यपि क्लेशादि चित्त (बुद्धि) के धर्म है किन्तु दृष्टा दृश्य के संयोग के कारण ये धर्म पुरूष में उपचरित होते हैं और अविवेक के कारण पुरूष बुद्धिगत

सुखदुःखादि के स्वगत धर्म समझने से इनका भोक्ता कहलाता है। जैसे जय और पराजय वस्तुतः सैनिकों की होने पर भी सेनापति की कही जाती है वैसे ही चित्तगत धर्म पुरूष में आरोपित होते हैं और इस आरोप का हेतु भी अविद्या ही है। ईश्वरकृष्ण ने भी इसी संयोग के कारण अचेतन बुद्धि को चेतन जैसी एवं अकर्ता पुरूष को कर्ता जैसा प्रतीयमान बताया है। ईश्वर को पुरूष-विशेष इसलिये कहा गया है कि वह पुरूषसामान्य में प्रतीयमान इस औपाधिक भोग से भी सर्वतः अपरामृष्ट है और यही औपाधिक भोगशून्यता उसे पुरूषसामान्य से पृथक करती है।

मुक्तपुरुष से ईश्वर का भेद स्पष्ट करते हुए व्यास कहते हैं कि कैवल्य को प्राप्त बहुत से केवली है, जिन्होनें तीनों प्रकार के बन्धनों को काटकर कैवल्य प्राप्त किया है, किन्तु ये ईश्वर नही हैं क्योंकि ईश्वर का इन बन्धनों से न तो कभी सम्बन्ध था और न कभी भविष्य में होने वाला है। वह तो सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर रहता है। बन्धन तीन प्रकार के माने गये हैं प्राकृतिकबन्ध जो अष्टप्रकृतियों (प्रकृति, महत्, अहंकार एवं पञ्चतन्मात्र) में आत्माभिमान के कारण होता है, वैकारिकबन्ध शब्दादि विषयों में अनुराग के कारण और दक्षिणाबन्ध कर्म, दान, दक्षिणा, अध्ययन आदि में गृहस्थों की अनुरक्ति के कारण होता है। वाचस्पतिमिश्र[16] के अनुसार इन बन्धनों में पड़े



हुये साधक इनसे मुक्त होकर मरणोपरान्त कैवल्य का सा अनुभव करते है, किन्तु कैवली नहीं होते। इन्हे विदेह एवं प्रकृतिलीन कहा जाता है, क्योंकि कुछ काल बाद इनके पुनरावर्तन की संभावना बनी रहती है, जबकि केवली पुरूष का उत्तरकोटिकबन्ध नहीं होता। मुक्तात्मा पहले बन्धन में थे, किन्तु मुक्त होने होने पर सदैव के लिये मुक्त हो जाते हैं, जबकि विदेह एवं प्रकृतिलीन पहले भी बन्धन में थे और मुक्ति पाने की एक निश्चित अवधि के बाद पुनः बन्धन में आ जाते हैं। ईश्वर इन विदेह एवं प्रकृतिलीनों से भिन्न तो है ही क्योंकि ये पूर्वकोटिक एवं उत्तरकोटिक दोनों बन्धों से युक्त है; वह मुक्तपुरूष से भी इस अर्थ में भिन्न है कि उसका पूर्वकोटिकबन्ध भी नहीं होता, जबकि मुक्तपुरूष का पूर्वकोटिकबन्ध होता है। इस प्रकार ईश्वर में पूर्वकालिक एवं उत्तरकालिक दोनों प्रकार के बन्धनों का निषेध करते हुये उसे सदा मुक्त कहा गया है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य[17] के अनुसार कपिल आदि ऋषिगण भी पहले मुक्त न थे, बाद में मुक्त हुये, किन्तु ईश्वर न कभी बद्ध था और न कभी बद्ध होगा। भूत या भविष्य में जहां तक हम देख सकते हैं या सोच सकते हैं, ऐसी सत्ता जिसका हम कोई बन्ध नही पाते ईश्वर है। इसीलिये ईश्वर को अविमुक्त कहा जाता है।

ईश्वर के सार्वकालिक उत्कर्ष को भाष्यकार एवं व्याख्याकारों ने शास्त्रप्रमाण के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष उसकी सर्वज्ञता की निरतिशयता से उयय्न्न होता है।[18] ईश्वर द्वारा प्रकृष्टचित्तसत्व को धारण करने से ही उसमें ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति का सद्भाव दिखाया गया है। ज्ञान एवं क्रिया को अपरिणामी ईश्वर में कैसे माना जा सकता है, क्योंकि ये ते रजोगुण एवं तमोगुण में रहित विशुद्ध चित्तसत्त्व के धर्म है और अविद्या के कारण होने वाले चित्तसत्व और नित्यमुक्त ईश्वर का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध भी संभव नही है - इस समस्या के समाधान मे व्यास का कहना है कि अन्य पुरूषों से विपरीत चित्तसत्त्व के साथ ईश्वर का स्वस्वामिभावसम्बन्ध अविद्यानिमित्तिक नहीं है क्योंकि त्रिविध दुःखों से पीड़ित प्राणियों के उद्धार के लिये उपदेश देने के लिये ही अविद्या से अपरामृष्ट रहते हुये भी ईश्वर प्रकृष्टचित्तसत्व का ग्रहण करता है। प्राणियों के उद्धार के लिये धारण किये गये अपने विशुद्ध चित्तसत्त्व को वाचस्पतिमिश्र[19] के अनुसार, ईश्वर प्रलय के समय इस संकल्प के साथ त्याग देता है कि सृष्टि के समय मैं चित्तसत्व पुनः धारण करूंगा, अपने इसी संकल्प के कारण इस प्रकृति में लीन अपने चित्तसत्व को प्रलय की अवधि समाप्त होने पर पुनः धारण कर लेता है, जैसे-कल मैं प्रातः उठूंगा-



ऐसा चिन्तन करके सोया हुआ व्यक्ति पूर्वसंस्कारवशात् उसी समय उठ जाता है। इस प्रकार ईश्वर के संकल्प की वासना से युक्त महाप्रलय में अपने मूलकारण प्रकृति में लय को प्राप्त हुआ वही चित्तसत्व ईश्वर दवारा पुनः धारण किया जाता है और इसी के द्वारा ईश्वर सृष्टि की बाधाओं को दूर करते हुये प्राणियों का उद्धार करता है। किन्तु विज्ञानभिक्षु[20] प्रलयकाल में ईश्वर की उपाधिभूत प्रकृष्टचित्तसत्त्व का प्रकृति में लय नहीं मानते। उनके अनुसार श्रुतियों एवं स्मृतियों में ईश्वर के दिन एवं रात का निषेध किया गया है, और ईश्वर के उपाधिभूत प्रकृष्टचित्तसत्त्व में ज्ञान, इच्छा आदि को नित्य माना गया है, यदि सृष्टिकाल में पुनः चित्तसत्व का ईश्वर के साथ संयोग माना जायेगा तो ईश्वर को भी अविद्याग्रस्त मानना पड़ेगा, क्योकि संयोग का हेतु अविद्या है, जबकि श्रुति के आधार पर योगी याज्ञवक्ल्य आदि ऋषियों ने ईश्वर को क्लेशकर्मादि संस्कारों से अपरामृष्ट बतलाया है। अतः ईश्वर की उपाधिरूप प्रकृष्टचित्त सत्व में ईश्वर द्वारा प्रणियों के उद्धार के संकल्परूप संस्कार को मानकर उसी के आधार पर सृष्टिकाल में चित्तसत्व का पुनरुत्थान मानना उचित नहीं है। प्रलयकाल में विशुद्धचित्तसत्व का लय एवं संस्कारवश सृष्टिकाल में उसका पुनः धारण किया जाना विज्ञानभिक्षु[21] के अनुसार योगनिद्रा में प्रकृयन करने वाले

ब्रह्मादि के विषय में उपर्युक्त हो सकता है, ईश्वर के विषय में नहीं। किन्तु विज्ञानभिक्षु का यह कथन उनके इस पूर्वकथन का विरोधी है जिसमें उन्होंने कहा है प्रलयकाल में ईश्वर का पुरूष में और उसकी उपाधि का प्रकृति में अन्तर्भाव हो जाता है। वाचस्पतिमिश्र का मत अधिक सुसंगत है क्योंकि ईश्वर का ईश्वरत्व इसी में है कि वह अपनी संकल्पशक्ति से जब चाहे प्रकृति के विकारभूत चित्तसत्त्व का ग्रहण करे और जब चाहे उसका त्याग कर दे किन्तु एक तार्किक कठिनाई यह भी है कि महाप्रलय में प्रकृति के सभी विकार उसमें लीन हो जाते है, जिसमें ईश्वर की उपाधिरूप चित्तसत्त्व का भी उसमें लीन होना उपपन्न होता है। वाचस्पतिमिश्र इस कठिनाई को समझते हैं और कहते हैं कि यह मानते उचित नहीं हैं कि ईश्वर के प्रकृष्टचित्तसत्त्व और अन्य चित्तसत्त्वों में यही भेद है कि अन्य चित्तसत्त्व महाप्रलय में प्रकृति  में लीन हो जाते हैं, जबकि ईश्वर का विशुद्ध चित्तसत्त्व प्रकृति में लीन नहीं होता, क्योंकि वह प्रकृति में लीन नही होता जो प्रकृति का विकार नहीं है।

ईश्वर के अस्तित्व में व्यास ने शास्त्र का प्रमाण माना है किन्तु इसमें अन्योन्याश्रयदोष- है क्योंकि वेदों का प्रामाण्य स्वयं इस आधार पर  है कि उन्हें ईश्वर ने बनाया है। ईश्वर एवं शास्त्र का सम्बन्ध अनादि होने से यह



दोष यहां प्रसक्त नहीं होता। वेदों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान एवं ईश्वर द्वारा वेदों की रचना मानने वाले प्रत्येक दर्शन को यह स्वीकार करना पड़ता है कि अस्तित्व की दृष्टि से ईश्वर पहले है, क्योंकि वही वेदों का स्त्रोत है और ज्ञान की दृष्टि से वेद पहले हैं क्योंकि वही हमें ईश्वर के होने का बोध कराते हैं। अतः ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष में श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराणादिशास्त्र प्रमाण हैं। शास्त्र की प्रामाणिकता उनके द्वारा दी गयी शिक्षाओं का तथ्यों के अनुकूल होने से भी सिद्ध है। वाचस्पतिमिश्र[22] के अनुसार आयुर्वेदादिशास्त्रों में जिस-जिस कार्य की सिद्धि के लिये जिन मन्त्रों एवं रोगनिवृत्ति के लिये जिन औषधियों का प्रतिपादन किया गया है, उन्हे उनके प्रयोजनसिद्ध में सर्वथा समर्थ देखा गया है। अतः शास्त्र की प्रामाणिकता में संन्देह नहीं है। और ईश्वर का सार्वकालिक उत्कर्ष भी शास्त्रप्रतिपादित होने से प्रामाणिक है। लौकिक प्रमाण का व्यवहार करने वाला व्यक्ति हजारों वर्ष में भी इस प्रकार के शास्त्र की रचना नहीं कर सकता। अतः शास्त्र ईश्वर प्रणीत है।

ईश्वर का ऐश्वर्य और ज्ञान समानता एवं अतिशय से रहित है। व्यास कहते हैं कि ईश्वर का ऐश्वर्य किसी के ऐश्वर्य से कम नहीं किया जा सकता। जो ऐश्वर्य सभी ऐश्वर्यों की अपेक्षा अतिशय है वही ऐश्वर्य निरतिशय

कहलाता है। अतः ऐश्वर्य की जहाँ अन्तिम सीमा है, वही ईश्वर है; अर्थात ईश्वर से अधिक ऐश्वर्यवान कोई नहीं है। पुनश्च ईश्वर के ऐश्वर्य के बराबर भी किसी का ऐश्वर्य नहीं है, क्योंकि समान ऐश्वर्य वाले दो व्यक्ति जब एक ही वस्तु की इच्छा करते हैं, जिनमें से एक कहे कि यह नवीन हो और दूसरा कहे कि यह पुरानी हो, तो यदि एक की कामना पूर्ण होती है तो दूसरी की कामना असफल होगी और तब उसमें न्यूनता आ जाने से दोनों समान ऐश्वर्य वाले नहीं रह जायेंगे। दोनों की कामना के पूर्ण होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि एक ही साथ दो समान ऐश्वर्य वाले व्यक्तियों के परस्पर विरोधी वस्तु की प्राप्ति असंभव है। अतः जिस किसी में ऐसा प्रकृष्टता है जिसके न तो कोई बराबर है और न उससे अधिक है, वही ईश्वर है और वही ईश्वर पुरुषविशेष है। इसी प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता को भी निरन्तरता के विधान द्वारा सिद्ध किया गया है, क्योंकि निरन्तरता की ऊपर कहीं न कहीं सीमा आवश्यक है। व्यास कहते हैं कि भूत, भविष्य एवं वर्तमान में से किसी एक का अथवा प्रत्येक का अतीन्द्रियज्ञान जो किसी में कम होता है और किसी में अधिक होता है- ज्ञान की यही तारतम्यता सर्वज्ञता की बीज है। यही ज्ञान बढ़ते बढ़ते जिसमें पराकाष्ठा को प्राप्त होता है, वही सर्वज्ञ है। बुद्धिसत्त्व को अभिभूत करने वाले तमोगुण की क्षीणता के तारतम्य के आधार पर भी



अतीत, अनागत एवं वर्तमान विषयक ज्ञान में अतिशयता दिखाई पड़ती है। योगसाधना में जब योगी का चित्त विवेकख्याति से युक्त हो जाता है, तो जो प्रज्ञाज्योति उदित होती है, उससे प्राप्त प्रतिभा पर संयम करने से सर्वज्ञता नामक सिद्धि की प्राप्ति होती है। यहां भा-भाष्यकार ने दिखाया है कि ईश्वर सभी ज्ञान एवं सत्य का आदि स्त्रोत है और सभी ज्ञान उसी के ज्ञान से अनुपूरित है। सर्वज्ञता एवं अनेक प्रकार की विभूतियों को प्राप्त करने वाले अनेक योगी हो सकते हैं, किन्तु सर्वज्ञ केवल ईश्वर ही है। कुमारिल[23] ने सर्वज्ञता का खण्डन करते हुये कहा है कि यदि भगवान बुद्ध सर्वज्ञ हैं तो कपिल सर्वज्ञ नहीं हैं, इसमें क्या प्रमाण है? और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं तो उनमें मतभेद क्यों है? अतः अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात् दृष्टा कोई नहीं है। ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है, उसके समान और उससे अधिक ज्ञानवान कोई नहीं है। ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है, उसके समान और उससे अधिक ज्ञानवान कोई नहीं है। वाचस्पतिमिश्र ने अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करने वाले योगियों के ऐश्वर्य को सातिशय बताया है, क्योंकि सिद्धिप्राप्त योगियों में न्यूनाधिक परिणाम का ऐश्वर्य है कभी-कभी दो योगियों में तुल्य परिमाण का ऐश्वर्य भी उपलब्ध होता है। ईश्वर का ऐश्वर्य एवं ज्ञान निरतिशय होने से ईश्वर एक है।

योगदर्शन में ईश्वर को परमगुरू[24] माना गया है, क्योंकि वह काल से अवच्छिन्न नहीं हैं, सूत्रगत पूर्वमापि गुरू पद का अर्थ वाचस्पतिमिश्र[25] एवं विज्ञानभिक्षु[26] के अनुसार सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर आदि गुरूओं का भी गुरू है। ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आदि में ज्ञान एवं धर्म का उपदेश करता है, क्योंकि वह नित्य है। ईश्वर जिस प्रकार वर्तमान सर्ग के आदि में अपने सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ अवस्थित है, उसी प्रकार अतिकान्त सर्गों के आदि मे भी अववस्थित हरने से ज्ञान एवं धर्म का प्रथम उपदेष्टा कहा जाता है। ईश्वर पूर्वगुरूओं का भी गुरू है- ऐसे कथन से यह नहीं समझना चाहिये कि ईश्वर के पहले जो गुरू हुये, वह उनका भी गुरू है, क्योंकि नित्य ईश्वर तो प्रत्येक सृष्टि के आदि में विद्यमान है। यहां पूर्व पद सृष्टिसापेक्ष है। ईश्वर वर्तमान सृष्टि के आदि में उत्पन्न ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर आदि का जैसे गुरू है वैसे ही अतिक्रान्त सृष्टि से भी वह इन सब का गुरू है, क्योंकि अनादि एवं नित्य ईश्वर से पूर्व कुछ नहीं है। उपदेष्टा के रूप में ईश्वर का यह रूप प्राणियों के प्रति उसके परमकारूणिक रूप का ही उपलक्षण है, जिससे वह निर्माणचित्त को धारण करके संसारसागर में निमग्न नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित जीवों के उद्धार के लिये संकल्प करता है और सत्य के उपदेश द्वारा उन्हे परमनिःश्रेयस् का मार्ग सुझाता है।



परमार्षि कपिल द्वारा आसुरि को दिया गया उपदेश इसी प्रकार का महाकरूणा का दृष्टान्त है।[27] राधाकृष्णन के अनुसार यदि ईश्वर को जीवों की ऊपर की तरफ मोक्ष एवं प्रकाश की ओर बढ़ने में सहायता करनी है, तो उसे किसी न किसी रूप में अपने को सांसारिक अनुभव के अधीन करना चाहिये और इसीलिये पतञ्जलि का झुकाव कालाबाधित, सर्वज्ञ एवं करूणामय ईश्वर को सत्य का उपदेष्टा, गुरू मानने की ओर है। गुरू के रूप में ईश्वर प्लेटों से लेकर प्रत्येक महान विचारकर के हृदय में प्रतिध्वनि पायी है। प्रत्येक सृष्टि के आदि में श्रुति प्रकाशन द्वारा ईश्वर ज्ञान का उपदेश देता है, जिससे कपिल आदि ऋषियों की भी गुरू के रूप में एक लम्बी परम्परा बनती है।

ईश्वर का वाचक प्रणव (ऊँकार) है[29] और ईश्वरप्रणिधान के लिये इसी का जप करते हुये उसकी भावना की जाती है। ईश्वर के वाचक अनेक शब्दों में से प्रणव के जप का ही उपदेश दिया है, क्योंकि श्रुति में इसे सम्पूर्ण वाक् कहा गया है। नारायणतीर्थ[30] के अनुसार जिस प्रकार पत्तों की नसों से वृक्ष के सम्पूर्ण पत्तें व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर के वाचक इस औकार से सम्पूर्ण वाक् व्याप्त है। इसी भाव से स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि यथार्थरूप में यह प्रणव उच्चरित हुयी समस्त ध्वनियों की मूलभित्ति है, जिसके मूलरूप अ, उ, और म् में विश्वभाषा की सभी ध्वनियों का समाहार

है। भोज के[32] अनुसार इसी शब्द द्वारा ईश्वर की विशेष रूप से स्तुति की जाती है, इसीलिये इसे प्रणव कहा गया है और सभी प्राणियों की रक्षा करने वाला होने से भी ओम पद की ईश्वरवाचकता सिद्ध होती है। व्यास के अनुसार प्रणव और ईश्वर के बीच का यह वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध प्रदीप प्रकाश के समान अवस्थित है, किन्तु ईश्वर का संकेत इस सम्बन्ध को प्रकाशित करता है जैसे पिता पुत्र का सम्बन्ध अवस्थित रहने पर भी बिना संकेत के प्रकाशित नही होता। स्वामी हरिरहानन्द आरण्य[33] का मत है ईश्वर सम्बन्धी जो शब्दमयचिन्तन है उन्ही का संकेत ओम् पद् द्वारा किया गया है। ओम् शब्द केवल इसी सर्ग में ईश्वर के वाचक के रूप में संकेतिक नही हुआ, पूर्वसर्गो में भी इसका प्रयोग ईश्वर के वाचक के रूप में होता था और अनागत सर्गों में भी होता रहेगा। प्रणव के द्वारा चित्त की जैसी स्थिरता होती है वैसी किसी दूसरे शब्द से नहीं। यही कारण है कि आर्षग्रन्थों में सर्वाधिक पवित्र, रहस्यमय एवं आदरणीय यही शब्द है। यह सहजता से उच्चरित होने एवं चित्त को एकाग्र  करने में सबसे अधिक उपयोगी है। इसीलिये कठोपनिषद[34] में योगसाधना के अलाम्बनों में प्रणव को ही सर्वश्रेष्ठ एवं परम आलम्बनस्वरूप माना गया है। प्रणव ईश्वर ही है क्योंकि वाचक और वाच्य में अभेद होने से ही गीता में भगवान् ने ओम् इस एक अक्षर



(ओम्) को ब्रह्म कहा है। इसका निरन्तर जप करने से ईश्वर की अनुकम्पा से भक्त योगी को समाधिलाभ शीघ्र होता है, क्योंकि योगसाधना के पथ में आने वाले अन्तराय ईश्वर के अनुग्रह से दूर हो जाते हैं। योगसूत्र[35] में चित्त की ध्येयाकारता में विच्छेदरूपी विघ्न उत्पन्न करने वाले व्याधि, स्त्यान (असमर्थता), संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति(राग) भ्रान्तिदर्शन (विपरीतज्ञान) अलब्धभूमिकत्व (मधुमती, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति एवं अतिक्रान्तभवनीय इन चित्तभूमियों में से प्रथमभूमि को भी प्राप्त न कर पाने से उत्पन्न नैराश्य) एवं अनवस्थितत्व (प्रथमभूमि में ही कृतकृत्यता का अनुभव होने से अग्रिम भूमि के लिये एकाग्रता का अभाव) इन नौ अन्तरायों के साथ ही विक्षेप के साथ उत्पन्न होने वाले दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व एवं श्वास प्रश्वास को भी योगाभ्यास में बाधकतत्व बताया गया है। इनके अतिरिक्ति भी अनेक बाधायें योगसाधना में चित्त की एकाग्रता एवं स्थिरता को बाधित करती है। इन विक्षेपों को दूर करने के लिए ईश्वररूपी एकतत्व का अवलम्बन करना चाहिये और इस प्रकार ईश्वर का निरन्तर ध्यान करते रहने से ये बाधायें दूर हो जाती हैं और साधक को समादिलाभ ईश्वर की कृपा से आसन्नतम होता हैं। समाधिलाभ में जिस ईश्वरप्रणिधान का उपदेश दिया गया है, वह उच्चकोटि के साधकों के लिये होने से भावनारूप है, जिसे ध्यानयोग कह

सकते है, जिसमें प्रणव के निरन्तर जप का विधान है, जबकि क्रियायोग एवं नियमान्तर्गत ईश्वरप्रणिधान एक प्रकार से भक्तियोग है, जिसमें साधक सभी प्रकार के कर्तृत्वाभिमान को त्यागकर भक्तिभावना से सभी कर्मों को परमगुरू ईश्वर में अर्पित करते हुये उसी के ध्यान में मग्न रहता है। निरतिशय ज्ञान एवं शक्ति से सम्पन्न ईश्वर अपने भक्ति के प्रति करूणा से द्रवित होकर समस्त बाधाओं को दूर करते हुये उसके चित्त को निर्मल एवं ज्ञानवान् बना देता है जिससे वह अतिशीघ्र स्वरूपावस्था को प्राप्त कर लेता है।

ईश्वर के स्वरूप विवेचन से स्पष्ट है कि महर्षि पतञ्जलि ने योगसाधना के अन्यतम ध्येय विनय के रूप में ईश्वर को मान्यता दिया और व्यास ने भी उसमें ज्ञान, इच्छा, करूणा, सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्यों के कारण उसे उपासना का ही विनय माना जिसका सृष्टिप्रक्रिया से कुछ लेना देना नहीं है। किन्तु परवर्ती टीकाकरों ने किसी न किसी रूप में ईश्वर को सृष्टिप्रक्रिया से जोड़ने का प्रयास किया। वाचस्पतिमिश्र[37] ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण मानते हुये हेतु देते हैं कि धर्मादि तो निमित्तमात्र है प्रयोजक नहीं; क्योंकि वे भी प्रकृति के ही कार्य हैं और कोई भी कार्य अपने कारण का प्रयोजक नही होता। पुरूषार्थ भी प्रवर्तक नहीं है, किन्तु ईश्वर ही जीवों के प्रतिबन्धों को दूर करता है और पुरूष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रकृति को



सर्गारम्भ के लिये प्रवर्तित करता है। इसीलिये जहां सांख्य में अनागत पुरूषार्थ ही प्रकृति का प्रवर्तक है, वहीं योग में पुरूषार्थ ही एकमात्र उद्देश्य है जिसे लिये प्रकृति स्वतः गतिशील होती है। इसीलिये उद्देश्यतामात्र से पुरूषार्थ प्रवर्तक कहा जाता है। पुरूष और प्रकृति के संयोग के लिये विज्ञानभिक्षु[38] के अनुसार सांख्य और योग ईश्वर के हस्तक्षेप को अस्वीकार करते हैं किन्तु योगवार्तिक में वह प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न करने के कारण ईश्वर को सृष्टि का उद्‌बोधक मानते हैं और प्रकृति के विषमपरिणाम के हेतुभूत इस क्षोभ को ईश्वर की इच्छा से ही सम्भव मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नित्यतृप्त ईश्वर का सृष्टि में अपना कोई प्रयोजन नहीं है किन्तु करूणावशात् प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये ही वह पुरूष और प्रकृति के संयोग एवं वियोग का हेतु बनता है। प्राणियों के कर्मानुसार ही उनके जाति, आयु और भोगरूप फल का विधान करता है। दुःखबहुल इस सृष्टि के कारण ईश्वर को अकारूणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुखदुःखादि का विधान ईश्वर स्वेच्छा से नहीं करता बल्कि प्राणियों के धर्माधर्मजनित अदृष्टानुसार ही करता है। परवर्ती व्याख्याकारों ने ईश्वर को सृष्टि के निमित्तकारण के रूप मे मानने के साथ ही उसे कर्मफल नियामक के रूप में भी स्वीकार किया। वस्तुतः योगदर्शन में ईश्वर का तत्वमीमांसीय

दृष्टि से उतना महत्व नहीं है, जितना व्यावहारिक दृष्टि से है। सभी विभूतियों से पूर्ण वह हमारे नैतिक जीवन का आदर्श है।

## सन्दर्भ


1. यो.सू.1/12 अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध।
2. वही 1/19-20 भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानम्।

   श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम्।
3. तत्ववैशारदी 1/21
4. योगवार्त्तिक 1/21
5. यो.सू. 1/21 तीव्रसंवेगानामासन्नः
6. वही 1/45 समाधिसिद्धरीश्वरप्रणिधानात्
7. तत्ववैशारदी 2/1, व्यासभाष्य 2/1, भोजवृत्ति 2/1
8. योगसारसंग्रह पृ. 22 तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणों भवन्ति आरूरूक्षुयुञ्जानयोगारूढरूपाः
9. यो.सू. 1/24 क्लेशकर्मविपाकाशर्यैपरामृष्टः पुरूष-विशेष ईश्वरः
10. यो.सू. 23 अविद्याऽस्मितारागद्वेषभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः
11. यो.सू. 2/6 दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता
12. वही 2/7 सुखानुशयी रागः





13. वही 2/8 दुःखानुशयी द्वेषः
14. वही 2/9 स्वरसवाहीविदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः
15. सांख्यकारिका 20
16. तत्ववैशारदी 1/24
17. Aranya, H. Yoga Philiosophy of Patanjali P. 59. In the past or future as far as we can see or think of the being in the respect of whom we can trace on bondage, is Ishvara.
18. यो. सू. 1/25 तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्.
19. तत्ववैशारदी 1/24

# ब्राह्मण संस्कृति का आदर्श

– प्रो0 हरिशंकर उपाध्याय

प्रस्तुत लेख का प्रयोजन न तो 'ब्राह्मण' पद की ऐतिहासिक व्याख्या करना, न अर्थ वैज्ञानिक विवेचन और न व्याकरणिक विश्लेषण करना है, बल्कि भारत के सांस्कृतिक संदर्भ में 'ब्राह्मणत्व' का शास्त्रीय एवं तार्किक विवेचन और मूल्यांकन करना है। ब्राह्मण संस्कृति द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था विश्व के वैचारिक इतिहास में एक अद्वितीय आदर्श है। ब्राह्मणों ने पृथ्वी पर मानव–अस्तित्व के प्रश्न को मौलिक रूप में उठाया। इसके अन्तर्गत व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन शिक्षार्जन और आत्मानुशासन पर आधारित है। यहाँ पर मानव और ईश्वर के सम्बन्ध का निर्धारण करके पृथ्वी पर मनुष्य की दिव्य जीवनचर्या का निरूपण किया गया है। मानव–जीवन की सार्थकता पुरुषार्थ विषयक साधना में निहित है। मनुष्य का अस्तित्व धर्म के संदर्भ में एवं धर्म की व्याख्या मूर्त कर्म तथा समस्त सद्गुणों के एकायन के रूप में की गयी है।

'ब्राह्मण' पद का प्रयोग सबसे पहले ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में हुआ है। उसके अनुसार विराट् पुरुष के मुँह से उत्पन्न ब्राह्मण को ज्ञानी एवं समाज की नैतिक व्यवस्था का संरक्षक एवं पोषक माना गया है। क्षत्रियों को समाज का शासक और रक्षक, वैश्यों को कृषि, पशु–पालन तथा व्यापार के द्वारा समाज की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने वाला और शूद्रों को सेवक कहा गया है। शूद्रों का कर्त्तव्य सेवा कर्म द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को गतिशील एवं प्रगतिशील बनाना है। इसी प्रकार उत्तर वैदिक काल के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों में भारतीय सामाजिक संरचना को दैवी अथवा प्राकृतिक कहा गया है। प्रस्थान त्रयी के महत्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता में भी उक्त मत की पुष्टि



की गयी है। गीता वर्णव्यवस्था को गुणों (संस्कारों) एवं कर्मों पर आधारित मानती है– 'चातुर्वर्णमयासृष्टं गुणकर्मविभागशः।' इससे सिद्ध होता है कि यह व्यवस्था मानव निर्मित या कृत्रिम नहीं है। यह एक शाश्वत व्यवस्था है जो सार्वकालिक और सार्वदैशिक है। यह मानव–प्रकृति में ही निहित है। इसी प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख प्राचीन ग्रीक दार्शनिक प्लेटो की 'रिपब्लिक' में भी प्राप्त होता है। भारतीय वर्णव्यवस्था के ही अनुरूप प्लेटो ने भी समाज के तीन वर्गों का उल्लेख किया है जो क्रमशः ज्ञानी वर्ग (Clergymen) योद्धा (Warrier) तथा व्यवसायी वर्ग (Commercial or merchant class) है। भारतीय शूद्रों के अनुरूप ही इंग्लैण्ड के सामान्य जन (Commons of England) है। समाज के तथाकथित वर्ण एवं वर्ग लोगों की चार मनोवृत्तियों एवं गुणों के द्योतक हैं। इस दृष्टि से मनुष्य अपने सद्गुणों, सत्कर्मों एवं पवित्र संस्कारों के कारण महान होता है। इसी आधार पर उसकी सामाजिक भूमिका का मूल्यांकन किया गया है। किसी के उत्तम कुल, गोत्र एवं जन्म से उसकी महत्ता का आकलन नहीं किया जा सकता है। इस संदर्भ में सत्तकामजाबाल, व्यास, विश्वामित्र इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं जो अपने सदाचार, ज्ञान एवं तपस्या के बल पर ब्रह्मत्व को प्राप्त हुए। इसके विपरीत रावण, कंस, शिशुपाल, राजा वेन आदि अपने दुराचरण के कारण उत्तम कुल के होने पर भी पतन, पराजय एवं अधोगति को प्राप्त हुए।

प्रायः सभी शास्त्रों में 'ब्राह्मणत्व' को महिमामण्डित किया गया है। ब्राह्मणों को सत्वगुणी और सत्वगुण को ज्ञान का जनक (सत्वात् सञ्जायते ज्ञानम्) कहा गया है। सत्वगुण सम्पन्न होने के कारण ही ब्राह्मणों का कार्य क्षेत्र ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता इत्यादि रहा है। उल्लेखनीय है कि सत्वगुण सम्पन्न पुरुषों के लिए सात्विक भोजन, सात्विक दान और सात्विक श्रद्धा का विधान किया गया है। विपरीततः रजोगुणी एवं तमो

गुणी मनुष्यों के लिए तदनुरूप भोजन, दान और श्रद्धा का विधान है। गीता में 'ब्राह्मणत्व' को समस्त सद्गुणों के एकायन के रूप में विभूषित किया गया है –

**शमोदमस्तपः शौचंक्षान्तिरार्जवमेव च।**
**ज्ञान विज्ञानआस्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्।। गीता (18/42)**

इसी प्रकार महाभारत में कहा गया हैं–''जो सम्मान पाकर न प्रसन्न होता है, न अपमानित होने पर क्रुद्ध होता है, जो निर्भीक है, कुसंग एवं स्त्रियों से डरता है, जो परोपकारी एवं अयाचक है, वही ब्राह्मण है।''

वस्तुतः ब्राह्मण–संस्कृति का साध्य न केवल आत्म–कल्याण, बल्कि समाज एवं राज्य को संस्कारित करना, अर्थात् लोककल्याण भी है।'ब्राह्मणत्व' संस्कृति है, जो स्वभावतः भोगवादी, भौतिकवादी, अनात्मवादी और यान्त्रिकतावादी संस्कृति की विरोधी है। यह करुणापरायणता, प्रेम और सहयोग, यथालाभ सन्तोष और शाश्वत बुद्धि वैभव जैसे शाश्वत मानव मूल्यों का पोषण करती है। इस विचारधारा की मनोरम अभिव्यक्ति जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक 'चन्दगुप्त' में की गयी है। जब सिकन्दर के दूत एनिसाक्रीटीज ने दाण्ड्यायन को सिकन्दर के पास चलने के लिए कहा तो प्रत्युत्तर में तपस्वी ब्राह्मण दाण्ड्यायन कहता है–''भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसे आभासमात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन अभिभूत नहीं कर सकते। मैं फल–फूल खाकर, अंजलि से जलपान करके तृणशय्या पर आँख बन्द किये सोया रहता हूँ। न मुझसे किसी को डर है और न मुझको किसी से डरने का कारण है। तुम यदि हठात् मुझे ले जाना चाहते हो तो मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मेरे स्वतन्त्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता है।''



इस विवेचन से स्पष्ट है कि ब्राह्मणत्व एक जीवनचर्या है, एक आदर्श जीवन–पद्धति है। किन्तु आज के बदलते, परिवेश तथा सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में ब्राह्मण–संस्कृति के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हैं। आज गाँव से शहर तक, ग्राम पंचायत से लोकसभा पर्यन्त ब्राह्मणत्व–विरोधी विचारधारा की आँधी चल रही है। किन्तु ब्राह्मणत्व–विरोधी लहर से भयाक्रान्त होने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है तो आत्मालोचन एवं सावधान होने की। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में यह कोई नयी प्रवृत्ति नहीं है। शताब्दियों से इस संस्कृति पर आघात हुए हैं, किन्तु अपनी आन्तरिक जिजीविषा एवं ऊर्जा के कारण आज तक यह अक्षुण्ण रही है। देवासुर संग्राम से लेकर बौद्धों द्वारा प्रतिपादित अनात्मवादी श्रमण परम्परा एवं चार्वाकों की भौतिकता और भोगवादी विचारधारा पर्यन्त ब्राह्मणत्व–विरोधी प्रकृति विद्यमान है। इनमें से कुछ विरोध स्वस्थ एवं समयानुकूल भी रहे हैं। उदाहरणार्थ, बौद्धों के द्वारा प्रवर्तित श्रमणपराम्परा को एक समाज सुधारवादी आन्दोलन कहा जा सकता है। किन्तु असुरों और चार्वाकों द्वारा संचालित घृणा एवं ध्वंस पर आधारित वैताण्डिक संस्कृति अपने में अन्तर्निहित विरोधों के कारण स्वयमेव (ह्रास) नष्ट हो गयी। समकालिक युग में राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की पिपासा से ग्रस्त राजनीतिज्ञों के द्वारा ब्राह्मणों की राजनीतिक शक्ति का ह्रास करने के लिए ब्राह्मण संस्कृति एवं अनुवाद की विकृत व्याख्याएं की जा रही हैं। चूंकि ब्राह्मणों को समाज की नैतिक व्यवस्था का पोषक एवं कर्णधार माना गया है, इसलिए समस्त सामाजिक एवं नैतिक पतन की जिम्मेदारी ब्राह्मणों की है। यह भी आरोप है कि ब्राह्मणों ने समस्त सामाजिक एवं राजनीतिक नियमों एवं विधियों की रचना अपने वर्ण या वर्गगत हितों को ध्यान में रखकर की है। इस संदर्भ में समाज को गुमराह करने का प्रयास किया जा रहा है। कुछ राजनीतिज्ञों के अनुसार भारतीय समाज का लम्बवत ढाँचा

(Vertilical Structure) क्षैतिजिक (Horizental) होना चाहिए। इस संदर्भ में डॉ0 अम्बेदकर, महात्मा फुले एवं पेरियार के सिद्धान्तों का सहारा लिया जा रहा है। इस सम्बन्ध में बाबा साहब अम्बेदकर का मत उल्लेखनीय है। उन्होंने हिन्दू समाज में प्रचलित जाति–व्यवस्था को सामाजिक भेदभाव का प्रमुख कारण माना है। उनके लिए भारत में ब्रिटिश राज्य सबसे बड़ा शैतान था। वे विदेशी आक्रमणकारियों के आगे भारत की बार–बार पराजय का कारण जाति–प्रथा से उत्पन्न पशुता और उदासीनता को मानते थे। उनका नारा था कि समाज, विशेष रूप से दलितों को दो शत्रुओं से लड़ना है : ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद। ब्राह्मणवाद से अम्बेदकर का अभिप्राय उस व्यवस्था से है जो स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे की भावना का निषेध करती है, किन्तु इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी और अम्बेदकर में गम्भीर मतभेद था। गाँधी जी वर्णव्यवस्था एवं जातिप्रथा के वैज्ञानिक पहलुओं के समर्थक थे। वे अस्पृश्यता के पाप और जाति–प्रथा या वर्णव्यवस्था की उपयोगिता के बीच में कोई विरोध नहीं देखते थे। अम्बेदकर की भूल यह थी कि वे वर्णव्यवस्था और छुआछूत को एक मानते थे। उनके लिए ब्राह्मणवाद और छूआछूत में अनिवार्य सम्बन्ध था। इसका कारण तत्कालीन समाज की कुरीतियाँ भी थी, जिसके शिकार अम्बेदकर भी हुए थे। सम्भवतः इसी के परिणामस्वरूप अम्बेदकर के मन में ब्राह्मणत्व के प्रति द्वैषभाव था। वस्तुतः अम्बेदकर एवं नव्य अम्बेदकरवादियों ने ब्राह्मण–संस्कृति के बाह्य आडम्बरों एवं पाखण्डों को ही ब्राह्मणवाद समझने की भूल की है। किन्तु आज ब्राह्मण–समाज के लिए आत्मालोचन आत्म–मूल्यांकन एवं परिशोधन की आवश्यकता है। न केवल अम्बेदकर और नव्य अम्बेदकरवादियों ने, बल्कि मध्यकालीन सन्त तुलसी ने भी ब्राह्मणत्व के पतन के प्रति चिन्ता व्यक्त की है :



**वरन धरम नहि आश्रम चारी, श्रुति विरोध रत सब नर नारी।**
**द्विज श्रुतिबेचक भूप प्रजासन, नहि कोउ मान निगम अनुशासन।**
**विप्र निरक्षर, लोलुप, कामी, निराचार सठ वृषली स्वामी।।**

इस प्रकार सिद्धों, नाथों, कबीर, महात्मा फुले इत्यादि अनेक मनीषियों ने भी ब्राह्मणत्व के नाम पर प्रचलित पाखण्डों एवं मिथ्याचारों की आलोचना की है। यह सत्य है कि वैदिक युग में प्रतिपादित ब्राह्मणत्व के वैज्ञानिक स्वरूप की धीरे–धीरे समाज में उपेक्षा कर दी गयी। उसके परिणामस्वरूप ब्राह्मणत्व एवं सम्पूर्ण वर्णव्यवस्था का दुरुपयोग किया जाने लगा। जिन पवित्र एवं लोककल्याणकारी उद्देश्यों को ध्यान में रखकर वर्णव्यवस्थापरक ब्राह्मण संस्कृति का सूत्रपात हमारे ऋषियों ने किया था, वह अपने लक्ष्य से भटक गयी। वर्ण और जाति अभिन्न हो गये। इस ब्राह्मणत्व का मूल दर्शन व्यावहारिक स्तर पर लुप्त हो गया। ब्राह्मणत्व के नाम पर प्रचलित मिथ्या आचारों, बाह्य आडम्बरों को ही ब्राह्मणवाद मान लिया गया। ब्राह्मणों के आचार, विचार, खान–पान आदि दूषित हो गये, जिससे ब्राह्मणत्व–संस्कृति के प्रति लोगों को गलत सन्देश मिला और लोग भ्रांति के शिकार हुए।

वस्तुतः ब्राह्मणत्व की मूल आत्मा वर्णव्यवस्था है जो श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है। पुनश्च, श्रम–विभाजन का आधार लोगों की रुचियों, गुणों एवं संस्कारों को माना गया है। इससे स्पष्ट है कि यह व्यवस्था लोगों की नैसर्गिक प्रवृत्तियों की ओर संकेत करती है। इस दृष्टि से ब्राह्मणत्व एवं शूद्रत्व दो पृथक् प्रवृत्तियाँ एवं दो पृथक् संस्कार हैं। वर्ण का तात्पर्य सामाजिक उच्चता या समाज में कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त करना नहीं, प्रत्युत अपनी अभिरूचि एवं संस्कार के अनुरूप विशिष्ट सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करना है। यह आरोप कि समाज में ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त था,

निराधार है। ऐसा आरोप लगाने वाले लोगों में सांस्कृतिक चेतना का अभाव है। किस वर्ग (वर्ण) को समाज में विशेष महत्व मिलेगा, यह समाज के मूल्य–बोध पर निर्भर करता है। जिस संस्कृति में त्याग, संयम, चरित्र एवं ज्ञान या योग्यता को विशेष महत्व मिलेगा, उस समाज में ज्ञानी या योग्य एवं चरित्रवान लोगों को विशेष महत्व दिया जायेगा। इसलिए भारत में ब्राह्मण वर्ग एवं ग्रीक संस्कृति में धार्मिक सुधारकों (Clergymen) को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना उस युग की सांस्कृतिक चेतना एवं परिवेश के अनुकूल है। भारतीय ब्राह्मण प्राचीन हिन्दू समाज की आध्यात्मिक एवं नैतिक व्यवस्था का कर्णधार था। उसके दायित्व की पूर्ति के लिए कुछ विशेषाधिकार अपेक्षित भी थे। ब्राह्मणों का उत्तरदायित्व अन्य वर्गों की अपेक्षा गुरुतर था। अपराध करने पर उसके लिए अन्य वर्गों की अपेक्षा दण्ड–विधान भी कठोर था। मनुस्मृति के अनुसार, चोरी करने पर चोरी के माल को आठ गुना शूद्र को, सोलह गुना वैश्य को, बत्तीस गुना क्षत्रिय को और चौसठ गुना ब्राह्मण को दण्ड का विधान था।

ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक विकास को लम्बवत् (Vertical) माना गया है, न कि क्षैतिजिक (Horizental)। आज तक व्यावहारिक धरातल पर कहीं भी समाज का विकास इस रूप में नहीं हुआ है कि जहाँ सम्पूर्ण समाज क्षैतिजिक या सपाट (समतल) हो जाय। ऐसे समाज की अवधारणा यूटोपिया मात्र है क्योंकि लोगों की रूचियों एवं मनोवृत्तियों में विविधता पायी जाती है। तदनुसार लोगों के कर्म एवं सामाजिक स्थान भी विषम होंगे। समाज का विकास हमेशा लम्बवत् क्रम में हुआ है, ऐसी मान्यता न केवल ब्राह्मणवादी मान्यतानुसार है, बल्कि डार्विन, लेमार्क, स्पेन्सर एवं हेगल जैसे पाश्चात्य विचारकों की समाज वैज्ञानिक मान्यताओं के द्वारा भी पुष्ट होती है। अतः छद्म अम्बेदकरवादियों द्वारा समाज के क्षैतिजिक स्वरूप की अवधारणा एक राजनीतिक



प्रोपोगण्डा एवं समाज को गुमराह करने वाला है। यह न केवल आव्यवहारिक है, बल्कि अवैज्ञानिक, असमाजशास्त्रीय एवं अनैतिक है। इसके विपरीत मानव की रूचियों, गुणों, संस्कारों एवं कर्मों पर आधारित वर्णव्यवस्था, मनोवैज्ञानिक, समाज वैज्ञानिक, अर्थवैज्ञानिक, नैतिक एवं प्राणिशास्त्रीय मान्यताओं के अनुकूल हैं।

ब्राह्मण संस्कृति के विपरीत भोगवादी, भौतिकवादी, सुखवादी और उपयोगितावादी संस्कृति में ज्ञान, चरित्र, सौन्दर्य आदि उच्च मूल्यों को भी लोगों की सुख एवं समृद्धि का साधन माना जाता रहा है। ऐसी व्यवस्था में ज्ञान एवं चरित्र को ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य मानने वाली ब्राह्मण संस्कृति का अवमूल्यन एवं उपेक्षा स्वाभाविक है। किन्तु भोगवादी संस्कृति स्वतः अन्तर्विरोधों से ही नष्ट होती रहती है। भोगवादी एवं ब्राह्मण–विरोधी संस्कृति का सबसे बड़ा दोष यह है कि त्याग की उपेक्षा होने से भोग की सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। लोगों को आर्थिक लिप्सा इनती अधिक बढ़ जाती है कि संयम, ज्ञान, परोपकार इत्यादि मानवीय एवं नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन हो जाता है। इसीलिए नचिकेता यमराज से कहता है, 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' इसके फलस्वरूप समाज में आर्थिक संतुलन भंग हो जाता है। समकालिक (बीसवीं शताब्दी) युग का इतिहास साक्षी है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व बाजार को लेकर भोगवादी एवं विस्तारवादी संस्कृति के पोषक विभिन्न राष्ट्रों में खूनी संघर्ष हो गया। विश्व–मानव समाज को दो विश्वयुद्धों की विभीषिका से होकर गुजरना पड़ा और मानव–अस्तित्व के समक्ष गम्भीर संकट आ गया। इस भोग प्रधान आयातित संस्कृति के कारण ही आज भारत में पर्यावरण का संकट उत्पन्न हो गया है। पशु–पक्षी, कीड़ों, मकोड़ों और वनस्पति जगत् को भी भोगवादी संस्कृति निगल लेना चाहती है, भले ही इस अपच के कारण यह स्वयं ही कालकवलित हो जाय। आज सर्वत्र आतंकवाद, घोटालावाद, जातिवाद क्षेत्रवाद, दहेजवाद, व्यष्टिवाद, भ्रष्टाचार, संयुक्त परिवारों का विघटन, समष्टिवाद की उपेक्षा एवं

पारिवारिक वृद्धों का अपमान, गुरुओं के प्रति श्रद्धाहीनता इत्यादि इसी ब्राह्मणत्व–विरोधी सा अब्राह्मण संस्कृति के दुष्परिणाम हैं। इससे स्पष्ट है कि भारतीय सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में उत्पन्न हुई जड़ता एवं विभिन्न प्रकार के विकृत चिन्तन इसी भोगपरायण भौतिकवादी, संस्कृति की उपज हैं। आज हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' नहि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते, 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादि का उद्घोष करने वाली आध्यात्मवादी ब्राह्मण संस्कृति के मार्ग से विचलित हो गये हैं, भटक गये हैं। लोग नैतिक शक्ति एवं ज्ञान के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति के पीछे दौड़ रहे हैं। यह कितना बड़ा अन्धविश्वास है कि ब्राह्मण संस्कृति द्वारा पोषित मूल्यों का बिना सम्यक् मूल्यांकन किये ही उसे पिछड़ा घोषित किया जा रहा है। वस्तुतः ब्राह्मणत्व ही भारत की सांस्कृतिक विरासत और आध्यात्मिक थाती है। यह एक प्राप्तव्य आदर्श, शाश्वत बुद्धि वैभव और स्वयं साध्य है। इसे प्राप्त करना प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इसका विरोध एक भ्रान्ति और रूग्णमानसिकता से ग्रस्त आत्मघाती प्रवृत्ति है। इसका किसी ऐसी संस्कृति से तालमेल नहीं हो सकता जो आक्रामण, असहिष्णु, अकरूणामय, वैतण्डिक और सहअस्तित्व की विरोधी हो। ब्राह्मणों द्वारा पोषित सामाजिक संरचना न तो हेगलीय द्वन्द्वन्याय के निषेध पर और न मार्क्सवादी वर्ग–संघर्ष पर आधारित है। यह परस्पर सहयोग, शान्ति, समष्टिगत कल्याण और वर्ग–समन्वय पर आधारित सामाजिक जीवनचर्या है।

यह कोई जाति अपनी मूल सांस्कृतिक विरासत की उपेक्षा कर बैठे और किसी आयातित संस्कृति के प्रभाव से उन्मत्त होकर आत्म विस्मरण कर बैठे तो ऐसी स्थिति भयावह तथा आत्मघाती होती है। आज ब्राह्मण संस्कृति के पतन का एक प्रमुख कारण ब्राह्मण समाज की आत्मालोचन तथा आत्म–परिशोधन शक्ति का ह्रास है। हमें यह देखना होगा कि कहीं हम स्वकेन्द्रित होकर समष्टिगत कल्याण की उपेक्षा तो नहीं कर रहे हैं?



कहीं हम ब्राह्मणत्व की भूमि सौहार्द, प्रेम, सहयोग, ज्ञानामृत, और चारित्रिक उत्कर्ष को छोड़कर कुमन्त्रणा एवं द्रोह, घृणा एवं असहयोग, विलासिता एवं षड्यन्त्र की ओर पतनोन्मुख तो नहीं है? कहीं हम किसी काल्पनिक महत्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसंधान तो नहीं कर रहे हैं? हमारा पतन और कहाँ तक हो सकता है? जिस दिन हमारा समाज अपनी आत्मालोचन और आत्म–परिशोधन शक्ति को विकसित करके अपने मूल स्वरूप (ब्राह्मणत्व) को समझ लेगा, वही दिन ब्राह्मणत्व के पुनर्जन्म का होगा।

'ऊँ शान्ति : शान्ति : शान्ति :'

**दर्शनशास्त्र विभाग**
**इलाहाबाद विश्वविद्यालय**
**प्रयागराज**

# "भारत में सूफी साधना" : एक परिचय

स्व0 प्रो0सै0 फजले इमाम रिजवी

प्रस्तुत लेख ब्रज अकादमी की संगोष्ठी में प्रस्तुत किया गया था।

सूफी मत अपने में एक ऐसी शिक्षा है जो उसकी दीक्षा में निहित है। शिक्षा तथा दीक्षा की यह प्रक्रिया साथ-साथ रहती है। सूफियों की खानकाहें एक प्रकार से शिक्षण संस्थाएँ थी जहाँ त्याग, तपस्या एवं साधना के प्रतिमान प्रस्तुत थे। इन "खानकाहों" के द्वार सबके लिए खुले रहते थे। वहाँ किसी भी प्रकार का भेदभाव नही था, सभी वर्गो एवं विचारों के लोग आते और अपनी-अपनी तृष्णा बुझाते थे। इन सूफियों की भाषा मिली-जुली रहती थी। यद्यपि सूफी अरबी- फारसी के प्रकाण्ड विद्वान थे, तथापि ये मिली-जुली जनमानस की भाषा में अपनी शिक्षाओं को प्रस्तुक करते थे। यही नही, ये खानकाहें वैचारिक पोषण के साथ-साथ लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करती थी। रोगों के निवारण के लिए यहाँ पर जहाँ दुआऐं की जाती थीं वही दवाएँ भी दी जाती थी। इन सूफियों द्वारा दिये गये उपचार रोग-निवारण में सफल सिद्ध हुए।

"खानकाहे" वास्तव में मठ अथवा आश्रम का रूप होती थी। जहाँ साधकों को निश्चिन्त रूप से रहकर साधना एवं आत्मशुद्धि का अवसर



मिलता था। यद्यपि इस्लाम में "लारूहबानियत-वो-फिल इस्लाम" है अर्थात "इस्लाम" में घरबार छोड़कर कन्दराओं, गुफाओं अथवा जंगलों में इबादत, पूजा, अर्चना पर अधिक बल नही दिया गया है और बाल बच्चों के साथ, जीवन के समस्त उत्तरदायित्वों के साथ ईश्वर की पूजा, अर्चना को प्रमुखता प्रदान की गयी है तथापि उसमें सूफियों ने विरक्ति को पनपाय इसीलिए इस्लाम में बुढापे की पूजा-अर्चना को उतना महत्व नही है जितना की जवानी की इबादत का महत्व है। इस्लामी सूफीवाद का प्रमुख उदाहरण हजरत मोहम्मद तथा उनके परिवारजन (अहले बैत) एवं उनके सच्चे अनुयायी (सहाबा) है।

भारतीय सूफीमत अरब और ईरान के सूफी मतों से भिन्न है। भारतवर्ष में सुफीमत का आविर्भाव कब से हुआ, इसके लिए कोई निश्चित तिथि निर्धारित नही की जा सकती है। परन्तु यह अनुमान लगाना उचित है कि मुसलमानों के प्रवेश के साथ ही सूफी साधकों का आना-जाना आरम्भ हो गया था। सर्वप्रथम इन सूफी साधकों का पता सिन्धु, पंजाब तथा पश्चिमोत्तर भाग में चलता है। धीरे-धीरे समूचे देश में सूफीमत का प्रचार एवं प्रसार होता चला गया। शान्त तथा उदार सूफी साधकों ने भारत के निवासियों के हृदय पर प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया। यहाँ यह बात स्पष्ट

कर देना आवश्यक है कि मुस्लिम विजेताओं से सूफी साधकों का कोई सम्बन्ध नही रहा है, बल्कि शासक वर्ग तो इन सूफियों का विरोधी एवं शत्रु रहा है। इसका ऐतिहासिक प्रमाण यह है कि महमूद गजनवी के आक्रमण के दो सों वर्षों बाद तक किसी मुस्लिम धर्म प्रचारक का नाम नही मिलता है। परन्तु तेरहवीं शताब्दी ईसवी तथा उसके बाद भी बड़े-बड़े धर्म प्रचारकों, पीरों तथा सूफी साधकों के नाम मिल जाते है।

वास्तविकता यह है कि सूफियों की उदारता, स्वच्छ विचारधारा एवं भारतीय प्रज्ञा के नाते उनके प्रति भारतवर्ष के सभी वर्गो के लोगों की श्रद्धा बढ़ी। ऐसा कहा जाता है कि शाह सुल्तान बंगाल में सन् 1035 ई. में पधारे। ईराने से आने वाले सूफी अपनी धार्मिकता, सादगी, उदारता, चरित्र तथा निर्मल स्वभाव के कारण भारत की जनता में रच-बस गये तथा यहाँ की जनता का प्रिय भोजन बनने में तनिक भी देर नहीं लगी। उनका सादा, सरल, जीवन, सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति, धार्मिक कट्टरता के प्रति उदासीनता तथा सबसे बढ़कर उनकी तपस्या की ज्योति से हिन्दू जनता भी समान रूप से आकृष्ट हुई।

लाहौर में शेख इस्माईल सन् 1005 ई. में आये। इसके पश्चात् 1036 ई. में अबुल हसन बिन उस्मान बिन अली अलहुजवीरी के लाहौर में आने का



पता चलता है। ये बहुत बड़े विद्वान थे। उनकी पुस्तक "कशफुलमहजूब" में सूफी मत का पूर्ण-रूपेण विवेचन किया गया है। इनके दो सौ वर्ष बाद हजरत ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती का आगमन हुआ। इनके जन्म की प्रमाणित तिथि नही प्राप्त हो सकी है, किन्तु 1142 ई. मिलती है, इनका जन्म सीसतान (अफगानिस्तान) में हुआ। मृत्यु 1236 ई. में अजमेर में हुई। ग्रन्थों में मिलता है कि जब ये मदीना जा रहे थे उसी समय उनके हृदय में भारतवर्ष जाने को आवाज सुनायी दी। कहते है कि पैगाम्बर हजरत मोहम्मद ने स्वप्न में उनसे कहा कि "खुदा ने भारतवर्ष को तुम्हारे हाथों में सुपुर्द किया है। जाओं और अजमेर मे रहों" प्रचलित है कि इसके पश्चात ही ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती अजमेर आये। उनकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि हिन्दू तथा मुसलमान समान भाव से उनसे श्रद्धा करने लगे। आज भी दोनों समुदाय के लोग उनका आशिर्वाद प्राप्त करने अजमेर जाते है।

पंजाब तथा सिन्ध में सूफी साधकों का बड़ा प्रभाव रहा है। सिन्ध में तो सूफी मत के प्रवेश में बड़ी रोचक कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि सैयद उस्मान शाह नामक एक सुप्रसिद्ध सूफी ने अपने तीन मित्रों, शेख बहाबुलदीन, शेख फरीद तथा शेख मखदूम जलालुद्दीन को अपने साथ भारतवर्ष जाने के लिए अनुप्रेरित किया। सैयद उस्मान शाह बगदाद के बादशाह के प्रिय पात्र

थे। बादशाह उन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनका बड़ा मान तथा सम्मान था, फिर भी सैयद उस्मान शाह किसी आन्तरिक शक्ति से चालित होकर भारत में आने के लिए बेचैन हो उठे। इनक मित्र शेख फरीद बड़े सुन्दर थे। कहा जाता है कि एक दिन रोटी खरीदने गये। दूकान पर नानबाई की पत्नी के अतिरिक्ति कोई और नही था। वो शेख को देखकर मोहित हो गयी। उसने शेख को लाखों प्रकार से अपने वश में करना चाहा किन्तु असफल रही। असफल होकर उसने शोर मचाना आरम्भ किया। लोग एकत्रित हो गये औ शेख फरीद को दोषी ठहराने लगे। लोगों ने कहा यदि तुम सच्चाई पर हो तो सामने खौलता हुआ तेल का कड़ाह है उसमें कूद पड़ो। वे कूद पड़े और जब निकले तो उनके शरीर पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नही था, केवल उनके कपड़े लाला हो गये थे। लोगों ने कहा सचमुच आप लालों में लाह है। तभी ये लाल शाहबाज कहलाने लगें। सिन्ध में उनका स्वागत भी विचित्र ढंग से हुआ। जब वे सिन्ध में पहुँचे तो वहाँ बहुत से कट्टर मुल्ला अपना प्रभाव जमाये बैठे थे। उन लोगों ने दूध से भरा हुआ एक कटोरा भेज दिया। उसका अर्थ यह था कि तुम लोग यहाँ किसलिए आ रहे हो, यहाँ तो पहले से ही फकीर भरे हुए है। उस्मान शाह ने एक फूल दूध के ऊपर रख दिया। ऐसा



करने का तात्पर्य यह था कि उन लोगों को किसी सांसारिक वस्तु को चाह नही है। सिन्ध में सूफीमत के प्रवर्तक उस्मान शाह थे।

पंजाब तथा सिन्ध से सूफी मतावलम्बी उत्तर भारत के अन्य भागों में पहुँचने लगे। धीरे-धीरे सूफियों का विस्तार पूरे देश में हो गया। स्मरण रहे कि इन सूफियों ने अपने प्रभाव से धर्म परिवर्तन पर बल नहीं दिया। भारतीय परिवेश में वे रचे-बसे तथा अपने जीवन से प्रभावित किया। वे साधक थे ज्ञान-पिपासु थे। सूफियों ने भारतवर्ष के अन्य धर्मों एवं विचारों का गहन अध्ययन भी किया। अतः यहाँ पर एक दूसरे के प्रभाव स्पष्ट रूप से मिलते है।

दाराशिकोह जो औरंगजेब का भाई था। सूफी मत से बहुत अधिक प्रभावित था। उसने "सिर्र-ए-अकबर" के नाम से बावन उपनिषदों को फारसी में अनुदित किया। दाराशिकोह की आध्यात्मिक ज्ञानपिपासा बहुत उग्र थी। वह एकेश्वर वाद (तौहीद) तथा कुरआन के रहस्यों को जानना चाहता था। उसने ईसाई धर्म गन्थों का भी अवलोकन किया था। उसने "भगवत गीता" का भी अनुवाद फारसी में किया था। इसके अतिरिक्त उसने रामायण तथा योग-वशिष्ठ का भी फारसी में अनुवाद कराया था। हिन्दू साधुओं के सत्संग में भी वह रूचि लेता था। हिन्दू योगी "लालदास" तथा सूफी "सरमद" से वह

पूर्ण रूप से प्रभावित था। उसे मुल्लाओं का कोपभाजन भी बनना पड़ा। सरमद तो कृष्ण भक्त हो गये थे। सत्राहवी शदी शर्तों में सूफी मत का रूप और भी निखर कर सामने आया। इस काल में बुल्ले शाह जैसे सूफी सामने आये। उसने पंजाबी भाषा मे अपने विचार व्यक्त किये है। बुल्लेशाह अन्तरशुद्धि तथा मन की निष्ठा पर बल देते है। बुल्ले कहते है कि "लोग मुझसे कहते है कि ऐ बुल्ले मस्जिद में जाओं, मस्जिद में बैठों, किन्तु मस्जिद में जाने से और बैठने से क्या होता है यदि हृदय से प्रार्थना नही है। बाह्य पवित्रता से क्या होता है, असली पवित्रता तो मन की है। भारतीय चिन्तन धारा का प्रभाव बुल्लेशाह पर अधिक है। उनके लिए परमात्मा नाना पैगम्बरों तथा अवतारों में दिखाई पडता है-

बिन्द्राबन में गौ चरावे,
लंका कड़के नाद बजावै,
मक्के दावण हाजी आवै,
वाह-वाह रंग बटाई दा,
हुन कित्थे आप चपाई दा।

अर्थात "वृन्दावन में तुमने गा चराई, लंका पर विजय का डंका बजाया तथा मक्का में हाजी होकर आये। तुमने अद्भुत ढंग से रूप बदले है। अब तुम अपने को क्यों छिपा रहे हो?



बुल्लेशाह ने उसे पा लिया है। वह प्रियतम सबके भीतर समाया है-

सैयो हुन साजन मै पाइयो ई,
हरहर द बिच समाईयों ई

भारतवर्ष में सूफी मत के प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव से एक अत्यन्त अद्भुत बात सामने आयी। वह यह कि बहुत से हिन्दू मुसलमान पीरों के शिष्य थे और बहुत से मुसलमान हिन्दू योगियों के चेले थे। मियांमीर ने जो एक सूफी थे, गुरू हरगोविन्द की बहुत कठिन परस्थितियों में सहायता की। लाहौर के काजी की रिश्तेदार किसी महिला को उन्होंने गुरू के पास ज्ञान प्राप्ति के लिए भेजा था। बाबा फत्तू (सन् 1700 ई.) एक मुस्लिम थे। उनके बारे में प्रचलित है कि एक हिन्दू सन्त सोधी गुरू गुलाब सिंह के आशिर्वाद से उन्हें भविष्यवाणी करने की शक्ति प्रदान हुई थी। उनका मकबरा काँगड़ा जिले के रनीताल में है। बाबा शाहाना को एक मुस्लिम फकीर का चेला कहा जाता है। पंजाब के गिरोत स्थान में जमाली सुल्तान तथा दियाल भावन की कब्रे पास-पास है। ये दोनों साधु थे। उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ इनका काल माना जाता है। दोनों में घनिष्ठता थी। आज भी उन दोनों की कब्रों पर हिन्दू तथा मुसलमान दोनों जाकर फूल चढ़ाते है।

दूर जाने की आवश्यकता नही उत्तर प्रदेश में फैजाबाद जनपद में किछौछा शरीफ में ही जाकर देखिये तो यहाँ ख्वाजा मखदूम अशरफ समनानी का मजार है। वहीं नीचे पंडित कमाल की भी समाधि है। जहाँ आज भी जनेऊँ तथा खड़ाऊँ चढ़ाये जाते है। पंडित कमाल की समाधि से होकर की ख्वाजा साहब के मजार पर पहुँच जाता है।

वास्तविकता यह है कि सूफी मत से भारतवर्ष के परिवेश में एक उदारता तथा मानवता भली-भाँति परिलक्षित होती है। इस्लाम में जों यह कहा गया है कि प्रत्येक स्थान का अपना पैगम्बर (ईश्वरीय दूत) होता है। अतः राम तथा कृष्ण को भी उसी भावना से सूफी मत में देखना सिखाया जिस भावना से अन्य पैगाम्बरों को देखा जाता है। सूफी मत में देखना सिखाया जिस भावना से अन्य पैगाम्बरों को देखा जाता है। सूफी कवियों में यह प्रवृत्ति बी देखने को मिलती है कि जैसे वैष्णव कृष्ण को उपास्य देव मानकर वृन्दावन, गोकुल तथा राधा का नाम लेते है। उसी प्रकार उन्होंने हजरत मुहम्मद स. अ. को लेकर काव्य रचना की है। सूफी स्वयं को राधा के स्थान पर रखता है, मदीना उसके लिए मथुरा है। गोकुल तथा वृन्दावन उसका अपना घर है। करीम बख्श एक पंजाबी सूफी थे। उन्होंने एक



बारहमासा रचा है जिसमें उन्होंने भारती. बारहमासों का वर्णन किया है तथा राधा की भाँति हृदय की वेदना तथा स्पन्दन व्यक्ति किया है।

मुल्ला दाऊद कृत "चन्दायन" ( 781 हिजरी-1379 ई. ) से लेकर कवि नसोर कृत "प्रेम दर्पण" (1917-18) ई. तक काव्य श्रृंखला में इसके चोखे रंग मिलते है। इसमें दक्षिण एवं उत्तर के सूफियों में आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप को अपने-अपने ढंग से जाना, परखा तथा समझा है तथा जीवन के यथार्थ को दर्शाया है। आज के युग में जबकि भौतिकता की होड़ लगी है। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वो किसी भी भूखण्ड का हो, पीड़ित एवं बेचैन है तथा असन्तोष का जीवन व्यतीत कर  रहा है, सूफी साधना उसे शान्ति तथा सुख प्रदान कर सकती है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूफी मत की भारतीय परम्परा अत्यन्त प्रभावी एवं हृदयग्राही रही है। उत्तर प्रदेस में सूफियों के अनेक कानखान्हे, विशेषतः गोमती नही के किनारे पीरों एवं मुरीदों को सिलसिला जहाँ एक ओर कौमी एकता का अलख जगाये रहा वही दूसरी और उनके द्वारा दी गई तालीम आलम को सहानियत की शख्शीयता से पुराकायफ करता रहा है। हजरत निजामुद्दीन औलिया जैसे सूफी का जन्म स्थान बदायूँ है जहाँ भी फकीरों के खानखान्हें उनकी याद बनाये हुए है। पर उनका प्रभाव

उत्तर प्रदेश से दिल्ली और वहाँ से पंजाब तथा सुदूर दक्षिण भारत तक फैला। उल्लेखनीय है कि सूफियों के मत वहदतउल बजूद और वहदतउल शुहूद क्रमशः अद्वैत वेदान्त एवं विशिष्टाद्वैत वेदान्त से प्रभावित धारायें है, जैसे उनका "फना" और "बंका" के सिद्धान्त हीनयान और महायान मतों को आत्मसात किये हुए थे। इस प्रकार सूफी मत में भारत के अध्यात्मवाद की अपनी भागीदारी का पूर्ण निर्वाह किया गया है।

सूफी कवियों में जायसी, कुतुबन, मंझन, आदि ने भारती आख्यानों के माध्यम से सूफी प्रेम तत्व को, आत्मा एवं परमात्मा के मिलन को देशी भाषा के माध्यम से जो प्रतिपादित किया है उससे भारतीय भाषा साहित्य का अद्भुत विकास हुआ है। दूसरी ओर ब्रज भाषा के सूफी कवियों ने ब्रज भाषा के माध्यम से काव्य एवं संगीत का वैभाव बढ़ाया है, हिन्दुस्तानी संगीत के नाम से उसकी पहचान बन चुकी है।

पूर्वी भारत में इलाहाबाद, खैरागढ़, बनारस, जौनपुर आजमगढ़, पटना, आदि में सूफियों के प्रसिद्ध खानखान्हें थी  जिन पर आज शोध की आवश्यकता है। इलाहाबाद में शेख तुर्की की समाधि तथा डेराशाह अजमल में सूफी दादरा आज भी प्रेरणादायक है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के  अरबी विभाग के निवर्तमान प्रोफेसर रफीक ने वसीयत लिख दी थी कि उनकी



दरगाह झूसी में गंगा तट पर शेखतकी की समाधि के पास बनायी जाय। ऐसा ही 1994 में उनकी मृत्यु के बाद किया गया। यह है सूफियों का प्रभाव तथा गंगा के प्रति उनका अनुराग। इस भावना को वर्तमान भारतीय शिक्षा में लाना एक प्रगतिशील कर्तव्य है।

पूर्व अध्यक्ष, उर्दू विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज

.....

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत् नरश्चरितमात्मनः।
किं नु में पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरूषैरिति।।

(शार्ग्डधर पद्धतिः)

मुनुष्य को अपने आचरण के विषय में नित्य ही विश्लेषण कर लेना चाहिए कि कौन सा आचरण पशुवत है, कौन सा सज्जनों के जैसा है।

सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत संगतिम्।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किंचिदाचरेत्।।

(शार्ङ्गधर पद्धतिः)

सज्जनों के साथ ही रहना चाहिए, उन्हीं का साथ करना चाहिए, उन्ही क साथ मित्रता या बैर भी करना चाहिए। असज्जन के साथ कोई व्यवहार नही करना चाहिए।

# कबीर के दर्शन में अद्वैतवाद

-प्रो0 सरोज कुमार वर्मा

यद्यपि कबीर की विस्तृत चर्चा हिन्दी साहित्य में होती रही है और उन्हें मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के महत्वपूर्ण संत कवि के रूप में रेखांकित किया जाता रहा है, परन्तु उनकी "साखी", "शब्द" और "रमैनी" आदि रचनाओं का एक ठोस दार्शनिक आधार भी है। डा. श्याम सुंदर दास ने कबीर ग्रंथावली की प्रस्तावना में कबीर के काव्यत्व पर विचार करते हुये लिखा है- "उनकी आधी से अधिक रचना दार्शनिक पद्य मात्र है।" अब यदि ऐसा है तो इसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए कि उनका दार्शनिक सरोकार क्या है?

इस क्रम में उनकी रचनाओं का तत्वमीमांसीय आधार खोजने पर यह पता चलता है कि वे एक अद्वैतवादी दार्शनिक है। यद्यपि इस अद्वैतवाद के बीज उपनिषद् में मिलते हैं परन्तु इसका शीर्ष विकास शंकर के दर्शन में होता है। शंकर ने इस मूल सत्ता को ब्रह्म की संज्ञा देते हुये उसे सच्चिदानंद अर्थात् जिसमें सत्, चित् और आनंद तीनों हो, कहा है और यह घोषणा की है कि यह ब्रह्म अनंत, निर्गुण, निर्विशेष और निरपेक्ष सत्ता है तथा यही एकमात्र सत्य है और बाकी सारा मिथ्या।



कबीर भी अपनी रचनाओं में इसी अद्वैतवादी चिंतन का प्रतिपादन करते है। क्योंकि उनके अनुसार भी मूल सत्ता अद्वैत एवं स्वरूप में चेतन है तथा वही एकमात्र सत्य है और यह सारा संसार उसी एकमात्र चेतन सत्ता की अभिव्यक्ति है। यद्यपि कबीर उस सत्ता के लिए "राम" शब्द का प्रयोग करते है, कभी-कभी ब्रह्म भी, परन्तु उनका वह राम निर्गुण, निर्विशेष, निरपेक्ष और निराकार सत्ता ही है। यह स्थापना उनके पद- "निरगुण राम जपहु रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई"।- से प्रकट होती है। इसी पद को उद्घृत करके डा. श्याम सुंदर दास ने "कबीर ग्रंथावली" की प्रस्तावना में कबीर के तात्विक सिद्धान्त पर प्रकाश डालते हुये स्पष्ट रूप से लिखा है- "राम से उनका तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म से है। उन्होंने "निरगुण राम जपहु रे भाई" का उपदेश दिया है। उनकी राम भावना भारतीय ब्रह्म भावना से सर्वथा मिलती है।2 इस तथ्य की पुष्टि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी अपनी पुस्तक कबीर में इन शब्दों में की है- यह राम निरंजन है, उसका रूप नही, रेखा नही, वह समुद्र भी नही, पर्वत भी नही, धरती भी नही, आकाश भी नही, सूर्य भी नही, चंद्र भी नही, पानी भी नही, पवन भी नही, ..... समस्त दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण, सबसे न्यारा (क.ग्रं. पद 299) वह समस्त वेदों से अतीत, भेदों से अतती पाप और पुण्य से परे ज्ञान और ध्यान का

अविषय, स्थूल और सूक्ष्म से विवर्जित, भेष और भीख के अगम्य, डिंभ और रूप से अतीत-अनुपम त्रैलोक्य विलक्षण परम तत्व है (क. ग्रं. 220)3

कबीर अपने इस परम तत्व राम की स्थापना सगुण राम की अवतारवादी अवधारणा का खंडन करके करते है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहाँ है "दशरथ के गृह ब्रहम न जनमें, ई छल माया कीन्हा" आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी उनके लंबे पद- "ना दशरथ धर औतरि आवा..... " की व्याख्या करते हुये लिखा है- कबीर दास के राम पुराण प्रतिपादित अवतार नही थे, यह निश्चित है। वे न तो दशरथ के घर उतरे थे और न लंका के राजा का नाश करने वाले हुये। ..... कबीर दास ने बहुत विचार करके कहा है कि ये सब ऊपरी व्यवहार है। जो संसार में व्याप्त हो रहा है वह राम इनकी अपेक्षा कही अधिक अगम अपार है"।4 राष्ट्र कवि रामधारी सिंह दिनकर ने भी अपनी पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय में इस तथ्य से अपनी सहमति इन शब्दों में व्यक्त की है- कबीर के राम दशरथ के पुत्र नही है, न वे चतुर्भुज विष्णु के अवतार हैं। वे तो अकाल, अजन्मा, अनाम और अरूप है।



परन्तु रामानंद के राम तो ऐसे नहीं थे। रामानंद कबीर के गुरू थे और राधवानंद के शिष्य। राघवानंद का स्थान रामानुज-परम्परा की चौथी पीढी में है। इस प्रकार गुरू का रामानुज की परम्परा से जुड़े होने के कारण कबीर भी रामानुज की परम्परा से जुड़ जाते है। रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिक है। विशिष्टाद्वैत वह तत्वमीमासीय सिद्धांत है, जिसके अनुसार यद्यपि ब्रहम परम सत्व है, परन्तु ईश्वर, जीव और जगत् इसके तीन अंग है जो उसमें पाये जाते है। इसमें भी ईश्वर अधिक सत्य है क्योंकि वह ब्रहम का पर्याय है। इस प्रकार यह ब्रहम सगुण व्यक्तित्वपूर्ण, जगत का स्त्रष्टा, पालक, संहारक, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, जीवों का कर्मफल दाता तथा उपासना का विषय है, क्योंकि ईश्वर इन गुणों से युक्त है। रामानंद चूँकि रामानुज की इसी विशिष्टाद्वैतवादी परम्परा से जुड़े थे, इसलिये स्वाभाविक रूप से उनका राम सगुण हो जाता है और गुरू-शिष्य परम्परा के इसी आधार पर उनके शिष्य कबीर के राम को भी सगुण होना चाहिए या। परन्तु ऐसा हुआ नही। इसका कारण रामधारी सिंह दिनकर ने कबीर पर इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव बतलाया है। उन्होने अपनी पुस्तक "संस्कृति के चार अध्याय "में भक्ति आंदोलन की सुदीर्घ परम्परा की विस्तार से चर्चा करते हुये लिखा है- "राम की कल्पना में कबीर ने जो परिवर्तन किये"। उनका कारण इस्लामी

प्रभाव था। इस्लाम का एकेश्वरवाद कबीर को बहुत पसंद था और अभ्यासी वे भारतीय वेदान्त के भी थे। अतएव, सगुणोपासक गुरू से मंत्र लेकर भी वे अपने निर्गुण प्रेंम को छोड़ नहीं सके।6 दिनकर के इस विचार से अपनी सहमति व्यक्त करते हुये हिन्दी के विद्वान अजय तिवारी ने भी लिखा है- कबीर के अद्वैतवाद पर सूफियों के एकेश्वरवाद और प्रेमतत्व का भी गहरा असर था।7

प्रसंगवश यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस्लामी एकेश्वरवाद और भारतीय अद्वैतवाद दोनों एक ही सिद्धांत नहीं है, बल्कि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इस्लामी एकेश्वरवाद एक ईश्वर में तो विश्वास करता है, परन्तु उसे संसार से बिल्कुल पृथक मानता है। इस मत के अनुसार ईश्वर समस्त जगत् और जीवों से भिन्न और परम समर्थ है।8 लेकिन भारतीय अद्वैतवाद जगत् और जीवों से भिन्न ऐसे किसी ईश्वर में विश्वास नहीं करता। इसके अनुसार ब्रहम, जो एकमात्र परम तत्व है, व्यापक होने के कारण जगत् और जीव सब में एक भाव से व्याप्त है। इस प्रकार इस्लामी एकेश्वरवाद और भारतीय अद्वैतवाद में समानता एक हद तक सिर्फ मूल तत्व की संख्या को लेकर है, उसके स्वरूप को लेकर नही। इसलिए कबीर पर इस्लामी एकेश्वरवाद का प्रभाव भले हो, परन्तु वे एकेश्वरवादी हैं नही। है वे



अद्वैतवादी ही। लंबी छान-बीन के बाद अजय तिवारी ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुये लिखा है- "कबीर ने जिस अद्वैतवाद का प्रचार किया, वह आठवीं सदी के महान दार्शनिक शकंराचार्य के ब्रहम सूत्र भाष्य (शारीरक भाष्य) से लोकप्रिय हुआ था।"[9]

अद्वैतवात की एक अति महत्वपूर्ण विशेषता- बहम का अनिवर्चनीय होना भी कबीर के दर्शन में पायी जाती है। वे जब कहते है- "एक कहौ तो है नहीं, दोय कहौ तो गारे। है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर विचारि।।" तो स्पष्ट रूप से उनका इशारा परम तत्व ब्रहम या उनकी शब्दावली में राम की अनिवर्चनीयता की तरफ ही होता है। एक जनश्रुति[10] के मुताबिक एक बार पंड़ितों में परम तत्व को लेकर शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें लम्बी बहस के बाद उसकी संख्या को छोड़कर बाकी सभी मुद्दो पर वे एकमत हो गये। उस शास्त्रार्थ में एक श्रोता कबीर का शिष्य भी था, जिसमें संख्या सम्बन्धी विवाद के बारे में अपने गुरू की राय जाननी चाही तो कबीर ने हंसकर कहा- जाकर उन्हीं पंड़ितों से पूछ कि जो रूप से निकल गया, रस से अतीत हो गया, गुण से परे हो गया, वह संख्या में जाकर कैसे अटक गया? निश्चित रूप से कबीर का यह उत्तर उनकी अद्वैतवादी अवधारणा को तो स्पष्ट करता ही है, परम तत्व की अनिवर्चनीयता पर भी प्रकाश डालता है।

बीसवीं सदी के सर्वाधिक चर्चित (लेखक के मत में) दार्शनिक ओशो ने भी "अद्वैत" शब्द पर विचार करते हुये कबीर के इस पद में अंतर्निहित अनिवर्चनीयता के संकेत को इस प्रकार स्पष्ट किया है- ..... एक की सार्थकता तभी है जब दो होता है। एक का क्या महत्व होगा अगर दो हो ही न? कम से कम दो को परकल्पित करना पड़ेगा, तभी तो एक में कोई अर्थ होगा। अगर तुमसे पूछा जाया कि दो, तीन चार, पाँच सारी संख्यायें खो गई, सिर्फ एक संख्या बची- इसका क्या अर्थ होगा? क्या कहोगें तुम जब कहोगे एक? तुमसे कोई पूछ बैठेगा, मतलब? तो तुम्हें तत्क्षण दो को भीतर लाना पड़ेगा, तुम्हे कहना पड़ेगा, जो दो नहीं। लेकिन दो तो है ही नही, तो एक भी कहने में कितना सार है? इसीलिए तो हिन्दुओं ने बड़े श्रम के बाद "अद्वैत" शब्द खोजा। दुविधा के भीतर बड़ी चेष्टा करनी पड़ी। तो न तो वे कहते है, ब्रह्म एक है, न वे कहते है, दो है। वे कहते हैं इतना ही समझ लो कि दो नही है। अद्वैत का अर्थ हुआ दो नहीं। ..... एक कहने में डर है, क्योंकि एक में अर्थ ही तब होता है, जब दो की संख्या सार्थक हो और उस पार ब्रह्म के अनुभव में दो की कोई संभावना नही है। तो जहाँ दो ही नही है, वहाँ एक की क्या सार्थकता?



एक कहाँ तो है नही, दोय कहौ तो गारि। है जैसा तैसा रहे, कहै कबीर विचारि।। और कबीर कहते हैं, बहुत विचारा, बहुत सोचा, बहुत उपाय बताये, बहुत तरह से कोशिश की-अब इतना ही कहना ठीक है कि "है जैसा तैसा रहे।" जैसा है बस वैसा ही है। उसकी कसी से कोई उपमा नहीं हो सकती, कोई तुलना नहीं हो सकती। उसकी तरफ कहीं से भी कोई संकेत नही किया जा सकता। कोई अनुमान काम न करेगा।"

इस प्रकार यह तय होता है कि कबीर अदवैतवादी है। परन्तु अदवैतवादी दर्शन के सामने सबसे बड़ी समस्या विश्व की व्याख्या की खड़ी होती है। क्योंकि जब ब्रह्म, निर्गुण, निराकार और निरपेक्ष सत्ता है, तो फिर उससे अनेक सगुण, साकार और सापेक्ष विश्व की व्याख्या कैसे हो सकती है? इसका समाधान शंकर माया के आधार पर करते है। माया, जो अध्यास रूप है, अपने आवरण और विक्षेप इन दो कार्यों के द्वारा ब्रह्म पर पर्दा डालकर विश्व के रूप में उपस्थित करती है। अतः ब्रह्म का विश्व के अनेक रूपों में दिखाई पड़ने का कारण माया ही है। कबीर भी अपने निर्गुण राम से सगुण विश्व की व्याख्या ऐसे ही करते हैं। वे भी यह मानते है कि अज्ञान के कारण ही एक सत्ता अनेक रूपों में दिखायी पड़ती है, परन्तु वे रूप आत्यन्तिक रूप से सत्य नहीं होते, बल्कि उस एकमात्र सत्ता की अभिव्यक्ति भर होते है।

उनके पद- "पाणी ही ते हम भया, हिम ह्वै रहा बिलाई। जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ"।। से यह व्याख्या स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। इसी आधार पर डा. श्याम सुंदर दास ने "कबीर ग्रंथावली" में लिखा है- ब्रह्म ही जगत् में एक मात्र सत्ता है, इसके अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है। जो कुछ है, ब्रह्म ही है, ब्रह्म से ही सबकी उत्पत्ति और फिर उसी में सब लीन हो जाते है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी कबीर के लंबे पद- "व्यापक ब्रह्म सब निमै एकै....." की व्याख्या करते हुये लिखते है- "वह ब्रह्म व्यापक है, सब में एक भाव से व्याप्त है,..... यह जो नाना भाँति का प्रपंच दिखाई दे रहा है, अनेक घट और अनेक भाण्ड दिख रहे है, सब-कुछ उसी का रूप है।[13] और इसी तरह की व्याख्या ओशो भी कबीर के पद- "अछै पुरूष इक पेड़ है, निरंजन बाकी डार। तिर देवा साखा भये, पात भया संसार" की करते हुये कहते है- "कबीर यह कह रहे हैं कि परमात्मा और संसार में फासला नही है, ये एक ही चीज के दो ढंग है। स्त्रष्टा और सृष्टि दो नहीं है और पात-पात में वही फैला है। तुम उसके ही पात हो। तुम्हारे पत्ते कितने ही अलग दिखाई पड़ रहे हों, तुम इस भ्रान्ति में मत पड़ना कि तुम अलग हो। अलग तो तुम हो ही नहीं सकते। एक क्षण तुम जी नही सकतें अलग होकर। अनंत-अनंत



मार्गों से तुम उससे जुड़े हो। प्रतिफल श्वांस ले रहे हो, श्वांस काट दी जायें, एक द्वार टूट गया, एक सेतु मिट गया- कैसे जीओगे? सूरज की किरणें चली आ रही है, तुम्हारें रोएं-रोएं को जीवन के उत्ताप से भर रही है, सूरज ठंढा हो जाये, तुम कैसे जीओगे? ये तो स्थूल बाते हैं। ऐसे ही सूक्ष्म तल से सब तरफ से परमात्मा तुम्हें संभाले हुये हैं जैसे वृक्ष को अदृश्य जड़े संभाले होती है और वृक्ष पत्ते -पत्ते की फिक्र कर रहा है। तो घबडाओ मत कि तुम पत्ते हो और संसार में हो संसार भी उसी का है। सृष्टि और स्त्रष्टा दो नहीं है, सृष्टि स्रष्टा की ही फैलाव है"।[14]

ब्रह्म से नाना रूपात्मक विश्व की व्याख्या के क्रम में इस प्रश्न का - कि जब ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है तो क्या विश्व को पूर्णतः असत्य माना जाये - भी उत्तर मिल जाता है- नही। क्योंकि इस विश्व का आधार ब्रह्म है और जिसका आधार परम सत्य हो उसे पूर्णतः असत्य नहीं माना जा सकता। इसलिए शंकर ने सत्ता की तीन श्रेणियों - पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक की चर्चा करते हुये विश्व को व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत रखा है और कहा है कि यद्यपि यह पारमार्थिक रूप से सत्य नही है, जैसे कि ब्रह्म है, परन्तु यह आकाश कुसुम अथवा बंध्यापुत्र के जैसा एकदम असत्य भी नही है, बल्कि इसकी व्यावहारिक सत्यता है और इसीलिए हमारा

व्यावहारिक जीवन संभव और सफल हो पाता है। कबीर भी इस संसार की सत्यता के संबंध में इसी तरह का विचार रखते है। इसीलिए इसे न तो परमार्थतः सत्य मानते हैं और न पूर्णतः असत्य। आचार्य हजारी प्रसाद दविवेदी की ये पंक्तियाँ - "कबीर ने इसे इतने बड़े विश्व व्यापार को निरर्थक नहीं समझा। उन्होने उसे इस असीम प्रियतम की लीला का उन्मेषयिता माना है। सीमा उस असीम की ओर उठी हुई उँगली है। वह असीम का पथ बताती है, पर स्वयं उसी को असीम नही माना जा सकता।"[15] उनके इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती है।

कबीर अपने इसी दृष्टिकोण से ब्रह्म और जीव के संबंध की भी व्याख्या करते हैं, क्योंकि यह दृष्टिकोण अद्वैतवादी है। अद्वैतवाद के अनुसार जिस प्रकार माया के कारण ब्रह्म नानारूपात्मक विश्व में प्रक्षेपित हो जाता है, उसी प्रकार वही ब्रह्म अविधा के कारण अनेक जीवों के रूप में दिखाई पड़ने लगता है। परन्तु तत्वतः जिस प्रकार ब्रह्म और विश्व अभिन्न है उसी प्रकार ब्रह्म और जीव भी अभिन्न है। शंकर ने कहा भी है- "जीवों ब्रह्मैव नापरः" - अर्थात् जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं। परन्तु वह भिन्न दिखाई पड़ता है। इसका कारण शरीर, मन तथा इंद्रियों आदि उपाधियाँ हैं। ब्रह्म जब इन उपाधियों से सीमित हो जाता है तो वह जीव बन जाता है।



इस प्रकार जीव भी व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक नहीं। कबीर भी जीव को पारमार्थिक सत्य नही मानते बल्कि उसकी व्यावहारिक सत्यता स्वीकार करते है और यह प्रतिवादित करते है कि उपाधियों के कारण तत्वतः एक होने के बावजूद ब्रह्म और जीव में अंतर दिखाई पड़ने लगता है। इस प्रकार कबीर के यहाँ भी अंतर केवल आकार का है, तत्व का नही। "जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी। फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथा कथौ गियानी।"- उनका यह पद ब्रह्म और जीवन की अभिन्नता और उपाधि के कारण दिखाई पड़ने वाली भिन्नता के सत्य का स्पष्टीकरण है। डा. श्याम सुंदर दास इस स्पष्टीकरण की व्याख्या इसी पद के आधार पर करते हुये लिखते हैं- "यह नाना रूपात्मक दृश्य जो चर्म चक्षुओं को दिखाई देता है, जल में घड़ा है जिसके बाहर-भीतर ब्रह्म रूप वारी है और अंदर भी है। बाह्य रूप का नाश हो जाने पर घड़े के अंदर का जल जिस प्रकार बाहर वाले जल में मिल जाता है उसी प्रकार बाह्य रूप के अभ्यंतर का ब्रह्म भी अपने वाह्यस्थ ब्रह्म में समा जाता है"।[16] अजय तिवारी के शब्दों में भी कबीर ब्रह्म और जीवन को दो नही मानते, इसलिए अद्वैतवादी है। कुंभ का जल सीमित आत्मा का प्रतीक है, जलाशय का व्यापी ब्रह्म का प्रतीक। दोनों जल एक ही

हैं। इसलिये कुंभ फूटने पर उसके भीतर का जल व्यापी-ब्रह्म-रूपी जल में मिलकर एकमेव हो जाता है।[17]

परन्तु जब तब कुंभ का जल जलाशय के जल से मिल नही जाता तब तक सीमा में पड़ा रहता है। यह सीमा बंधन है। जीवन भी तत्वतः ब्रह्म होने के बावजूद उपाधियों की सीमा में पड़े होने के कारण स्वयं को बंधनग्रस्त महसूस करता है, यद्यपि यह बंधन वास्तविक नहीं होता। अज्ञान के कारण ही उपाधियां सत्य मालूम पड़ने लगती हैं और उनकी अनुभूतियां अपनी। इसीलिये शंकर अज्ञान को बंध का कारण मानते हैं। अज्ञान के कारण ही ब्रह्म से अभिन्न जीवन स्वयं को बिना वास्तविक बंध में पड़े बंधन में पड़ा हुआ अनुभव करने लगता है। कबीर भी अज्ञान रूपी माया को ही बंधन का कारण मानते है। इसीलिये कहते है- "माया महाठगिनि हम जानी। तिरगुन फांसिलिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।" अर्थात् यह माया महा-ठगिनि है। हाथ में फंदा लिये घूमती है और मीठी वाणी बोलकर जीवन को इसमें फंसा लेती है। फिर बांध कर उसे नचाती है और अंततः मार देती है - "माया मारि करै न्योहार।"



यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि माया का जो फंदा है वह "तिरगुन" है। तिरगुन अर्थात् सत्व, रज और तम- इन तीन गुणों से बना हुआ। इन्हीं तीन गुणों से बने फांस से माया जीवों को बांधती है। स्पष्ट है कि यह विचार शंकर के माया-विचार से मिलता-जुलता है, क्योंकि शंकर भी माया को त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्व, रज और तम-इन तीन गुणों से निर्मित मानते हैं। शंकर और कबीर की माया में एक समानता यह भी है जिस प्रकार शंकर की माया ब्रह्म की शक्ति है और ब्रह्म में ही निवास करती है, उसी प्रकार कबीर की माया भी राम की शक्ति है और राम ही में निवास करती है, उनका पद "तू माया रघुनाथ की खेलणा चली अहेड़ै" इस तथ्य को स्पष्ट करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस पूरे पद को उद्दत कर इसकी व्याख्या में लिखते है। कबीर दास ने कहा था कि यह रघुनाथ की माया ही है जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालों में फँसाकर मुनि,पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्रह्मण और संन्यासी को मार रही है। स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कबीर दास के यहाँ "रघुनाथ" से तात्पर्य वेदान्तियों के परब्रह्म से है।[18]

अब जब माया ही जीवों को बंधन में डालती है तो फिर इससे मुक्ति कैसे मिल सकती है? शंकर के यहाँ इसका उपाय "ज्ञान" है। चूँकि जीव का

बंधन वास्तविक नहीं होता, वह अज्ञान के कारण ही स्वयं को बंधन में पड़ा हुआ महसूस करता है, इसलिये ज्ञान को जाने पर वह अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। शंकर के अनुसार यह ब्रह्म साक्षात्कार ही मोक्ष है। कबीर भी इस मोक्ष प्राप्ति का उपाय ज्ञान को ही मानते हैं। इसीलिये वे स्पष्ट रूप से कहते है- "तो को पीव मिलेंगे घूंघट के पट खोल रे"[19]। अर्थात् अज्ञान का पर्दा हटाते ही ब्रहम का साक्षात्कार हो जाता है। जाहिर है अज्ञान का यह पर्दा ज्ञान से हट सकता है, इसलिए इसी पद में ने आगे-"सुन्न महल में दियना बार ले" अर्थात् ज्ञान का दीया जला लेने की बात करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कबीर के यहाँ भी ब्रह्म का साक्षात्कार कर मोक्ष प्राप्त करने का साधन ज्ञान ही है।

और जैसा कि शंकर के यहाँ इस मोक्ष-प्राप्ति में जीव ब्रह्म् को जानकर, परमार्थतः ब्रह्म होने के कारण, ब्रह्म ही हो जाता है- "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" वैसा ही कबीर के यहाँ भी जीव मोक्ष-प्राप्ति में ब्रह्म को जान कर इससे तादात्म्य संबंध स्थापित कर लेता है। इस सत्य को वे अपने पद- लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल। लाली देखने में मई मै भी हो गई लाल।"[20] - के द्वारा स्पष्ट रूप से व्यक्त करते है। निश्चित रूप से इस पद के द्वारा कबीर शंकर की तरह यह प्रतिपादित करते है कि एकमात्र ब्रह्म ही



चारों ओर व्यापक रूप से फैला हुआ है, इसलिये जो भी उस ब्रह्म को जानने जाता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।

इस प्रकार यह स्थापित होता है कि कबीर अद्वैतवादी थे। उनके दर्शन में अद्वैतवाद है। परन्तु अफसोस है कि उनकी रचनाओं में इनमें स्पष्ट ओर सुनिश्चित दार्शनिक सूत्र होने के बावजूद उन्हें दर्शन की दुनिया में अपेक्षित स्थान नहीं मिला। आज जबकि कबीर को खंड-खंड कर प्रस्तुत करते हुये उन्हे केवल कवि के रूप में स्वीकारने और उनके दार्शनिक सरोकारों को रेखांकित करते हुये दार्शनिक जगत् में उसके मूल्यांकन की अपेक्षा और बढ़ जाती है। भारत में दर्शन जीवन से जुड़ा रहा है। इसलिये कबीर का यह दार्शनिक मूल्यांकन मानव के व्यक्तिगत उत्थान और समाज के समुचिक विकास दोनों के लिये महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हो सकता है।

## सन्दर्भ


1. दास, डॉ. श्याम सुन्दर (संपादक)," कबीर ग्रंथावली" कबीर ग्रंथावली (प्रस्तावना), पृष्ठ 47 (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सोलहवां संस्करण, सं. 2045 वि. )
2. वही, पृष्ठ 24।
3. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद; "कबीर" पृष्ठ 127 (राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली- 110002, 1980)।
4. वही, पृष्ठ 130।
5. दिनकर, रामधारी सिंह "संस्कृति के चार अध्याय," पृष्ठ 319 (१लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधा मार्ग, इलाहाबाद-1, 1998)
6. वही, पृष्ठ 320।
7. तिवारी, अजय, "कबीर की कविता पर कुछ टिप्पणियाँ" आवर्त (प्रगतिशील विचारों की पत्रिका), अंक-6 जनवरी, 2000, पृष्ठ 8 (संपादक-वीरेश चन्द्र, द्वारा- एस. बी. सिन्हा, (सिन्हा सदन) रसूलपुर,जिलानी,मझौलिया रोड, मुजफ्फरपुर-842001, (बिहार)।
8. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, "कबीर" पृष्ठ 131।
9. तिवारी, अजय, 'आवर्त' अंक-6 जनवरी 2000, पृष्ठ 7।
10. वर्मा, प्रमोद, "कबीरः हमारे समय के झरोखे से" वागर्थ (भारतीय भाषा परिषद् की मासिक पत्रिका), अंक-59 मार्च/अप्रैल 2000 (कबीर विशेषांक), पृष्ठ 24 (संपादक -प्रभाकर क्षेत्रिय, भारतीय भाषा परिषद् 36 ए शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता-7000017)।
11. ओशो, "कस्तूरी कुण्डल बसै," पृष्ठ 278-79 ( ताओ पब्लिशिंग प्रा. लि., 50 कोरे कांव पार्क, पूना-411001) ।
12. दास, डॉ. श्याम सुंदर, "कबीर ग्रंथावली" प्रस्तावना, पृष्ठ 25।
13. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसादी,"कबीर" पृष्ठ 131-132।
14. ओशोः "कस्तूरी कुण्डल बसै" पृष्ठ 285-86।
15. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, "कबीर" पृष्ठ 218।
16. दास डॉ. श्याम सुंदर, "कबीर ग्रंथावली" प्रस्तावना, पृष्ठ 27।
17. तिवारी, अजय कबीर की कविता पर कुछ टिप्पणियाँ ,"आवर्त" अंक-6 पृष्ठ6।
18. द्विवेदी आचार्य हजारी प्रसाद,"कबिर" पृष्ठ 119
19. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को पुस्तक "कबिर" में संकलित पद संख्या-224, पृष्ठ 346।
20. वही, संकलित पद संख्या-334 पृष्ठ 349।



व्याख्याता (दर्शन-विभाग)
जे.बी.एस.डी. कालेज
बकुची, कटरा मुजफ्फरपुर, बिहार

# धर्म की सनातन व्याख्या

स्व0 आचार्य पं0 केदारनाथ त्रिपाठी
(भू0 पू0 अध्यक्ष दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

धर्म सनातन है और जो सनातन है वही धर्म है। भारतीय संस्कृति का यह अनुपम रहस्य है। इसीलिए कहा गया है- ''धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्''। यही रहस्य श्रुति पुराणौतिहास और दर्शनों में प्रतिपादित हुआ है। सब का स्रोत श्रुति है- ''सर्व वेदात् प्रसिध्यति''। उसी की व्याख्या स्मृति-दर्शन पुराणे निहास हैं। केवल प्रतिपादन के इनके अलग-अलग हैं। इसीलिये मनु ने कहा है-

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुविधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।।

यहाँ लक्षण शब्द से विवक्षित है कि व्यवहार के अवसर पर यह धर्म के निर्णायक साधन हैं। किन्तु सिद्धान्तः धर्म क्या है? यह हमें देखना है वेदप्रणिहितों धर्मः, ''वेदोऽखिलो धर्म मूलम'' इन वचनों के अनुसार वेद में जो विहित है, वह धर्म है और जो निषिद्ध है वह अधर्म है के निर्णायक साधन हैं।

धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।



अर्थात् जो विश्व की सामूहिक एवं व्यक्तिगत स्थिति और मर्यादा को धारण करने वाला है वह धर्म है। इसीलिये उपनिषद् कहती है- ''धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा''।

वैशेषिक सूत्रों के प्रणेता महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा सूत्रित की है-

''यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः धर्मः (वै0 द0 अ0 1 सू0 2) अर्थात् अभ्युदय निःश्रेयस में ही जगत् की स्थिति सुरक्षित है। अतः अभ्युदय और निःश्रेय उभय का सम्पादन जिससे हो, वह धर्म हैं यह धर्म की सनातन व्याख्या है। मनु ने भी कहा है-

सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात सत्यमप्रियम्।
प्रियं न नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः।।

मनु के इस श्लोक में सत्य का अर्थ हैं- निःश्रेयस् और प्रिय का अर्थ हैं- अभ्युदय। अभिप्राय यह है कि धर्म के तीन साधन हैं- वाणी, कर्म और मन। अर्थात् मन, वचन और कर्म तीनों से ही धर्म का सम्पादन होता है। ऐसा नहीं होता कि वचन से धर्म का सम्पादन हो किन्तु कर्म अधार्मिक हो या मन में सदा अधर्म की भावना की जाय। ऐसी स्थिति में वह धर्म नहीं है किन्तु दम्भ है। इसी तरह मन या वचन शुद्ध नहीं होने पर किया गया कर्म पाखण्ड मात्र है।

उक्त श्लोक द्वारा मनु महाराज ने धर्म के सनातन स्वरूप को प्रस्तुत किया है। उक्त श्लोक में वाचनिक धर्म का निर्देश किया गया है। अर्थात् वचन द्वारा सत्य या निःश्रेयस का साधन करे और प्रिय अर्थात् अभ्युदय का भी साधन करे। ऐसा न करे कि निःश्रेयस का सम्पादन अभ्युदय का परित्याग कर करे या अभ्युदय का निष्पादन अनृत द्वारा अर्थात् निःश्रेयस की हानि करके करे। यही सनातन धर्म है।

यहाँ मनु ने यद्यपि 'ब्रूयात्' पद द्वारा केवल वाणी द्वारा अभ्युदय निःश्रेयस साधन की बात कही है, तथापि उससे कर्म और मन द्वारा भी उभय की प्राप्ति का विधान समझना चाहिए। उक्त श्लोक में वचन पद उपलक्षण मात्र हैं। आचार्यों की ऐसी पद्धति भी है। अतः हम उक्त श्लोक के अतिरिक्त भी मनु का अभिप्राय समझ सकते है, कि-

सत्यं कुर्यात् प्रियं कुर्यात् न कुर्यात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं कुर्यात् एष धर्मः सनातनः।।
सत्यं भाव्यात् प्रियं भाव्यात् न भाव्यात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं भाव्यादेष धर्मः सनातन।। इति।

अतः मनु का भी अभिप्राय है कि मन, कर्म और वचन द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस का सम्पादन ही धर्म का सनातन स्वरूप है, जिसको महर्षि



कणाद ने अपने उपरोक्त सूत्र में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः"यह कह कर।

धर्म के इसी रहस्य को ईशावास्योपनिषद् के-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीत्र्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

इस मन्त्र में बताया गया है। यहाँ निःश्रेयस-साधन विद्या और अभ्युदय-साधन अविद्या दोनों को साथ-साथ पुरुष का कर्तव्य बताया गया है। यहाँ विद्या पद से मन, धर्म ज्ञान और अविद्या पद से शरीर, धर्म, कर्म, और वचन अभिप्रेत है।

इस उपनिषद् का

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय एव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।।

यह मन्त्र केवल असम्भूति या केवल सम्भूति की उपासना की निन्दा करता हुआ अभ्युदय- साधक सम्भूति (कार्यब्रह्म) की उपासना को तथा अमृत प्राप्ति रूप निःश्रेयस साद्यक असम्भूति (कारण ब्रह्म) की उपासना को साथ-साथ करने की ओर संकेत करता है।

इसी प्रकार भक्ति को मध्यस्थ कर ज्ञान और कर्म का समुच्चय प्रतिपादन करने वाली भगवत गीता में धर्म के इसी रहस्य को व्यक्त करती है कि जिससे अम्युदय और निःश्रेयस दोनों का साधन हो, वही धर्म सनातन है। और यहि धर्म की सनातन व्याख्या हो सकती है।

धर्म के अन्य भी जो विशेष-स्वरूप शास्त्रों में वर्णित हैं। इनका भी धर्म के उक्त सामान्य-स्वरूप से कोई विरोधी नहीं है यदि विरोधी हो तो वह धर्म न होकर अधर्म ही कहा जायेगा। क्योंकि जो सामान्य लक्षण में नही आता उसका विशेष-स्वरूप कैसे कायम रह सकता है। यही बात विशेष धर्मों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

हमारी भारतीय संस्कृति धर्म के इसी सनातन-स्वरूप से ओत-प्रोत है। धर्म समाज एवं दर्शन की संयोजक कड़ी है। दर्शन का लक्ष्य धर्म है और धर्म से व्यक्ति के माध्यम से समाज बनता है। प्रत्येक विशिष्ट व्यक्ति समाज है। विशिष्टता युक्त व्यक्तित्व समाज बन जाता है। यही समाज, धर्म एवं दर्शन का अन्योन्य सम्बन्ध हैं।

84, जवाहरनगर एक्स्टेंशन
वाराणसी-221010



# स्वराज-नैतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक

प्रो0 गौरी चट्टोपाध्याय

स्वराज की चर्चा प्रायः राजनीतिक अर्थों में ही की जाती है। परन्तु इसका सदा से ही एक व्यापक परिप्रेक्ष्य रहा है। 'स्वराज' के शब्दार्थ में ही उसकी व्यापकता ध्वनित होती है। 'स्व' का राज्य, 'स्व' पर राज्य; 'स्व' पर 'स्व' का राज्य। इन अर्थ-छायाओं में ही पर्याप्त विस्तार की अन्तर्ध्वनियाँ निहित हैं।

यदि भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के पिछले सौ वर्षों के इतिहास में 50 वर्ष आन्दोलन के और 50 वर्ष स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के शामिल, है, तो हमें 'स्वराज' की अर्थव्याप्ति से चलकर उसके अर्थ के संकुचन का अद्भुत सिलसिला देखने को मिलेगा।

'स्वराज' शब्द का पहला प्रखर प्रयोग लोकमान्य तिलक ने किया। उन्होंने जब यह प्रतिपादित किया कि 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' तो उनकी जेहन में मात्र राजनीतिक स्वराज की ही बात नहीं थी। अगर उतनी ही बात होती तो वे उसके साथ गीता के कर्मयोग को संबद्ध नहीं करते। पूरी गीता उन्होंने आत्मसात् की। उसके सार को स्वराज से जोड़ा। यह अपने आप में इस बात का प्रमाण है कि उनके स्वराज की परिकल्पना में नैतिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष सभी सम्मिलित हैं।

तिलक के स्वराज की परिकल्पना से प्रभावित होकर पहले गोपाल कृष्ण गोखले ने और फिर महात्मा गाँधी ने उसे उतने ही व्यापक अर्थ में ग्रहण

किया। गाँधी जी ने तो इसे बहुत ही आगे तक बढ़ाया। पूरी स्वतंत्रता की लड़ाई को चलाने की आधारशिला ही गाँधी जी के आचरण संबन्धी परिकल्पना से निर्धारित होती थी जिसके मूल में सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह जैसे केन्द्रीय सिद्धान्त थे। सत्य, गाँधी जी के लिए इतना बड़ा था कि उन्होनें उसे ईश्वर का ही पर्याय मान लिया।[11] किसी के पूछे जाने पर कि स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए सत्य से थोड़ा बहुत समझौता किया जा सकता है या नहीं, गाँधी जी ने कहा कि ऐसी स्वतंत्रता को वे समुद्र में फेंकना पसन्द करेंगे। अहिंसा के सिद्धान्त पर जीते हुए गाँधी जी उन तमाम लोगों के हित में काम करते रहे जिन-जिन लोगों ने उन्हें सताया। परिणाम यह हुआ कि बाद में वे सभी उनके भक्त बन गये। अपरिग्रह में विश्वास करते हुए उन्होंने भोजन, वस्त्र एवं रहन-सहन में वह सादगी अपनायी जो औसत साधारण लोगों की हुआ करती थी। वस्त्र ने नाम पर मात्र एक लंगोटी और एक धोती पहनने वाले गाँधी जी जब राउण्ड टेबल कॉन्फ्रेन्स में भाग लेने इंग्लैण्ड गये और उन्हीं दिनों जार्ज पंचम से मिलने की इच्छा व्यक्त की तो लोगों ने उनके वस्त्र पर आपत्ति की। गाँधी जी ने कहा कि या तो वे उसी वस्त्र में मिलेंगे अथवा नही मिलेंगे। परिणाम यह हुआ कि जॉर्ज पंचम स्वयं उनसे मिलने आये।

गाँधीजी ने स्वराज के साथ स्वावलम्बन को जोड़ा। उनके अनुसार स्वावलम्बन पर आधारित स्वराज ही आन्तरिक अनुसाशन से शक्ति प्राप्त करता है। बाहरी उसे परतंत्र कर ही नहीं सकता क्योंकि वह अन्दर से स्वतंत्र होता है। यही कारण था कि गाँधी जी ने बड़े परिवार के निर्माण की दिशा में

[11] गाँधी मोहनदास करम चन्द्र : हिन्द स्वराज , Lal, B.K. contemporary Indian Philosophy, P. 135.



कार्य किया एवं सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह आदि के सिद्धान्तों पर आधारित आश्रम की स्थापना की। इस प्रकार के आश्रम में रहने वाले हर सदस्य की भागीदारी हर कार्य में होती थी।

गाँधी जी के 'स्वराज' में निर्भयता एक दूसरा बहुत बड़ा तत्व था या यूँ कहें कि गाँधी जी के आचरण का दूसरा केन्द्रीय तत्व उनकी निर्भयता थी। उनकी दृष्टि में 'स्व' एक बाहरी राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्था का नाम नहीं है। वास्तव में यह आन्तरिक, मानसिक व्यवस्था है जो मनुष्य को भीतर से ही स्वाधीन बना देती है। यह दृष्टि गाँधी जी को गीता[12] के आत्मा के अमरत्व के सिद्धान्त से प्राप्त हुयी थी। इस प्रकार गीता भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का मूल आधार बन गई। गीता अपने आप में इस बात का प्रमाण है कि भारतीय स्वराज का नैतिक, सांस्कृतिक और अध्यात्मिक पक्ष बहुत ही दृढ़ बन गया।

गाँधी जी के प्रमुख शिष्य विनोबा भावे ने गाँधी जी की जीवन-दृष्टि को भारतीय 'स्वराज' के सन्दर्भ में सैद्धान्तिक रूप से विकसित किया और ऐसा करने के क्रम में उन्होंने सारे उपनिषदों और गीता का गहराई से मन्थन किया। इसके उपरान्त विनोबा जी ने स्वराज-शास्त्र नामक पुस्तिका लिखी जिसमें भारतीय स्वराज का एक परिपूर्ण और व्यापक अर्थ खोजा गया। विनोबा की इस खोज में स्वराज ने नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पक्ष का क्रेन्द्रीय योगदान है।

[12] नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि जैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।।

गाँधी जी ने भारतीय स्वराज की जो अन्य आवश्यकताएँ अनुभव की उनमें उनकी यह मान्यता बहुत प्रबल थी कि स्वराज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि एक मुनष्य दूसरे मनुष्य या मनुष्यों पर शानन कर सके। व्यक्ति स्वशासित हो। इसीलिए उन्होंने अर्थ और सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर बहुत जोर दिया जिसको आगे दूसरे विचारकों ने और अधिक परिभाषित किया। चौखम्भा राज्य की परिकल्पना की गई जिसमें केन्द्र, राज्य, जिला और गाँव बराबर के साझेदार होंगे। इस प्रकार गाँदी जी ने भारतीय स्वराज की पूरी लड़ाई ही एक ऐसी तैयारी से विकसित की थी जिसमें स्वयमेव नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की महत्ता बनी रहे। गाँधी जी के स्वराज की परिकल्पना में सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि वे दरिद्र नारायण की सेवा और पूजा पर सबसे अधिक बल देते थे।[13] देश के सबसे अन्तिम व्यक्ति को मानवीय स्थितियाँ - रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य कैसे उपलब्ध हों, यह उनका मूल सरोकार था। इसीलिए वे यह कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि देश का धन और राजनैतिक शक्ति थोड़े से हाथों में केन्द्रित हो जाए।[14]

15 अगस्त, 1947 को भारत को राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुयी। राजनैतिक सत्ता के मिलने के साथ ही हमारे ऊपर एक दायित्व आया कि हम अपने स्वराज की परिकल्पना को इसकी पूरी व्यापकता में चरितार्थ करने की दृष्टि अपनाएँ और वैसी ही नीतियाँ और कार्यक्रम बनाएँ। परन्तु इसी बिन्दु पर हमने अपनी प्राथमिकताएँ बदल दीं। सच कहा जाए तो पलट दीं।

[13] स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित होकर ही गाँधी जी ने इस मत का पोषण किया था।
[14] Youmg India. 29..1.25



भौतिक विकास और भौतिक समृद्धि को हमने अपना एकमात्र लक्ष्य बना लिया। किन्तु राष्ट्र के नागरिकों का आचरण, सामाजिक समानता, अर्थ और सत्ता के विकेन्द्रीकरण का गाँधीजी का मूल सिद्धान्त साधन की शुचिता और दरिद्र नारायण की प्रतिष्ठा आदि प्रश्नों को हमने लगभग अप्रासंगिक मान लिया और वे हमसे क्रमशः छूटते चले गये। परिणामस्वरूप हम एक ऐसी अन्धी दौड़ में फँसते चले गये जिसमें धनोपार्जन एकमात्र लक्ष्य बनता चला गया और यह कैसे संपन्न होता है, इसके बारे में किसी चिन्ता की आवश्यकता नहीं रही। जो भी धन इस प्रक्रिया में उपार्जित किया गया, वह समाज के व्यापक उपयोग में कम और कुछ व्यक्तियों के ऐश्वर्य विलास में अधिक खर्च होने लगा। देश में असमानता की खाई जो पहले से ही काफी गहरी थी और अधिक गहरी और चौड़ी होती चली गई।

देश की अद्योगिक नीति भी इसी का अनुसरण करने लगी। लक्ष्य यह बना कि देश में उद्योग धन्धे लगें चाहे उनका लाभ अत्यन्त सीमिक लोगों को ही क्यों न प्राप्त हो। परिणामस्वरूप जिस अनुपात में उद्योग धन्धे विकसित हुए उसी अनुपात में देश की सामान्य जनता और अधिक वंचिक और विपन्न होती चली गई। थोड़े से सम्पन्न लोगों को तो सब कुछ उपलब्ध होने लगा, किन्तु करोड़ों-करोड़ों सामान्य नागरिकों को जीवन की न्यूनतम् सुविधाएँ भी नहीं मिल पाने की स्थिति आयी। ऐसे में स्वराज का नैतिक, साँस्कृतिक और आध्यात्मिक पक्ष तो सिरे से लुप्त होने लगा। नैतिकता तो तभी संभव थी, जब भौतिक समृद्धि का उचित और समान बँटवारा होता। ऐसा नही हुआ, इसलिए दूसरे प्रकार की प्रतिक्रियाएँ जन्म लेने लगीं। सामाजिक समरसता के स्थान पर परस्पर घृणा और प्रतिद्वन्द्विता

की दृष्टि काम करने लगी। जो हजारों वर्षों से दबे, कुचले थे, उन्हें लगा कि वर्तमान व्यवस्था उन्हें कुछ भी देने वाली नहीं है। ऐसे में प्रजातंत्र के सूत्र को पकड़ कर, अने मूल मताधिकार के प्रयोग के माध्यम से अपने को राजनीतिक दृष्टि से मजबूत बनाने की प्रतिस्पर्धा सहज ही बनने लगी।

दबी, कुचली जातियों में एक राजनैतिक सत्ता की भूख जगी और उन्हें संगठित करके सत्ता को प्राप्त करने की एक नई होड़ समाज में तेजी से उभरने लगी। यह एक अर्थ में तो अच्छा था कि जो दबे पिछड़े, कुचले लोग हजारों वर्षों से गरीबी और अज्ञान के गर्त में डूबे हुए थे, उनकी चेतना में एक हलचल पैदा हुयी और वे सत्ता में भागीदारी करने के लिए उभरने लगे। किन्तु यदि यह काम गाँधीजी की दृष्टि के आधार पर हुआ होता तो पारस्परिक घृणा के स्थान पर एक सामाजिक समरसता और सौहार्द्र का वातावरण बना होता है।[15] किन्तु ऐसा नही हुआ। जो लोग शिक्षा और संपन्नता का उपभोग कर रहे थे, उन्होंने इसका उपयोग अपने ही लिए किया और व्यापक समाज को उससे वंचित रखने का षड्यन्त्र किया। परिणामस्वरूप आज हम जिस स्वराज के बीच जी रहे हैं, उसमें भारतीय समाज, धर्म और जातियों के परस्पर विद्वेष के आधार पर ही अलग-अलग टुकड़ों को मजबूत बना रहा है और एक-दूसरे के विरूद्ध खड्गहस्त कर रहा है। आज यह पूछा जाए कि कौन भारतीय है तो इसके उत्तर में लोग अपनी जाति और अपना धर्म बताएँगे। भारतीय होने का कोई दूसरा राष्ट्रीय अर्थ इनके दिमाग में है ही नहीं। आज हमारा राष्ट्र पूरी तौर पर एक स्वविभाजित राष्ट्र है। क्षेत्र

[15] राय कुबेर नाथ, चिन्मय भारत, पृ. 200



अपने को अलग करने के लिए बेचैन है। जातियों के अलग-अलग संगठन खड़े हैं। धर्मों के संप्रदाय परस्पर युद्ध करने के लिए कमर कस चुके हैं।

गाँधीजी ने जिस वैयक्तिक आचरण को अपने स्वराज का मूल आधार बनाया था, उसका तो अब किसी को स्वप्न में भी ख्याल नहीं है। सत्य, अहिंसा अपरिग्रह, निर्भयता, सत्याग्रह आदि की बातें परी-कथा जैसी लगती है। पूरे देश में ईमानदारी, निष्ठा और देशभक्ति का कोई आदर्श किसी भी स्तर पर क्रियाशील नहीं है। हमें आश्चर्य होता है जब हम सुनते हैं कि देश के बड़े-बड़े राजनेता, प्रधानमंत्री, मंत्री, न्यायाधीश और उच्च अधिकारियों के विरूद्ध बड़े-बड़े भ्रष्टाचार के आरोप लगते हैं। जब सामान्य ईमानदारी और चरित्र के मानदंड ही नहीं रहेंगे तो नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वराज की बात क्या की जाए?

संस्कृति के जो गहरे अर्थ थे, जिनमें शील, परस्पर सद्भाव, करूणा, दूसरे के दुःख में दुःखी होना, ये सब तो क्षरित हो ही गये हैं किन्तु इससे भी बड़ी त्रासदी यह है कि हम शारीरिक लम्पटता को मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्षण मानने लगे हैं। विज्ञान ने हमें दूरदर्शन जैसी चमत्कारित सुविधाओं से लैस कर दिया जिससे हम 24 घंटे टेलिविजन के पर्दे पर ऐसे दृश्यों को देखने के अभ्यस्त होते चले गये जिनमें मनुष्य की शारीरिक भंगिमाएँ ही सबसे महत्वपूर्ण होती चली गयीं। चूँकि सम्पूर्ण विश्व में खुले व्यापार के नाम पर एक ऐसी विज्ञापन-संस्कृति का प्रचलन होता चला गया है जिसमें कोई भी वस्तु तभी प्रचारित की जा सकती है, जब उसके साथ नग्न या अर्ध-नग्न नारी शरीर को प्रदर्शित किया जाए। यह कितनी बड़ी विडम्बना है

कि एक तरफ सम्पूर्ण विश्व में स्त्री अपने स्वत्व और अधिकार की पुरूष से समानता की लड़ाई लड़ रही है और दूसरी ओर उसे ही सबसे विभत्स और विकृत रूप में विज्ञापन की  वस्तु बनाया जा रहा है। आज स्त्री जाति के लिए सबसे बड़े संघर्ष का मुद्दा यही होना चाहिए कि उसके शरीर का यह विज्ञापन केन्द्रित व्यापार बन्द हो। किसी भी बलात्कार या यौन शोषण की लड़ाई इस बड़ी लड़ाई के सामने छोटी है। जब तक दूरदर्शन के पर्दे पर नारी जाति का यह सतत् शारीरिक विज्ञापन चलता रहेगा, बलात्कार और यौन शोषण तो होते ही रहेंगे।

भारतीय स्वराज आज इस विज्ञापन-संस्कृति का सबसे बड़ा शिकार हो गया है और जिस आर्थिक व्यूह की रचना विश्व में लगभग पूरी हो चुकी है, उसमें भारत जैसे देशों को लड़ाई के मूल प्रश्नों को पहचानना जरूरी है। 'स्वराज' का व्यापक अर्थ तभी चरितार्थ हो सकता है जब हम सही अर्थों में गांधीजी की उस दृष्टि को नये सिरे से अपनाएं जिसमें मनुष्य व्यवस्था का दास न हो। व्यवस्था उसके नियन्त्रण में रहे।[16]

भारतीय स्वराज की कल्पना एक ऐसी कल्पना नहीं है जो केवल शारीरिक, सामाजिक, भौतिक तथा सांस्कृतिक हो। बल्कि इसके स्वराज की धारणा एक सनातन धारणा है जिसमें रहने वाला हर व्यक्ति एक पूर्ण व्यक्ति हो। अर्थात् जो ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक, तीनों दृष्टि से सत्यं, शिवं, सुन्दरं का सामञ्जस्य हो। इसके लिए आवश्यक है कि हमें अपनी वैदिक, औपनिषदिक तथा शाश्वत धर्म (जो संप्रदाय नही है) को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उपयोगी बनाना होगा।

[16] गाँधी, मोहन दास करम चन्द्र, हिन्द स्वराज।



पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
दर्शनशास्त्र-विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

.....

अनेन मतर्यदेहेन यल्लोकाद्वय शर्मदम्।

विचिन्त्य तदनुष्ठेयं कर्म हेयं ततो अन्यथा।।

(शार्ङ्गन्धर पद्धति)

(इस नश्वर शरीर से, विचारपूर्वक निश्चय करके, वही कार्य करना चाहिए जो इहलोक तथा परलोक दोनों में शान्तिदायक हो। अन्य कार्य त्याज्य है।)

# आत्म ज्ञान की मूल प्रवृत्तियाँ

-प्रो0 ऋषिकान्त पाण्डेय

आज के वैज्ञानिक युग में, जिसकी मूल प्रवृत्ति निरीक्षण या प्रयोग की रही है, उससे दर्शन भी अछूता नहीं रहा। अब दार्शनिक जो कुछ भी जानना चाहता है वह वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से, लेकिन जो विज्ञान की खोज के परे है, उसका वह तर्कतः निषेध करता है, क्योंकि वह अमूर्त चिन्तन होने के कारण, मानवीय बुद्धि व अनुभव से परे है, अतः निरर्थक है। लेकिन यदि वह इसे निरर्थक कहकर ही शांत हो जाय, तब भी बात कुछ समझ में आती है। अब तो वह एक कदम आगे अभिमुख होकर, यह दावा कर डालता है कि ऐसी किसी सत्ता का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि यदि कोई ऐसी सत्ता होती तो अब तक उसका ज्ञान अवश्य हो गया होता, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अतः क्यों न ऐसी सत्ता का निषेध किया जाय। क्योंकि जब तक हम ऐसी सत्ता को स्वीकार करते रहेंगे, निरर्थक प्रश्न उठाये जाते रहेंगे। यदि इन निरर्थक प्रश्नों से मुक्ति चाहिए, तो येनकेनप्रकारेण, ऐसी सत्ता के निषेध से ही सम्भव हो सकेगा।



इसीलिए, उन्हें 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' के नारे पुराने लगते है क्योंकि इनमें 'बातों की बात' ही अत्यधिक है, 'काम की बात' नही यद्यपि इस प्रकार के नारों का प्रतिवाद तो पहले से भी होता आ रहा है, अतः प्रतिवाद की दृष्टि से यह कोई नूतन बात नहीं है। नवीनता तो केवल इस अर्थ में है कि 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' से किसको क्या मिला? प्रारम्भ में इसे मानवीय बुद्धि व अनुभव के परे माना जाता था, जिसे मनुष्य नही जान सकता, अब यह कहा जा रहा कि आखिर इससे किसी को क्या मिलता है? स्पष्टतः आज की उपभोक्तावादी संस्कृति में जहाँ प्रत्येक चीज को पैसे पर आसानी से क्रय किया सकता, उन चीजों का क्या मूल्य है? जिसे न तो क्रय किया जा सके और नहीं जो कुछ व्यावहारिक परिणाम ही दे। अब तो मनुष्य यह चाहता है कि ऐसी कोई 'टेबलेट' विकसित हो जाय, जिसको मनुष्य खाये और तत्क्षण आत्मा का दर्शन हो जाय। यदि आत्मा को न तो क्रय किया जा सके और नहीं इसका कोई व्यावहारिक परिणाम ही होता है तो क्यों न आत्मानं विद्धि या नो दाईसेल्फ का बहिष्कार किया जाय? आखिर इससे साधारण आदमी को क्या मिलेगा?

इन्ही मान्यताओं के परिपेक्ष्य में प्रो. दयाकृष्ण का लेख "आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रांतियाँ," उन्मीलन' के जुलाई (2001) अंक में प्रकाशित

हुआ, जिसमें प्रो. दयाकृष्ण, बिना आत्मा का साक्षात्कार किये, एक आत्मद्रष्टा की भाँति, अनेकानेक भ्रांतियों को गिना दिये और लेख का शीर्षक दे दिये। आत्मकेन्द्रित चिन्तन की भूल भ्रांतियाँ। लेकिन समस्या यह है कि क्या आत्मा, चिन्तन का विषय है? यदि चिन्तन का अर्थ मन व बुद्धि के द्वारा सांगोपांग विवेचन करना है, जैसा कि सामान्यतः समझा जाता है तो स्पष्टतः आत्मा ऐसे चिन्तन का विषय नही हो सकता। उपनिषद् इसे पहले ही 'नैषा तर्केण मतिरापनेया" या "यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्त मनसा सः" से सम्बोधित कर चुका है। अब यदि आत्मा, चिन्तन का विषय ही नही है, तो अवश्यमेव उसमें भ्रांतियाँ ही भ्रांतियाँ परलक्षित होगी। जो जिसके द्वारा जाना ही नहीं जा सकता, यदि हम जबर्दस्ती उसी के माध्यम से उसे जानने का प्रयास करते है तो उसमें विसंगतियों का होना अस्वाभाविक नहीं होगा। जब 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' का नारा दिया जाता, तो यहां यह नहीं कहा जाता कि आत्मा का चिन्तन करे, "विद्धि" का अर्थ ही "जानना" होता है न कि "चिंतन करना। यही बात नो दाईसेल्फ के लिए भी सत्य है। इसीलिए इसे 'आत्म-ज्ञान' या 'परा-ज्ञान' या 'ब्रह्मविद्या' कहा गया, जो अपरा ज्ञान की तरह पढ़ने से नहीं मिलती। इसकी तो शर्त ही यहीं है कि यह सीने-ब-सीने अर्थात एक से दूसरे को परंपरया दिया जाता है। जरा



सोचिए, कोई देने वाला हो ही नहीं तो लेने का प्रश्न ही नही उठेगा। ठीक वैसे ही जैसे जलेबी जलेबी चिल्लानें से जलेबी नहीं मिलती, उसे ग्रहण करना पड़ता है। अब यदि आत्मा चिन्तन का विषय ही नहीं है तो यह शीर्षक कि "आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रांतियाँ" कहाँ तक उपयुक्त है? अच्छा होता यदि प्रो. दयाकृष्ण अपने लेख का शीर्षक "आत्म ज्ञान की मूल भ्रांतियाँ" रखे होते।

अन्य भारतीय दार्शनिक परम्पराओं की भाँति, प्रो. दयाकृष्ण भी अपने लेख का आरंभ 'दुःख' से करते है। लेकिन जहाँ अन्य दार्शनिक दुःख मानकर चलते है, वही प्रो. दयाकृष्ण "दुःख-विरोध" को अपने लेख का प्रतिपाद्य विषय बनाते है, क्योंकि "सुख की तलाश तो हर जानवर करता है" (पृष्ठ-85)। अर्थात जहाँ अन्य दुःख-निरोध को अपना साध्य मानते है, वही वे सुख-निरोध को।

प्रो. दयाकृष्ण लिखते है कि "अगर हिन्दुस्तान में पैदा हुए है तो उन्हें दो बातें तो अवश्य ही विरासत में मिलती है-

- एक यह कि आदमी सुख की तलाश तथा दुःख से दूर भागता।
- उसे स्थायी सुख या शांति कभी प्राप्त नही होती।

- जीवन का चरम लक्ष्य, परम पुरूषार्थ, स्थायी सुख व शांति को प्राप्त करना है - ऐसा सुख, ऐसी शांति जिसमें दुःख की सम्भावना भी न हो। आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति और नित्य, सहज चिरन्तन 'आनंद' की अवस्था को उसके परम पुरूषार्थ के रूप में देखा गया है" (पृष्ठ 85)।

पहली बात यह कि अगर हिन्दुस्तान में पैदा हुआ तो अवश्य ही सुख की तलाश तथा दुःख से दूर भागने का प्रयास करेगा। इसका अर्थ है कि केवल हिन्दुस्तानी ही सुख की तलाश करते है, तब प्रश्न उठता है कि क्या-अन्य सभी दुःख की तलाश करते? स्पष्टतः यह एक आंशिक दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करता है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति के अंदर एक नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है, जो स्वभावतः उसे सुख के निकटस्थ तथ्य दुःख से दूरस्थ करती है, जिसे महर्षि पतंजलि 'अभिनिवेश' तथा मनोवैज्ञानिक 'सहज प्रवृत्ति (Instinct) कहते है।

स्वयं ब्रिटिश दार्शनिक जर्मी बेंथम अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक "Introduction to Principles of Moral and Legislation" की शुरूआत ही इस कथन से करते है कि प्रकृति ने मनुष्य को दो सम्प्रभुओं के अधीन में छोड़ दिया है- सुख और दुःख जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति सम्प्रभु के आदेश का



उल्लंघन नहीं कर सकता है, उसी प्रकार मनुष्य सुख और दुःख का भी। अर्थात उसका प्रत्येक कार्य 'सुख' और 'दुःख' के आकलन से ही प्रारम्भ होता हैं। वह वही करता है जो उसके सुख में अत्यधिक अभिवृद्धि करे तथा जिससे कम से कम दुःखानुभूति हो। यदि उपर्युक्त बातें सत्य है तो फिर यह कहना है कि केवल हिन्दुस्तानी ही सुख की प्रत्याशा करते, कहाँ तक उपयुक्त है?

वास्तव में 'सुख की तलाश' की अवधारणा में ही सम्पूर्ण विकास का रहस्य छिपा हुआ है। आज विश्व में जो कुछ भी हो रहा है, चाहे वह प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में या फिर सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में, इसीलिए कि मनुष्य का जीवन और भी सुविधासम्पन्न हो सके। यदि सुख की तलाश न हो तो विकास की सम्पूर्ण अवधारणा धूल धूसरति हो जायेगी। इसी कारण, वह सब कुछ जो सुख के अनुरूप नही होता है, उसका स्वरूप धूमिल होने लगता है और इस प्रकार अंततः मृतप्राय भी।

यद्यपि यह सच है कि सुख की तलाश सभी करते है तथापि, इसकी प्रवृत्ति हिन्दुस्तान की अपेक्षा विकसित देशों में अतिप्रबल रही है। क्योंकि हिन्दुस्तानी जनमानस धर्मभीरू होने के कारण, दुःक को भी सुखद मानकर चलता है। या यों कहें कि यहां की अधिकतर आबादी उन लोगों की है, जो

केवल जीने के लिए जीते है, न कि सुखपूर्वक जीने के लिए। इसके विपरीत विकसित देशों का सम्पूर्ण प्रयास इस ओर निर्दिष्ट है कि ऐसी कौन सी चीज विकसित कर दिया जाय, जो मनुष्य के विलासितापूर्ण जीवन जीने में और भी अभिवृद्धि कर दे। जहाँ कुछ भी नहीं करना पड़े और यदि करना भी पड़े तो 'रिमोट के माध्यम से।

इसका जीती-जागती मिसाल 11 सितम्बर 2001 की घटना, जब न्यूयार्क और वाशिंगटन में बम फटते है, तो ऐसा लगा, मानों सम्पूर्ण विश्व में भूचाल आ गया हो। जिसके डर से काल की गति भी थम-सी गयी। लेकिन ऐसी अनेक घटनाएं भारतीय धरा पर अक्सर होती रहती है, फिर भी वह इस कदर उसे अपने आप में आत्मसात् कर लेती है, मानों कुछ हुआ ही न हो। ऐसा इसलिए कि विकसित देश दुःख देखना नहीं जानते, वे तो सतत् सुख ही तलाश में ही अपने सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग कर देते हैं। दुनिया में और भी लोग हैं, जो उन्हीं की तरह हाड़-माँस व चेतना से युक्त हैं, उन्हें भी दुःख होता है, इन सब फिजूल की बातों से उन्हे क्या लेना देना है। ऐसा इसलिए कि वे केवल अपने लिए जीते है, दुःख सहते भी हैं तो केवल अपने स्वार्थ के लिए। इससे कहीं ज्यादा अच्छा तो पशुपक्षियों का जीवन है, जो अपने मालिक के लिए अपने प्राण की आहुति तक दे देते हैं। लेकिन



विकसित देशों का सम्पूर्ण प्रयास स्वार्थजनित या सुखजनित प्रवृत्तियों से संचालित होता रहा है। इसलिए व उन सबको, जो सुख के अनुरूप नहीं होता, उसका समूल विनष्ट करने से प्रतिबद्ध हो जाते है। अतः यह कहना कि केवल हिन्दुस्तानी ही सुख की तलाश करते है, एक निर्मूल अवधारणा है।

दूसरी बात यह कि 'उसे स्थायी सुख और शांति कभी प्राप्त नहीं होती'। परन्तु प्रो. दयाकृष्ण इस प्रश्न पर विचार नही करते कि ऐसा क्यों नही होता? पहले कि अपेक्षा हम कही ज्यादा विकसित हुए हैं, यहीं नही हमारा सुख सुविधाएं भी निश्चित रूप से बढ़ी है। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि उसी अनुपात में हमारी अशांति भी बढ़ी है। यद्यपि सुख-सुविधाओं के बढ़ने से तो शांति बढ़नी चाहिए, परन्तु इसके विपरीत हमारी अशांति ही बढ़ी है। कहाँ चला गया वह प्रेम, और आदर्श जहाँ लोग आधे पेट खाकर भी संतुष्ट दिखाई देते थे। आज भर पेट खाने के बावजूद भी प्रेम, शान्ति, आनंद सब गायब हो गया है। यदि इसके मूल में जाकर अवलोकन किया जाय तो हम पाते हैं कि जहाँ हम शांति व आनंद की तलाश कर रहे है, वहाँ वह है ही नहीं। इसको अच्छी तरह प्रकृति के माध्यम से समझा जा सकता है। प्रकृति के तीन गुण सत्व, रज और तम् है। तम् आलस्य, निद्रा, कुण्ठा, मोह की अवस्था होने के कारण शांति से कोसों दूर है। रज् में चंचलता है। लेकिन जहाँ चंचलता है,

वहा शांति सुलभ नहीं हो सकती। सत्व में शांति, आनंद, प्रेंम, दया, करूणा, उदारता, सौहार्द आदि की भावना है। अतः जब तक हम सत्व की अवस्था में नहीं जायेंगे, शान्ति नहीं मिल सकती।

लेकिन समस्या यह है कि सत्व कहाँ पर स्थित है? यदि अपने व्यक्तित्व के ऊपर दृष्टि डालें तो पाते हैं कि शरीर के ऊपर तम का प्रभाव है। अतः जब तक हम शरीर या जड़ता तक सीमित रहेंगे या उस पर ध्यान जमायेंगे, शांति से दूर होते जायेंगे। जैसे शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है, लेकिन यह शारीरिक सौन्दर्य अन्ततः दुःख का केन्द्र भी हो जाता है। इसी प्रकार मन के ऊपर रज का प्रभाव है। लेकिन रज का धर्म तो चंचलता है और जहाँ चंचलता है, शांति दुर्लभ होगी। स्पष्टतः जब तक हम मन तक सीमित रहेंगे या फिर मन के अनुरूप कार्य करेंगें, अशांति की ज्वाला में धधकते रहेंगे। इसीलिए मन की मिसाल जंगली घोड़े से दी जाती है, जो एक पल के लिए भी कभी शांत नही रहता। सम्भवतः यही कारण था कि महर्षि पतंजलि चित्त् ती वृत्तियों के निरोध की बात करते है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) न क मन के निरोध की। सत्व का स्थान तो आत्मा है। अतः जब तक हम आत्मानुभूति या आत्मा कि अवस्था में नहीं जायेंगे, शांति असम्भव है। हमारी कमी यह है कि हम जड़ता में भौतिक विकास में



शांति खोजते, जहाँ वह है ही नहीं, तब कहाँ से मिले वह शांति? ठीक वैसे ही जैसे स्वर्णकार के दुकान पर हम चावल की मांग करे, तो निश्चित रूप से वहाँ चावल नही मिलेगा। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नही होता कि चावल किसी भी दुकान पर है ही नहीं और यदि होता तो अवश्य ही मिल गया होता। हमें यह तो देखना ही पड़ेगा कि किससे क्या माँग रहे हैं। यदि चावल चाहिए तो हमें किराने की दुकान पर जाना ही होगा। प्रो. दयाकृष्ण मन या बुद्धि के माध्यम से स्थायी सुख व शांति खोजना चाहते है, जहाँ वह है ही नही। मन या बुद्धि का धर्म तो चंचलता है, लेकिन जब हमें चंचलता या अशांति मिलती है तब चिल्लाना शुरू करत देते है कि शांति और आनन्द कहीं है ही नहीं। यदि हमें शांति व आनंद चाहिए तो हमें आत्मा के पास जाना ही होगा। जब तक हमे इसकी तलाश भौतिक विकास या जड़ता में करते रहेंगे, सुख व शांति प्राप्त नही हो सकती। अरे! जो चीज जिसके पास है ही नही, वह उसे कहाँ से देगा।

ऐसा नही कि प्रो. दयाकृष्ण इस बाद से अनभिज्ञ हैं तभी तो वे लिखते है कि आखिर मोक्ष भी तो उसी को होता है, जो मोक्ष की साधना करता है। बुद्ध को निर्वाण हुआ होगा, उससे मुझे क्या? और महावीर को कैवल्य पद प्राप्त हुआ या सर्वज्ञता मिली, तो मुझे क्या? न मुझे निर्वाण प्राप्त है, न

सर्वज्ञता और क्या सब मुझसे नहीं कहते कि तुमने साधना नही की इसलिए तुम्हें यह सब कैसे प्राप्त हो सकता" (पृष्ठ-49) यथार्थ भी यही है कि जो जिसको पाने का प्रयास करता, उसे वही हासिल होता है। यदि हम बबूल का पेड़ बोयें, तो हमें उस पर आम फलने की अपेक्षा करना कहाँ तक उपयुक्त है। यदि आम की चाह है तो बीज भी आम की ही बोना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि हम स्थायी शांति व आनंद चाहते हैं, तो उसकी साधनाँए भी है, जो हमें करना ही पड़ेगा। बिना साधना किये, इस पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करना, कहाँ तक उफ्युक्त है?

तीसरी बात यह है कि जीवन का चरम लक्ष्य या परम पुरुषार्थ स्थायी सुख व शांति प्राप्त करना है, जिसमें दुःख नहीं हो। लेकिन प्रो. दयाकृष्ण को तो ये बातें "बचकानी" लगती क्योकि 'सुख की तलाश तो हर जानवर करता है' (पृष्ठ-85) यहाँ पर प्रो. दयाकृष्ण, इस प्रश्न पर विचार नहीं करते कि आखिर ऐसा मनुष्य क्यों चाहता है? यदि इस प्रश्न के मूल में जाकर देखा जाय तो हम पाते है कि इस प्रश्न का सही उत्तर केवल वही व्यक्ति दे सकता है, जिसने आद्योपांत केवल दुःख ही दुःख झेला है। अर्थात दुःख ही जिसके जीवन की कथा रही है। वास्तव में भोक्ता और चिन्तनकर्ता में बहुत अंतर होता है और जितना बड़ा चिन्तनकर्ता होता है, उतना ही बड़ा यह



अन्तर भी होता है, क्योकि एक उसको भोगता है, दूसरा उसे देखता है द्रष्टा की तरह, एक निश्चित दूरी पर अपने आप को रखकर। इसलिए वह भोक्ता के अनुभव को हू-ब-हू आत्मसात् नहीं कर पाता। एक व्यक्ति जिसका एकमात्र बेटा पैसा के अभाव में इलाज न कर पाने के कारण अपना प्राण त्याग देता है। खाने के लिए दो वक्त की रोटी नसीब नहीं होती। ठंढी रात, परन्तु तन ढकने के लिए कपड़ा नहीं। कहाँ तक सुनाऊँ। कहा तो यहाँ तक जाता है कि एक सन्तान का दुःख क्या होता है, इसे निःसंतान आदमी क्या जाने अपने बिछुड़ने का दुःख क्या होता है, इसे हृदयविहीन आदमी क्या जाने। यदि इन प्रश्नों पर गहनतापूर्वक विचार किया जाय, तो शायद प्रो. दयाकृष्ण को इस प्रश्न का उत्तर मिल जायेगा कि मनुष्य दुःख से क्यों घबराता है या दुःख से भागना और सुख की तलाश करना क्या वास्तव में बचकानी बात है या कुछ और? जिसने दुःख देखा ही नही वह क्या जाने कि दुःख होता क्या है, "जाके पैर न फटी बेवायी, सो क्या जाने पीर पराई।"

लाइबनीज को भी यह विश्व ईश्वर की सर्वोत्तम रचना लगती थी, तभी तो बाल्टेयर को कहना पड़ा कि लाइबनीज जैसा सोच रहा है वैसी बात है ही नहीं। यह बाद वैसे ही है जैसे यह कहना है कि 'हमारे चेहरे पर नाक है, क्योंकि हम चश्मा पहन सकें'। वास्तविकता है कि चश्मा नाक के अनुरूप है,

न कि  नाक चश्मे के अनुरूप। वास्तव में जगत् में दुःख है लेकिन मनुष्य दुःख से नहीं घबराता, वह तो वैसे दुखों से घबराता, जो अत्यंत ही असहनीय है। या फिर जिससे निजात पाना असम्भव। इसलिए यह कहना कि दुःखो से घबराना वीरों का काम नही है, इसका अर्थ यह भी नही है कि केवल दुःख ही दुःख झेलना यही वीरों का काम है।

अतिशय दुःख की वेदना से आप्लावित होकर भगवान बुद्ध को कहना पड़ा कि दुःखियों ने जो आँसू बहाये, वह समुद्र के जल की  अपेक्षा कहीं ज्यादा है। इसी कारण उन्होने दुःख संतप्त हृदय को, दुःखों से त्राण दिलाने के लिए अपने सम्पूर्ण जीवन को उत्सर्ग कर दिया।

यहाँ पर एक महत्वपूर्ण समस्या यह उठती है कि उन्होने दुःख की ही बात क्यों की, ईश्वर या आत्मा की बात क्यों नहीं की? तत्कालीन सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, इस कदर विकृत हो चुकीं थी कि सुरा और सुन्दरी ही महत्वपूर्ण हो चले थे। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने तो यहाँ तक लिखा है कि उस समय नारियों के स्तनों का श्रृंगार तीन-तीन दिन तक होता था। सम्पूर्ण समाज इसी प्रकार की कुत्सित और वीभत्स मानसिकता का गुलाम हो चुका था। ऐसे परिवेश में महात्मा बुद्ध का पदार्पण हुआ, इसलिए



उन्होंने ईश्वर, आत्मा की बात नहीं की, क्योंकि ऐसे विषाक्त सांस्कृतिक परिवेश में कौन इन बातों को सुनता। अतः उन्होने केवल दो बाते कहीं "दुःख तथा दुःख निरोध" जहाँ "दुःख" संसार है जबकि "दुःख-निरोध" निर्वाण या मुक्ति।

लेकिन प्रो. दयाकृष्ण को दुःख की बात 'बचकानी' लगती है, या फिर उससे भी कहीं ज्यादा, क्योंकि बच्चे भी तो चौबीस-घंटे आईसक्रीम, जो उनके लिए सर्वाधिक प्रिय है, कि बात नही करते। जबकि मनुष्य तो शाश्वत व चिरन्तन शांति की बात करता। स्पष्टतः शाश्वत व चिरन्तन शांति आइसक्रीम खाने की तरह बचकानी बातें नहीं है। आईसक्रीम तो इच्छा का प्रतीक है जबकि शाश्वत आनंद व शांति इच्छारहित होने में ही है। आइसक्रीम खाने से मन ऊबता है, जो स्वाभाविक भी है, क्योंकि जिस चीज की हम इच्छा करते हैं उसके पूर्ण हो जाने पर अनिच्छा स्वाभाविक ही हैं, उल्लेखनीय है कि जो भी भौतिक वस्तु है, उनके पाने के उपरांत उससे मन का ऊबना स्वाभाविक है। लेकिन शाश्वत व चिन्तन आनंद तो इच्छारहित होने की अवस्था है, अतः इससे मन ऊबता नहीं। शाश्वत आनंद तो एक ऐसी अवस्था है, जहाँ न तो दुःख है न ही आनंद, क्योंकि ये दोनों ही द्वैतपरक होने के कारण, अंततः अज्ञानता के ही प्रतीक हैं। यह विशुद्ध चेतना की अवस्था है,

जहाँ चेतना ही चेतना है जबकि आनंद कहने के लिए किसी न किसी दूसरे का होना आवश्यक है, अन्यथा कौन कहेगा कि यह आनंद की अवस्था है।

लेकिन यह अवस्था, जब तक शरीर है, सुलभ नहीं हो सकती। संत कबीर कहते हैं कि "कब मरिहौं कब पाइहौं पूरण परमानंद" अर्थात् जब तक शरीर है, दुःख रहित होना असम्भव है। हां! यह अवश्य ही सम्भव है कि आप दुःख में रहते हुए भी दुःखी न रहें। एक आदमी किसी संत के पास जाकर कहता है कि सुना है, आपके पास आने से दुःख दूर हो जाता है। उस संत ने उत्तर दिया-सुना तो सही है, परन्तु समझा गलत है। जो भी आपको दुःख है वह तो पूर्वजन्मों के संस्कारों का प्रतिफल ही सम्भव है और संस्कार बीना भोगे कटता नही। हाँ यह अवश्य ही सम्भव कि मेरे पास आने से आप दुःख में रहते हुए भी दुःखी न रहेंगे,क्योंकि सुख व दुःख विचारों के कारण है। मेरे पास आने से केवल इतना ही होगा कि जो विचार आपको दुखी किये हुए हैं, अब वह दुःखी नहीं करेगा। लेकिन यह अवस्था तभी हासिल हो सकती है जब आप 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' की साक्षात् अनुभूति कर लें। एक बार रामकृष्ण परमहंस जी ने भी कहा था कि जब भी दुःख हो, आत्मा की अवस्था में चले जाओ, क्योंकि सुख व दुःख ये दोनों ही शरीर के धर्म हैं, आत्मा तो इन दोनों से ऊपर है। स्पष्टतः 'आत्मानं विद्धि' की बात करना



दर्शन नहीं है जैसा कि प्रो. दयाकृष्ण समझ रहे हैं बल्कि उसको जान लेना, उसका साक्षात्कार कर लेना, दर्शन है। क्योंकि तभी वह सुख और दुःख से ऊपर उठ सकेगा।

प्रो. दयाकृष्ण स्वयं भी दबे मन से इस बात को स्वीकार करते है। उनके अनुसार "आदमी और जानवर में फर्क ही यह है कि वह न दुःख से घबराता है न सिर्फ सुख को ही चाहता है"। वह "कुछ और" चाहता है और यह "और" क्या है, इसी का जवाब ढूढ़ने की कोशिश करता है, या कम से कम उसे करनी चाहिए। (पृष्ठ-85) परन्तु अफसोस प्रो. दयाकृष्ण इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास नही करते कि वह अवस्था कौन सी होगी, जिसमें मनुष्य न तो सुख की तलाश करता और नही दुःख से घबराता है। यह "और कुछ," कुछ और नहीं बल्कि 'समत्व की अवस्था' है, जिसे गीता 'स्थितप्रज्ञ' के नाम से पुकारती है। इस अवस्था मे मनुष्य सुख-दुःख, हानि-लाभ और जय-पराजय, इन द्वन्दों में भी निर्द्वन्द्व बना रहता है। (सुख-दुख समोकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ-गीता 2/38)। वह न तो सुख से अतिप्रसन्न होता है और नहीं दुःख से अति उद्विग्न। इसी प्रकार वह हानि-लाभ, जय-पराजय में भी समत्व बनाये रहता है। इसी को अन्य दर्शनों में जीवन मुक्ति कहा गया है, जो ज्ञानोपरांत आती है। जब तक जीव अज्ञानयुक्त है, चाहे जितना कह ले,

इन द्वन्द्वों से ऊपर नहीं उठ सकता। यह तो तभी सम्भव है, जब वह जीव या आत्मा को जान ले। परन्तु प्रो. दयाकृष्ण को 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' से अतिशय परहेज है।

इसीलिए प्रो. दयाकृष्ण कहते है कि आज संसार में जो कुछ भी विकाश दृष्टिगोचर हो रहा है उसके पीछे दुःख का एक लम्बा इतिहास रहा है। कम से कम यह उन लोगों की देन नही हो सकती जो 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' का नारा देते हैं। वे संसार की बात नही करते, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान और शरीर से जो कुछ भी मिलता है, वे उसे निरर्थक कहते। दूसरे शब्दों में 'दर्शन बातों की बात' तो करता है, परन्तु 'काम की बात' नही। शरीर पर रंग बिरंगे कपड़े और दीवारों पर तस्वीरें दोनों में एक समानता है और दोनों के पीछे छिपी है परेशानियाँ और एक लम्बा इतिहास, जो सहज रूप में नजर नही आता, पर वह कम से कम उस आदमी की 'देन' नहीं हों सकता जो सिर्फ सुख की तलाश करता है" (पृष्ठ 86)।

यह अक्षरशः सत्य है कि आज संसार में जो कुछ भी हो रहा है, वह उसकी ही देन है, जिन्होंने अपने शारीरिक सुख को, विकास की वेदी पर न्योछावर कर दिया हैं। लेकिन यह कहते हुए प्रो. दयाकृष्ण सम्भवतः यह



भूल जाते हैं कि मानवीय व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं- शरीर (जड़) और आत्मा (चेतना)। यहाँ विकास का अर्थ केवल बौद्धिक विकास (शरीर) से नहीं है बल्कि आत्मिक विकास भी उसका एक अभिन्न पक्ष है, जिसका किसी भी पिरस्थिति में परित्याग उचित नहीं है। जबकि प्रो. दयाकृष्ण विकास का अर्थ केवल भौतक विकास से ले रहे हैं। स्पष्टतः जब तक आध्यात्मिक विकास नहीं होगा, तब तक भौतिक विकास, विकास का नही, बल्कि विनाश का मार्ग प्रशस्त करेगा। वर्तमान विश्व का विषाक्त वातावरण, इसका साक्षात् उदाहरण है। अतः यह कहना कि जड़ता के विकास में निहित दुःख ही दुःख है, परन्तु जो आत्मिक उन्नति में लगा हुआ है, वह दुःख नही उठाता, असत्य हैं। इतिहास इस बात का गवाह है कि आत्मिक उन्नति में लगा व्यक्ति, भौतिक उन्नति में लगे व्यक्तियों अपेक्षा अत्यधिक कष्ट उठाते और कष्ट उठाते रहे हैं। लेकिन यह उन्हें दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि यह इन्द्रिय गम्य नहीं है।

पुनश्च, प्रो. दयाकृष्ण लिखत हैं कि "वैसे साधना की बात बहुत की गई है, पर इसके लिए साधना केवल एक ही प्रकार की होती है, केवल वह जिसका लक्ष्य मोक्ष है या निर्वाण है या कैवल्य है, यानि ऐसा लक्ष्य जिसमें न संसार है, न जगत् न कोई अन्य है, न उसके प्रति उत्तरदायित्व है, न धर्म है और नही कोई पुरूषार्थ" (पृष्ठ 87-88)। यद्यपि यह सत्य है कि

साधना का लक्ष्य मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य है, लेकिन इसका अर्थ जीवन, जीगत्, कर्म, उत्तरदायित्व व पुरूषार्थ की उपेक्षा करना नहीं है। भारतीय परम्परा के प्रत्येक दार्शनिक जीवन व जगत् को किसी न किसी स्तिर पर वास्तविक मानते हैं और मोक्ष (जीवन मुक्ति) के उपरान्त भी अपने उत्तरदायित्व से विमुख नही होते, बल्कि अपने उत्तरदायित्व को सही अर्थों में ग्रहण कर, अपने समग्र जीवन को प्राणी मात्र की सेवा में समर्पित कर देते हैं।

वास्तव में कर्म दो प्रकार के होते है- शारीरिक कर्म व मानसिक कर्म। एक व्यक्ति शारीरिक कर्म तो नहीं कर रहा परन्तु अपने ज्ञान के आलोक से सम्पूर्ण मानवता को आलोकित और अभिसिंचित कर, कर्म करने के लिए उत्प्रेरित कर रहा है। क्या हम उसके लिए यह कह सकते हैं कि वह कर्म नहीं कर रहा है? भारतीय धरा के प्रत्येक संत व फकीर, ज्ञानोपरांत भी विभिन्न स्थानों पर भ्रमण कर मनुष्यों को सद्मार्ग पर चलने के लिए की अवधारणा प्रेरित करते रहे हैं। स्पष्टतः मोक्ष, जीवन, जगत् उत्तरदायित्व कर्म आदि का निषेध नहीं करती। इसकी साक्षात् उदाहरण गीता में मिलता हैं, जब भगवान कृष्ण, अर्जुन को कर्म का नही, बल्कि कर्म में त्याग की शिक्षा देते हुए, प्रवृति व निवृत्ति मार्ग का समन्वय करते हैं। प्रवृत्ति मार्ग तो कर्म का मार्ग



है परन्तु निवृत्ति मार्ग त्याग का मार्ग है। गीता के अनुसार कर्म तो करना ही पड़ेगा, साथ ही साथ त्याग भी आवश्यक है, परन्तु त्याग कर्म का नहीं और न ही उत्तरदायित्व का, बल्कि फलाकांक्षा का। यही कर्म में अकर्म की स्थिति है, जहाँ साधक कर्म करते हुए भी अकर्ता बना रहता है।

पुनश्च, भगवान कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, जब तक शरीर है, कर्म और उत्तरदायित्व से मुक्ति असम्भव है, क्योकि-

- जब तक शरीर है, इसको जीवित रखने के लिए कुछ न कुछ तो कर्म करना ही पड़ेगा।
- इन्द्रियों का स्वभाव ही विषयोन्मुख होना होता है।
- यदि सभी व्यक्ति कर्म का परित्याग कर दे तो अंततः लोक का उच्छेद हो जायेगा।
- इन सबके बावजूद लोक संग्रह के लिए भी हो तो कर्म करना ही पड़ेगा। स्वयं भगवान कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन मैं आप्तकाम हूँ और आप्तकाम होने के कारण मेरी कोई इच्छा नहीं है (आप्तकामस्य का स्पृहा) और नहीं मेरा कोई कार्य शेष है (तस्य कार्य न विद्यते- गीता 3/17) फिर भी मैं लोगों के कल्याण के लिए कर्म करता हूँ (वर्त एव च कर्मणि गीता 3/22)।

जब स्वयं भगवान को कर्म करना अनिवार्य है, तो मुक्त आत्मा अपने कर्म से उत्तरदायित्व से कैसे मुक्त हो सकता है? स्पष्टतः मोक्ष परम

पुरूषार्थ होते हुए भी, इसका अर्थ न तो संसार त्यागना है, नही उत्तरदायित्व से भागना ओर नही नैतिक मूल्यों का अतिक्रमण करना है। यद्यपि इस अवस्था में साधक के लिए अच्छा बुरा, शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य आदि का भेद नहीं रह जाता, परन्तु फिर भी वह इन भेदों को भूला नहीं देता। अर्थात् आत्मज्ञान, नैतिकता और उत्तरदायित्व का नही, बल्कि नैतिक और उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का अंत है। इस दृष्टि से लोकमान्य तिलक, अपनी पुस्तक "गीता रहस्य" में ठीक ही लिखते है कि कुबेर से टक्कर लेने वाला करोड़पति साहूकार यदि बाजार में तरकारी लेने जाए, तो जिस प्रकार वह हरी धनिया की गड्डी की कीमत लाख रूपये नहीं दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्था में पहुँचा हुआ पुरूष किसी भी कार्य का योग तारतम्य भूल नहीं जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है, पर समता का यह अर्थ नहीं है कि वह गाय का चारा मनुष्य को और मनुष्य का भोजन गाय को खिला दे।" (गीता रहस्य पृ. 396)

यही नहीं, बोधिसत्व का आदर्श तो यही है कि जब तक प्रत्येक प्राणी दुःखों से मुक्त नही हो जाता, तब तक मै स्वयं निर्वाण नही ग्रहण करूँगा। इसीलिए बौद्धों ने निर्वाण और परिनिर्वाण से पृथक "अप्रतिष्ठित निर्वाण" को अंगीकार किया। जिसका अर्थ है कि यद्यपि भगवान बुद्ध मुक्त हो चुके हैं



तथापि अपने आप को शून्यता में विलीन करने की अपेक्षा, संसार और परमार्थ के मध्य में स्थापित किये हुए हैं, जिससे मुमुक्षु का बाँह पकड़कर परिनिर्वाण में स्थापित कर सकें।

स्पष्टतः मोक्ष का अर्थ 'ज्ञान' है। जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता, तभी वह अपने उत्तरदायित्व को यथार्थ में समझ पाता, बिना ज्ञान के सब कुछ वृथा है। कर्म के लिए भी ज्ञान का होना अनिवार्य है , अन्यथा उसके लिए अकर्म ही कर्म हो जायेगा। भोग के लिए भी ज्ञान आवश्यक है अन्यथा अभोग ही भोग हो जायेगा। इसी प्रकार यथार्थ को समझने के लिए भी ज्ञान का होना आवश्यक है। एक शब्द में सुव्यवस्थित जीवन जीने के लिए ज्ञान की महती आवश्यकता है। स्वयं प्रो. दयाकृष्ण लिखते है कि "मनुष्य की चेतना में कर्म ज्ञान पर आश्रित है, तथा ज्ञान कर्म पर (पृष्ठ-90)"। यह अक्षरशः सत्य है। परन्तु यह कहना कि इन दोनों की चर्चा दर्शन में कम ही हुई है, ठीक नही है। प्रो.दयाकृष्ण के मत में ऐसे आदर्श उसी संस्कृति में जन्म ले सकते हैं, जो संस्कृति अपने से ही विमुख हो चुकी है"। (पृष्ठ-91) यह न केवल संस्कृति का अपमान है बल्कि अपने कर्तव्य, उत्तरदायित्व, धर्म और पुरुषार्थ के प्रति एक प्रकार का दुराग्रह भी है।

प्रो. दयाकृष्ण लिखते है कि "बुद्धि-अक्ल कुछ पकड़ने की कोशिश करती है, लेकिन जिसको पकड़ना चाहती है वह हमेशा पकड़ के बाहर ही रहती है"।(पृष्ठ-9) दूसरा तरफ वे यह भी लिखते है कि कर्म का लक्ष्य क्या है यह किसी को पता नही होती, क्योंकि जीवन के लक्ष्य का ही जब पता नही है तो कर्म के लक्ष्य का पता कैसे होगा? बहुत हद तक मनुष्य भी उसी तरह परिचालित होता है जैसे पशु-पक्षी या कोई और प्राणी"।(पृष्ठ-90) वास्तव मे बुद्धि जिसे पकड़ना चाहती है, वही जीवन का लक्ष्य है। यदि जीवन का लक्ष्य ज्ञात है तो तदनुरूप कर्म का लक्ष्य भी निर्धारित हो जाना चाहिए। जीवन का लक्ष्य क्या है? यह प्रत्येक मनुष्य जानता है। हालाँकि उन लक्ष्यों को प्राप्त करने में अनेकानेक बाधाएँ आती है परन्तुः वही जीवन के लक्ष्य का परित्याग कर देगा, यह कहना तो अनुचित होगा। लेकिन यह सच है कि जीवन का लक्ष्य दूरस्थ हो जाता है और वह इन बाधाओं के उन्मूलन को ही अपना लक्ष्य बना लेता। सोचता है, यदि इन बाधाओं के उन्मुलन को जाय तो लक्ष्य को पाना आसान हो जाय। परन्तु अफसोस बाधाएँ ऐसी मकड़जाल हैं, कि जो भी उसके उन्मूलन का प्रयास करता है, वह समूल विनष्ट हो जाता है। यदि लक्ष्य को केन्द्र और बाधाओं को परिधि मान लिया जाय तो, ऐसी स्थिति में बाधाओं में फँसकर व्यक्ति परिधि को तो बढ़ाता है, लेकिन जितना ही अपनी



परिधि को बढ़ाता जाता है,केन्द्र से दूर होता जाता है। अंततः अपने आप को आत्म प्रवंचना की स्थिति में पाता है। उसके लिए दुनियाँ एक प्रकार का निरर्थक दुनियाँ तथा सभी प्रकार के मनोभाव एक निरर्थक मनोभाव प्रतीत होने लगते है। परिणामतः वह आनेकानेक मनोरोगों को शिकार हो जाता है। जो लक्ष्य था, बाधाओं ने काल कलवित कर लिया। अन्यमनसकर्त्ता की इस नाजुक हालत में वह बाधाओं के उन्मूलन को ही अपना लक्ष्य बना लेता है। अतः यह कहना कि जीवन के लक्ष्य का ही पता नही, एक दुरावस्था को इंगित करता है या फिर अपने उत्तरदायित्व से भोगने के प्रयास को।

प्रो. दयाकृष्ण यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि व्यक्ति का जीवन जिन गलत फहमियों का शिकार हुआ है, उसमें दर्शन का महत्वपूर्ण योगदान है।

"आखिर सुख-दुख की बात, आत्यतिक दुख निवृत्ति की बात, मोक्ष निर्वाण की बात, परा-अपरा की बात कोई सीधा- सादा आदमी, जो जिन्दगी जीता है, काम करता है, परिवार चलाता है, वह तो नही करता। ऐसा लगता है कि दर्शन की दुकान और उसका व्यापार दार्शनिकों ने खद चलाया है। इससे अभी तक उनको ही संतोष हुआ होगा, साधारण आदमी को तो कुछ

मिला प्रतीत नहीं होता"।(पृष्ठ-91) यह कहना कि धर्म की बातों से केवल दार्शनिकों को ही कुछ मिला हैं। सामान्य मनुष्य को नही, असत्य है, वास्तविकता यह है कि इससे जो कुछ भी मिला है सामान्य मनुष्य को ही मिला है। दार्शनिक तो केवल बौद्धिक विश्लेषण कर, समाज को सद्मार्ग का रास्ता प्रशस्त करता है, जिसका लाभ सामान्य जन ही उठाते है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन, आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत रहता है । इस दृष्टि से आगस्त काम्टे ने ठीक ही कहा है कि जब मानवीय बद्धि विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच  जाती है, तो धर्म पीछे छूट जाता है, क्योंकि यह तो अविकसित बद्धि की माँग है। धर्म वह धरोहर है जो विक्लांत और विकल हृदय को विश्रांति व तोष प्रदान करता है। क्योंक इसके अन्तर्गत यह भावना दृढ़ रहती है कि मेरे पीछ् किसी शक्ति का हाथ है, जो मुझे सतत् देख रही है, व मदद कर रही है। इसी शक्ति के सहारे मनुष्य असंम्भव को भी सम्भव कर डालता है। यह सत्य है कि धर्म के नाम पर जितना कटुता व वैमनस्य लोगों के बीच फैला हुआ है, उतना किसी अन्य के नाम पर नहीं। तथापि, धर्म ही वह धरोहर है जो लोगों को एक दूसरे से सम्पृक्त कर, समाज में एकता व सामंजस्य को अक्षुण्य बनाये हुए है। क्योंकि मनुष्य जानता है कि यदि वह कोई गलत कार्य करेगा तो ईश्वर उस अवशय ही दण्डित करेगा। इसीलिए, आज धर्म का ही



प्रभाव है, जो मनुष्य की बर्बरता व उदण्डता को प्रशमित कर, शांति का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। यदि धर्म का साया उठ जाय तो समाज पराभव के गर्त में समाहित हो जायेगा।

भारत में गरीबी व भुखमरी के बावजूद भी रूस व अन्य देशों की तरह क्रान्ति नहीं हो सकी, क्योंकि यहाँ की भूमि अध्यात्म से ओत-प्रोत है। यहाँ गरीबी व भुखमरी को मनुष्य द्वारा कियो गये कर्मों के दण्ड स्वरूप स्वीकार किया गया है। यही नहीं, यहाँ किसी आततायी के अत्याचार को भी यह कहकर सहन कर लिया जाता है कि एक न एक दिन ईश्वर उसे अवश्य ही दण्ड तथा मुझे पुरस्कृत करेगा। इसलिए यह कहना कि एक साधारण मनुष्य को मोक्ष, निर्वाण परा-अपरा, आत्यांतिक दुःख निवृत्ति से क्या मिला, सत्यांश ही है।

हाँ, यह अवश्य ही है कि तथाथित बौद्धिक लोगों को, इससे अवश्य ही कुछ काम मिला है। क्योंकि वे हरेक बातों का बौद्धिक विश्लेषण करना चाहते हैं। परन्तु अफसोस! जिसका बौद्धिक विश्लेषण नहीं हो सकता, जिसे मन व बुद्धि से नहीं जाना जा सकता, अर्थात् जो अति- बौद्धिक (supra-scientific) है, उसे बौद्धिक बनाने का प्रयास कहाँ तक उपयुक्त है। हालाँकि जो अपनी

बौद्धिकता की सीमा को पहचान लिया, वह उसके बारे में सर्वथा मौन हो जाता। जैसे विट्गेंस्टाइन, (ट्रेक्टेटस-7) को में लिखता है कि "जहा हम कुछ नही बोल सकते, वहाँ हमें मौन रहना चाहिए"। क्योंकि "हमारी भाषा की सीमा हमारे जगत की सीमा है [ट्रैक्टेटस-5.6] एफ0 सी0 पी0 रैम्जे तो यहाँ तक कह डालता है कि जहाँ हम नही बोल सकते, वहाँ हमें सीटी भी नही बजानी चाहिए।

लेकिन, आज के दार्शनिक बिना यह समझे कि 'हम किसे जान सकते, किसे नही जान सकते यहाँ तक दावा कर देते है कि जो कुछ भी प्राप्त होना चाहिए, वैज्ञानिक पद्धति से, लेकिन जो विज्ञान की खोज के परे है, मनुष्य उसे नही जान सकता। क्योंकि 'आत्मांन विद्धि' या नो दाईसेल्फ' का बौद्धिक विश्लेषण नही हो सकता। इसका वैज्ञानिक पद्धित के माध्यम से ज्ञान नही हो सकता, इसलिए यह बकवास ही तो है। इसीलिए उन्हें दर्शन की पुस्तकों में 'बातों की बात' अधिक 'काम की बात' कम दिखाई देती है। जो ठीक ही है क्योंकि दर्शन की पुस्तकों में तो आत्म ज्ञान की बात की गई, यह काम की बात कहाँ है? लेकिन यहाँ भी प्रो. दयाकृष्ण, अमरकोश के उस कथन को भूल जाते है जहाँ कहा गया है "मोक्षेधीर्ज्ञानम् अन्यत्र विज्ञानम्" अर्थात् मोक्ष में प्रवृत्त बुद्धि को ज्ञान कहते है, अन्यत्र प्रवृत्त बुद्धि विज्ञान है।



पुनश्च, आत्म-केन्द्रत चिन्तन की मूल भ्रांतियों में प्रो0 दयाकृष्ण 'स्वचिन्तन' को अपना विषय बनाते है। आज मनुष्य 'आत्म-केन्द्रित' होता जा रहा है, फलस्वरूप वह 'पर चिन्तन' से उतना ही दूर होता जा रहा है। यह उस वैदिक निर्देश का उल्लंघन है जहाँ साथ-साथ रहने, खाने, पढ़ने और प्रार्थना करने की बात की गई है। "ॐ सह-नाववतु सहनो-भुनक्तु सह-वीर्यं करवावहै, तेजस्विनाव वधीतमस्तु मा विद्विषावहै।"

लेकिन पर-चिन्तन किस प्रकार उपनिषद में आत्म-केन्द्रत हो गया, इसके बारे में प्रो. दयाकृष्ण लिखते है कि "मनुष्य आत्म-चेतन प्राणी है और इसलिए उसका चिन्तन सहज रूप में आत्मकेन्द्रित होता है" (पृष्ठ-93) साथ ही वह यह भी कहते है कि "उसे अपने को जानने के लिए विश्व को जानना पड़ता है, देश और काल को और उन सब मनुष्यों और प्राणियों को जिनसे उसका गहरा सम्बन्ध है" (पृष्ठ 93)

यहाँ मूलभूत समस्या यह नही है कि किस प्रकार 'पर चिन्तन' 'स्व चिन्तन' में परिवर्तित हो गया, बल्कि यह है कि आखिर किस प्रकार स्व-चिन्तन, पर चिन्तन का रूप धारण कर पायेगा? वास्तव में, जब तक जीव, ज्ञानरहित है, उसमें आसक्ति की भावना रहेगी, फलतः उसके सारे कार्य

स्वार्थजनित प्रवृतियों से संचालित होते रहेंगे, वह 'स्व' और 'पर' का भेद करेगा, अर्थात स्त्री-पुरूष का, उच्च-नीच का, जाति-बिरादरी का। उसके सभी प्रकार के कार्य भेद-जनित प्रवित्तियों से परिचालित होते रहेंगे। लेकिन ऐसा होना अस्वाभाविक नही, क्योंकि अभी तक उसने 'स्व' को जाना ही नही है। स्पष्टतः 'स्व' के दो अर्थ है 'स्वार्थ चिन्तन' और 'आत्म-चिन्तन'। एक तो 'स्व' का अर्थ 'मै' अर्थात स्वयं मै और मेरा परिवार है। लेकिन जो अपने आप को, "अपने और अपने परिवार" तक सीमित किये हुए है वह वास्तव में 'स्व' चिन्तन नही, बल्कि 'स्वार्थ चिन्तन' करता है, जो तुच्छ है, हेय है और त्याज्य है। 'स्व' का दूसरा अर्थ 'मै' अर्थात 'आत्मा' से है जिसका अर्थ 'आत्मा' को जानने' या 'अपने स्वरूप को जानने से' है। ज्योंहि मनुष्य अपने आप को जान लेता है, वह सभी-प्रकार के भेदों से ऊपर उठ जाता है। अभेद की इस अवस्था में उसका 'आत्म-चिन्तन' अर्थात 'स्व चिन्तन' 'पर चिन्तन' का स्वरूप धारण कर लेता है। इस अव्स्था में जीव एक में सब तथा सबमें एक को देखता है। अर्थात सबमें एक ही तत्व की अनुभूति करता है। फलतः वह एक तरफ जहाँ यह कहता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'अयंआत्मा ब्रहा' तो दूसरी तरफ वह यह भी उद्घोष करता कि 'सर्व खल्विदं ब्रह्मा' या 'यतो व इमानि भूतान जायन्ते।' इसी को कबीर कहते है कि "लाली मेरे लाल की



जित देखुं नित लाल, लाली देखन मै गई, मैं भी हो गयी लाल। नामदेव को तो कुत्ते में भी भगवान दिखाई देते है। क्योंकि अब वह जो अपने में देखता, वही दूसरे में भी, इसलिए दूसरों के प्रति स्वभावतः उसके मन में प्रेंम उमड़ता है। अब वह जितना अपने और अपने परिवार से प्रेम करता है, उतना ही दूसरों से भी। जब प्रो. दयाकृष्ण यह कहते है कि अपने को जानने के लिए विश्व को जानना पड़ता है, तो यह बात कुछ समझ में नही आती। वास्तविकता शायद यह है कि उसे विश्व को जानने के लिए अपने आप को जानना पड़ता है। क्योंकि जो अपने आप (आत्मा) को नहीं जान सका, भला वह दूसरे को क्या जान सकेगा? साथ-साथ रहने, खाने-पीने की बात करना तो व्यर्थ ही है अर्थात् उसे जीवन में चरितार्थ करना असम्भव है।

यह भी कैसी विडम्बना है कि प्रो. दयाकृष्ण एक तरफ तो साथ-साथ रहने, खाने, पढ़ने की बात करते, दूसरी तरफ भेद दष्टि, 'अधिकरा-भेद' उजागर करते है न केवल शरीर के स्तर पर बल्कि चेतना के स्तर पर भी। लेकिन मूलभूत प्रश्न यह है कि जब तक हमारी भेद-दृष्टि रहेगी, क्या हम 'पर' को 'स्व' समझ पायेगे, क्या दूसरों के साथ बैठ सकेंगे खा सकेंगे पढ़ सकेगे या दूसरों के साथ रह सकेंगें? जब भी हम कोई सैद्धांन्तिक पक्ष रखत तो हमें, उसके व्यावहारिक पक्ष पर भी विचार कर लेना चाहिए। प्रो. दयाकृष्ण

यह भूल जाते है कि इस अवस्था में तब तक हम नहीं जा सकते, जब तक हम सबमें एक की अनुभूति न ले।

एक अन्य समस्या विषय और विषयी को लेकर है। उनके अनुसार आत्म केन्द्रित चिन्तन में व्यक्ति दूसरे को तो विषय समझता है परन्तु अपने आप को सदैव विषयी या ज्ञाता समझता है। जो ज्ञाता है वह कभी ज्ञेय नही हो सकता। इसलिए जहाँ एक तरफ वह दूसरे को विषय मानकर उसे जानने का प्रयास छोड़ देता है वहीं दूसरी तरफ वह अपने आप को ज्ञाता मानकर जानने का विचार छोड़ देता "क्योंकि मैं जो विषय हूँ ही नही उसे कभी भी कैसे जाना जा सकता है" (पृष्ठ-87)। इसलिए न तो वह अपने आप को जान पाता है, न ही दूसरे को प्रो. दयाकृष्ण लिखते है कि "आत्मा या चेतना-केन्द्रित विचार यह कभी सोच ही नही पाता कि दूसर भी 'आत्म' है, वे भी चेतन है और उनमें से कुछ 'आत्म चेतन' है। वह तो यह स्वतः सिद्ध मानकर चलता है कि जो विषयी है, उसको कभी भी विषय-रूप मे नही देखा जा सकता। पर उसे अन्य लोगों को विषय-रूप देखने मे कोई कठिनाई प्रतीत नही होती (पृष्ठ-87)। स्पष्टतः प्रो. दयाकृष्ण यहाँ यह दिखाना चाहते कि आत्म-केन्द्रित चिन्तन में केवल अपने को विषयी और अन्य को विषय माना जाता है। इसमें केवल विषयी, ही सत् है जो मै हूँ तो फिर दूसरे को



जानने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि वे तो विषय होने के कारण असत् है और असत् कभी सत् तो नही हो सकता, फिर ऐसे असत् को जानने से क्या फायदा।

अन्यत्र प्रो. दयाकृष्ण बेचारे अद्वैतियों की मजबूरी बताते है। वे सबको विषयी रूप मानते है, लेकिन ज्ञान के लिए तो विषय होना आवश्यक है। ज्ञान तो विषय और विषयी दोनों सम्पर्क से आविर्भूत होता है लेकिन यदि विषय नही है तो ज्ञान किसका होगा? "बेचारे अद्वैतियों को लगता है इसी जर ने सताया था कि चेतना में किसी को 'विषय' रूप में जानने की सम्भावना को भी स्वीकार कर लिया जाये, तो वह बेचारी सदैव ही विषयग्रस्त हो जायेगी, उससे कभी भी उसे छुट्टी नही मिलेगी"(पृष्ठ 96)।

यहाँ पर प्रो0 दयाकृष्ण अपने आप को एक उलझन में पाते हैं। एक तरफ तो वे यह मानते है कि आत्मकेन्द्रित चिन्तन केवल अपने को विषयी और अन्य को विषय मानकर चलता है, दूसरी तरफ वे यह भी कहते है कि अद्वैत वेदान्ती अपने और दूसरे, सबको विषयी मानकर चलते है। ये दोनों विचार परस्परविरोधी है। यह सत्य है कि आत्मकेन्द्रित चिन्तन अपने को विषयी या ज्ञाता मानता है। लेकिन वह कभी भी अपने आप को विषयी

मानकर छोड़ नही देता बल्कि उसे सतत जानने का प्रयास भी करता है। यह एक भ्रान्त अवधारणा है कि जिसको जाना जाता है वह विषय अर्थात् जड़ ही होना चाहिए, वह चेतन भी हो सकता है, हालाँकि जानने वाला सदैव चेतन ही होता है, जड़ नही। प्रश्न उठता है कि किससे, किसको जाना जाता है? यहाँ एक जानने वाला चेतन है जो अज्ञानयुक्त है, लेकिन जिसको जाना जाता है वह भी चेतन तो है, लेकिन अज्ञानमुक्त। यहाँ अज्ञानयुक्त चेतना, जीव कहलाती है, जबकि अज्ञानमुक्त चेतना, विशुद्ध आत्मा या परमात्मा। यहाँ जीव, विशुद्ध आत्मा या परमात्मा को जानना चाहती है, और दोनों ही चेतन है, तथापि एक अज्ञानयुक्त होने के कारण सीमित है जबकि दूसरा अज्ञानमुक्त होने के कारण असीमित, व्यापक, विभु आदि-आदि। दोनों एक ही है परन्तु दोनों में अन्तर अज्ञान का है क्योंकि अज्ञान को हटाते ही जीव ब्रह्म या परम सत्ता या निरपेक्ष हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह विषय और विषयी दोनों प्रकार के भेद से ऊपर उठ जाता है।

परमात्मा + अज्ञान = जीव
परमात्मा = जीव-अज्ञान
जब अज्ञान हटाते है
परमात्मा = जीव



यहाँ जीव और ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है(जीवो ब्रह्मैव नापरः)। जब जीव का जीवत्व समाप्त हो जाता और वह ब्रह्म के स्वरूप में स्थापित हो जाता है (ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति), जो न तो विषय है और न ही विषयी बल्कि विशुद्ध द्रष्टा।

दूसरी बात यह भी है कि वह न केवल अपने आप को जानता बल्कि विषय या जड़ को भी। क्योंकि वह जगत या व्यवहार को किसी न किसी स्तर पर सत् मानता है। यही नही इसका कार्य ही सृष्टि के आदि तत्व (Original stuff) को पहचानना है। इसी आदि तत्व को खोज करते-करते वह एक ऐसे तत्व तक पहुँचता जो न तो भौतिक है न ही मानसिक। वह भौतिकता और मानसिकता दोनों से ऊपर है, इसी तत्व को ब्रह्म या ईश्वर या परम तत्व या निरपेक्ष की संज्ञा दी जाती है। आज विज्ञान भी इसी प्रकार की शक्ति या ऊर्जा की बात कर रहा है, सृष्टि के मूल मे है, लेकिन जो न तो भौतिक है न ही मानसिक। प्रारम्भ में विज्ञान अणु को सरलतम तत्व के रूप में स्वीकार करते हुए सृष्टि का मूल मानता था, पुनश्च परमाणु को। आगे चलकर वह परमाणु को भी इलेक्ट्रान, प्रोटान और न्यूट्रान में विभाजित करने लगा। पुनः इलेक्ट्रान, प्रोट्रान, न्यूट्रान भी न्यूट्रीनों, पाजिट्रानों आदि के रूप में विभक्त हो गया। लेकिन अब विज्ञान, इसका भी मूल

रूप ऊर्जा या शक्ति के रूप में लेने लगा, जो न तो मानसिक है नही भौतिक। सम्भव है, निकट भविष्य में विज्ञान भी दर्शन की तरह यह दावा कर दे कि सृष्टि का मूल तत्व या आदि तत्व वह शक्ति है जो न तो मानसिक है, न ही भौतिक। लेकिन जब दर्शन उस मूल तत्व को खोजने का प्रयास करता है, तो प्रो0 दयाकृष्ण को वह 'काम की बात' नही लगती। काम की चीज तो भौतिक वस्तुए है। लेकिन प्रो0 दयाकृष्ण यहाँ भी यह भूल कर जाते है कि जो भौतिक वस्तुएँ है, आखिर वे भी उसी तत्व के ही विविध रूप है। अब यदि हमने मूल तत्व(ऊर्जा) को जान लिया, तो क्या भौतिक वस्तुओं को नही जान लिया। क्या हम उका स्थूल विश्लेषण करेंगे तभी उसे सही अर्थो में जानना माना जायेगा, सूक्ष्म विश्लेषण व्यर्थ है। इसलिए, यह कहना कि अध्यात्म दृष्टि "कर्म के द्वारा जिस संसार की रचना होती है उस संसार की ओर यह 'दृष्टि' कुछ देख ही नही पाती, उसको समझने की बात तो और है।" पृष्ठ 71 कहाँ तक उपयुक्त है? स्पष्टतः अद्वैत वेदान्ती जगत् या व्यवहार को मिथ्या मानकर नही चलते, बल्कि उसे व्यावहारिक स्तर पर पूर्णतः सत् मानते है। अर्थात जब तक कोई व्यावहारिक स्तर पर है, वह उसके लिए मिथ्या नही है। इसलिए इस स्तर पर, वह जगत् को विषय रूप मे सत् मानकर, उसको जानने का प्रयास भी करता है।



यहाँ तक एक अन्य समस्या अज्ञान या 'मूल अविद्या' की है। जो 'मूल' है उसका अन्त नही हो सकता। क्योंकि यदि उसका अन्त हो जाय तो वह 'मूल' नही हो सकता। "अगर वास्तव में कोई 'मूल अविद्या' है तो न उसकी निदान हो सकता है, न उपचार और अगर उपचार या निदान हो सकता है तो न वह असाध्य है न उसको मनुष्य के मूल में ही माना जा सकता है"(पृष्ठ 91-92)। अविद्या इस अर्थ में मूल है क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में दो तत्व थे, प्रकाश व अन्धकार और अन्त में भी ये दोनों ही तत्व रहेंगे। अविद्या, अनादि है अनन्त भी है, वास्तव में अविद्या का अन्त असम्भव है। हाँ! यह अलग बात है कि जहां प्रकाश रहता है, वहाँ अज्ञान गायब हो जाता है। अज्ञान या अंधकरा का नाश नही होता। ठीक वैसे ही जैसे कमरे में बत्ती जलाते ही, तत्क्षण अन्धकार गायब हो जाता है। पुनश्च ज्योंहि बत्ती बुझाते है अन्धकार छा जाता है। अज्ञान न तो उत्पन्न होता, न ही विनिष्ट क्योंक अज्ञान कोई वस्तु नही है बल्कि ज्ञान की अभाव प्रकाश का अभाव है। अतः अन्धकार उत्पन्न और विनष्ट न होकर appear और disappear होता है इसी प्रकार अज्ञान भी है। यही कारण है कि अविद्या या अज्ञान को 'मूल अविद्या' कहा गया है।

यदि उपरोक्त सभी पक्षों पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय, तो 'आत्मा' ज्ञान की मूल प्रवृत्तियों को समझा जा सकता है। इसके ऊपर सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में व्यापक विवेचन किया गया है। अतः उन्ही बातों को यहाँ पुनः रखना पुनरूक्ति मात्र होगा, फिर भी एक प्रश्न तो अवश्य ही विचारणीय है कि आखिर 'आत्म ज्ञान क्यों? यदि आत्म ज्ञान नही हो तो क्या होगा? कोई माने या न माने, एक बात यो अवश्य ही सत्य है कि हमारे व्यक्तित्व के दो पक्ष है शरीर और आत्मा। हम शरीर को स्वच्छ रखने लिए अनेकानेक उद्योग करते है। यदि ऐसा न करें तो वह विविध प्रकार के रोगो से आक्रान्त हो जाय, उससे बदबू आती है, स्वयं अपने शरीर से घृणा होने लगता है। इसी प्रकार यदि हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग आत्मा भी है, तो हम उसकी सफाई के लिए क्या करते है? स्पष्टतः यदि उसकी भी सफाई न ही करते तो वह भी निर्बल मलीन व अशक्त हो जायेगा। हम सबको अपने अन्तर्मन से यह सवाल करने की आवश्यकता है कि हम आत्मा की सफाई के लिए क्या करते है? यदि इन प्रश्नों का उत्तर पाने का प्रयास किया जाय तो 'अत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' का रहस्य समझ में आ जायेगा।



दूसरी बात यह भी है कि आत्म ज्ञान से व्यक्ति संसार से विमुख हो जाता है और अपने आप में ही केन्द्रित, यह भी अनुपयुक्त है। आत्म ज्ञान न तो अपने आप तक सीमित रहने की बात करता है और न ही संसार से विमुख होने की। यदि वास्तव में किसी ने आत्मा को जाना है तो अवश्य ही अन्य लोगों की अपेक्षा अत्यधिक कार्यशील होगा। यदि ऐसा नही दिखता तो यह निश्चित जान लीजिए कि उसने अभी तक अपने मूल स्वरूप को जाना नही, भले ही वह कितनी ही बड़ी-बड़ी बातें क्यों न करे, क्योंकि व्यवहार ही परमार्थ की कसौटी है, जो व्यावहारिक दृष्टि से जितना ही ऊँचा होगा उसकी पारमार्थिक अवस्था उतनी ऊची होगी। जिसने भी आत्मा को जाना उसमें अवश्य ही कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है, यदि ऐसा नही है तो कदापि उसे आत्म द्रष्टा न मानिए।

- पहली यह कि उसके पास पहुँचते ही अपार शान्ति की अनूभूति होती है, ठीक वैसे ही जैसे चिलचिलाती धूप से कोई व्यक्ति पेड़ की छाया में पहुँचता है तो स्वभावतः थोड़ी देर विश्रांति की इच्छा होती है।
- दुनियावी विचार, एकदम से गायब हो जायेंगे।
- मन करता है कि वह कुछ बोलता रहे और मै सुनता रहूँ, क्योंकि उसमें एक आकर्षण होता है। यद्पि ऐसा आकर्षण तो मेस्मोरिजम करने वालों साथ भी हो सकता है। लेकिन यह गांठ बाँध लीजिए की मेस्मोरिजम वाले

आपको कदापि शान्ति नहीं दिला सकते, भले ही चमत्कार दिखाकर आपकों अपनी तरफ आकर्षित कर लें।

- उनके व्यवहार मे और सिद्धान्त में समानता होती है। अर्थात् अन्दर औ बाहर दोनों तरफ एक ही हालत होती है।
- वे हर्ष और विषाद दोनों ही हालत में एकरूप रहते। हर्ष में न तो अत्यधिक प्रसन्न होते, नही विषाद से उद्विग्न।
- वे सभी से समान प्रेम रखते है, चाहे अपना बेटा हो या कोई अन्य। लेकिन "प्रेंम" उनकी कमजोरी का प्रतीक नही होता,क्योंकि वे चाहे तो उसकी परित्याग भी कर सकते हैं। किसी सन्त ने ठीक ही कहा कि "फकीर किसी का नही होता।"
- सभी उनसे प्यार करने लगते है, यद्पि उनके विरोधी भी सकते है तथापि उनको चाहने वाले अधिक होंगे। क्योंकि "प्यारे का प्यारा सबका प्यारा होता है।"

वे बेगरज होकर सबकी सेवा करते है। एक संत डा0 चतुर्भुज सहायजी ने ठीक कहा है कि दुनिया में मेहमान बनकर रहो और किसी की मदद करके , इस तरह वहाँ से गायब हो जाओ कि वह तुम्हें शुक्रिया भी न बोल सके।

यदि ये प्रवृत्तियाँ किसी पुरूष में दृष्टिगोचर हो तो उसे 'आत्म दृष्टा' या 'महात्मा' समझना चाहिए। यदि जीवन को "और भी" बेहतर बनाना है



तथा जीवन को सही अर्थों में जीना है तो "आत्मानं विद्धि" उसमें अवश्य ही सहायक सिद्ध होगा।

लेकिन जब तक 'आत्मानं विद्धि' या 'नो दाईसेल्फ' को न जान ले तब तक उसे 'काम की बात' नही, बल्कि 'बातों की बात' कहना एक प्रकार की आत्म प्रवंचना ही तो है। माना एक ऐसी जनजाति है, जहाँ के प्रत्येक व्यक्ति जन्मांध अँधे है। यदि उनमें कोई आँख वाला पैदा हो जाय, तो आँख वाला प्रकृति के मनोरम दुश्यों का वर्णन करेगा लेकिन अन्य सभी अंधे उसकी बातों को अनर्गल कहेंगे, जो ठीक ही है क्योंकि उन्होने कभी प्रकृति को विविध रूपों को देखा ही नही है। लेकिन अन्य आँख वाले उसकी बातों को सत्य मानेंगे। क्योंकि उनके पास आँख है, उन्होने स्वयं ही अपनी आँखों से इन दृश्यों का अवलोकन किया है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति को आत्मानुभूति हुई है, उसकी सत्यता को उसने जान लिया है, तो हमें उसकी बातों को 'बचकानी' कहने का क्या अधिकार है? और यदि हम बचकानी कहते भी है तो भी वे हमें अवश्य ही 'नादान' या 'नासमझ' कहकर क्षमा कर देगें। ध्यान रहे कि प्रत्येक विद्या की अपनी मान्यताएँ होती है, उनका अपना Approach होता है। Logic के Quantifications और Relations की समस्या और उसके हल को वही व्यक्ति समझ पायेगा, जिससे इसका अध्ययन किया है। इसी प्रकार गणित

के किसी सिद्धान्त की सत्यता और असत्यता की परख वही कर सकता है जो उस विद्या में पारंगत हो। इसी प्रकार रहस्यवादी के किसी सिद्धान्त की परख, एक अन्य रहस्यवादी ही कर सकता है, दूसरा नही।

तीसरी बात यह भी है कि हरेक विद्या में 'मानने' की बात की गई है। गणित भी मानकर चलता है। माना मूलधन X है, तभी हमारा हल सम्भव हो पाता। इसी प्रकार विज्ञान की टोही अंगुलियाँ अपने आप को जब आगे बढ़ाती है तो पहले प्राक्कल्पना (Hypothesis) करके आगे बढ़ती है, तभी किसी नूतन सिद्धान्त की खोज कर पाती। यदि हम विज्ञान में प्राक्कल्पना को स्वीकार न करें तो नूतन सिद्धांत की स्थापना असम्भव हो जायेगी। इसी प्रकार यदि गणित में X को न मानें तो, हल असम्भव हो जायेगा। यदि गणित व विज्ञान में मानने की बात की गई तो फिर दर्शन में 'मानने' पर प्रतिवाद क्यों? ध्यान रहे, प्रत्येक का परिणाम अंत में आता है। यदि परिणाम की प्रत्याशा पहले से ही कर ले तो निराशा ही हाथ लगेगी। अर्थात् किसी भी सिद्धान्त, या मत पर विचार करने के लिए सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों को छोड़ना पड़ेगा और खुले मन से विचार करना होगा तभी हम किसी सिद्धान्त को अच्छी तरह समझ पायेंगे। अध्यात्म न तो तर्क विरूद्ध है और न ही अवैज्ञानिक। लेकिन प्रारम्भ में तो इससे भी गणित व विज्ञान की तरह



प्राकल्पना का सहारा लेना पड़ता है, तभी हम किसी लक्ष्य तक पहुँच सकेंगे। हमारी कमजोरी है कि हम गणित व विज्ञान की प्राकल्पना को तो वैज्ञानिक मानते परन्तु अध्यात्म के प्रकाल्पना को अवैज्ञानिक, जो अनुपयुक्त है।

अंततः यही कहा जा सकता है कि 'आत्म ज्ञान की भ्रांतियों' की अपेक्षा 'अपने आप में भ्रान्तियों' को खोजने की आवश्यकता है। इसलिए मै प्रो0 दयाकृष्ण के कथनों से ही अपने लेख को विराम दे रहा हूँ। "आखिर दर्द तो मुझे ही होता है, अनुभव भी मुझे ही, ज्ञान भी मुझे ही गलती करता हूँ तो मै ही करता हूँ और उसका उत्तरदायित्व भी मुझे ही दिया जाता है और मुझे भी भोगना पड़ता है। अगर यह बात ठीक है और इससे कोई इन्कार नही कर सकता, तो आत्मकेन्द्रित या स्वकेन्द्रित चिन्तन को दोषी क्यों ठहराया जाय? (पृ. 94)।

एक फकीर ने ठीक ही कहा है :

"न कोई परदा है उसके दर पै न रूए रोशन नकाब मे है,
तू आप अपनी खुदी से गालिफ हिजाब में है हिजाब में है।"

आचार्य दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज

# वैदल्य सूत्र एवं न्याय सूत्र के अन्तः सम्बन्ध पर कुछ विचार

-प्रो0 अम्बिका दत्त शर्मा

"तस्याहंकारहानाय वन्ध्यि वैदल्यसूत्रकम्"

ब्राह्मण एवं बौद्ध विचारधारा के मध्य एक हजार से अधिक वर्षों का संघर्ष भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विकास का स्वर्णिम काल रहा है। इसी काल में भारतीय दर्शन को चूड़ान्त समृद्धि एवं प्रखर आलोचनात्मकता प्राप्त हुई है। सत् विषयक दो भिन्न प्रतिमानों का प्रतिनिधित्व करती हुई दोनों परम्परायें आरम्भ से ही एक-दूसरे के विरोध में पनपती रहीं। उनके विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के बीच खण्डन-मण्डन की शुरूआत कुछ परवर्ती घटना है, जिसकी पहल नागार्जुन के तार्किक प्रहारों से मानी जा सकती है। नागार्जुन से पूर्व बौद्ध दर्शन का विकास उसके विभिन्न निकायों एवं सम्प्रदायों द्वारा बुद्ध वचनों की अन्ध रंजना एवं नग्न व्यंजना के द्वारा अपनी ही परम्परा तक सीमित था। नागार्जुन के आविर्भाव के साथ पहली बार बौद्ध दर्शन अपने कुनबे से बाहर निकला और चतुष्कोटिक द्वन्द्व न्याय के विध्वंकसक प्रहारों से उस समय तक प्रचलित एवं सूत्रबद्ध ब्राह्मण एवं बौद्ध दर्शन के सम्प्रदायों की स्थापनाओं को अपना ग्रास बना लिया। नागार्जुन से प्रारम्भ हुए इस वाद-विवाद के लम्बे इतिहास का अन्त रत्नकीर्ति द्वारा "उदयन



निराकरणम्" नामक ग्रन्थ से होता है। नैयायिकों के पक्ष से "उदयन निराकरण्" का प्रत्युत्तर दिया जाना अभी शेष है।

(1)

ब्राह्मण परम्परा के दर्शनों में न्याय दर्शन ने न केवल इस ऐतिहासिक संघर्ष को लम्बे समय तक कायम रखा बल्कि सर्वाधिक प्रभावित भी हुआ है। न्याय दर्शन को बौद्ध दर्शन के साथ संघर्ष का व्यवस्थित इतिहास जितना महत्वपूर्ण और लम्बा है, उतना किसी अन्य दर्शन का नही। इसलिए न्याय दर्शन का विकास और परिष्कार बौद्धों के प्रभाव में सबसे अधिक हुआ है, एक समय के बाद बौद्ध दर्शन का विकास और परिष्कार भी स्पष्ट रूप से न्याय दर्शन के प्रभाव में हुआ प्रतीत होता है। अद्वैत वेदान्तियों एवं मीमांसकों का महत्वपूर्ण योगदान इस संघर्ष को बाद में मिला। इस परस्पर विकास और परिष्कार के जड़ों की ऐतिहासिक गहराई को समझते हुए कहा जा सकता है कि भारत से बौद्ध धर्म का तो उच्छेद हो गया, लेकिन बौद्ध दर्शन अपनी विशिष्टताओं के कारण भारत के दार्शनिक वातावरण में उतना ही अधिक निमज्जित हो गया है।

इस पूरे संघर्ष प्रकरण में न्यायदर्शन की केन्द्रीय और निर्णायक भूमिका रही है, जबकि उसे अपने शैशव काल से प्रौढ़ावस्था पर्यन्त दो प्रकार के

बौद्धपक्षीय प्रहारों का सामना करना पड़ा। पहला प्रहार तो नागार्जुन के द्वारा हुआ, जिसके सन्दर्भ विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्र में प्राप्त होते है। यह प्रतिवाद अपनी प्रकृति में तार्किक विरोध एवं ऐतिहासिक विरोध नामक दोनों ही रूपों में विध्वंसात्मक था। दूसरे प्रकार का विरोध दिड्नाग के प्रमाण समुच्चय आदि ग्रन्थों से प्रारम्भ होता है। इसकी प्रकृति विध्वंसात्मक न होकर, संशोधनात्मक रही है। नागार्जुन क विध्वंसात्मक प्रहारो की गम्भीरता पर गहराई से विचार करते हुए कहा जा सकता है कि इसके फलस्वरूप नैययिकों को अपने तंत्र एवं उसकी व्यवस्था को पुनर्रचित अथवा पुनर्गठिक करना पड़ा होगा। कार्य सम्भवतः न्यायसूत्रों पर भाष्य लिखते हुए वात्स्यायन ने आत्मगोपनपूर्वक किया है। दिड्नाग के संशोधनात्मक प्रतिवादों के परिणामस्वरूप नैयैयिकों ने अपनी व्यवस्था एवं स्थापनाओं का यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार परिष्कार किया है। यह परिष्कार स्वपक्ष स्थापन और परपक्ष खण्डन के रूप में उद्योतकर से लेकर उदयनपर्यन्त व्यवस्थिक एवं क्रमबद्ध तरीके से चला है। यही कारण है कि दिड्नाग के पश्चात नैयायिकों एवं बौद्ध नैयायिकों के भाष्य, वार्तिक एवं प्रकरणादि ग्रन्थ स्पष्टतया एक-दूसरे की प्रतिक्रिया में प्रणीत हुए है। भारत के अन्य दर्शनिक परम्पराओं



(पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, व्याकरण एवं सांख्य-योग) में भाष्य, वार्तिक आदि ग्रन्थों का ऐसा प्रतिक्रियात्मक प्रणयन देखने को नही मिलता है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य बौद्धों एवं नैयायिकों के मध्य हुए दीर्घकालिक वाद-प्रतिवाद के निहितार्थों की समीक्षा करना नही है। यह कार्य हम अपने कुछ पूर्ववर्ती निबन्धों में करते रहे है। यहाँ हमारा उद्देश्य बौद्ध परम्परा में नागार्जुन द्वारा न्याय सूत्रों में परगणित पदार्थों के विध्वंसात्मक प्रतिवाद को ध्यान में रखते हुए न्यायसूत्रों की उपलब्ध और प्रचलित व्यवस्था एवं सारणी पर कुछ ऐतिहासिक महत्व के प्रश्नों को उपस्थापित करना है। ये प्रश्न अपनी प्रकृति में ऐसे होंगे जो न्यायदर्शन के अवधारणात्मक ढाँचे कों दुष्प्रभावित तो नही करते, फिर भी इन्हें उठाया जाना चाहिए था। इन प्रश्नों को उठाकर न्यायसूत्रों के विकास क्रम एवं उनके सम्बन्ध में परम्परा के अन्दर और बाहर से उठने वाले विवादों पर एक विशेष दृष्टि से सोचा जा सकता है। यद्यपि न्याय परम्परा में इस विवक्षित प्रश्न को प्रकट या अप्रकट रूप से कभी नही उठाया गया। वास्तव में केवल न्याय परम्परा को निरन्तरता का अनुसरण करते हुए इस प्रश्न को उठाना भी अत्यन्त कठिन है। तथापि माध्यमिक नागार्जुन द्वारा न्यायसूत्रों के खण्डन का जो साक्ष्य उपलब्ध है, उसके आलोक में ही ऐसे प्रश्नों को

उत्थापित किया जाना सम्भव है। आगामी पृष्ठों में हम अपने विवक्षित प्रश्न को नागार्जुन की दी कृतियों, विग्रहव्यावर्त्तनी एवं वैदल्यसूत्र, उसमें भी विशेष रूप से वैदल्यसूत्र को सामने रखकर उठाने का प्रयास करेंगे। ये प्रश्न इस प्रकार होंगे-

1. नागार्जुन के समक्ष वे कौन-से न्यायसूत्र थे, जिनका समूल खण्डन वैदल्यसूत्र में किया गया है।
2. क्या नागार्जुन द्वारा जिन सूत्रों का खण्डन किया गया है, वे ही गौतम प्रणीत मूल न्यायसूत्र है।
3. क्या शेष सूत्रों (द्वितीय अध्याय से पंचम अध्यायपर्यन्त ) की रचना स्वयं गौतम ने की है अथवा किसी परम्परा मदान्ध और परम्परा विद् दूसरे व्यक्ति के द्वारा आत्मगोपन पूर्वक उनकी पूनर्रचना हुई है।
4. यदि उपलब्ध न्याय सूत्र के प्रथम अध्याय के बाद के सूत्रों की वास्तव में पुनर्रचना हुई है, तो इस महान् कार्य का श्रेय किसे दिया जाय।
5. क्या उपर्युक्त प्रश्नों के आलोक में सम्प्रति उपलब्ध एवं प्रचलित न्यायसूत्रों की व्यवस्था और सरणी पर प्रश्न उठाना



न्याय-परम्परा के लिए अपमानजनक है अथवा इससे न्याय-परम्परा के गौरव में वृद्धि हो सकती है।

(2)

उपर्युक्त प्रश्नों के सन्दर्भ में न्यायसूत्र एवं वैदल्यसूत्र के अन्तःसम्बन्ध पर विचार करने से पूर्व नागार्जुन की व्याख्या और समीक्षा पद्धित पर संक्षेप में विचार कर लेना प्रासांगिक होगा। नागार्जुन की रचनाओं में हमें, आगमपरक एवं युक्तिपर दो प्रकार की व्याख्या पद्धति का अनुप्रयोग देखने को मिलता है। सूत्र समुच्चय आगमपरक व्याख्या पद्धति को प्रस्तावित करता है। इसमे 66 प्रकार के प्रश्नों को लेकर 69 सूत्रों से प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। माध्यमिककारिका विग्रहव्यावर्तनी, शून्यतासप्तति, युक्तिषष्टिका, रत्नावली एवं वैदल्यसूत्रम् नामक छः ग्रन्थों का परिवार युक्तिपरक व्याख्या पद्धति में प्रणीत हुए है। इन छः ग्रन्थो के परिवार के रचनाक्रम को माध्यमिक सम्प्रदाय (प्रसंगिक आद्योगिक) के आन्तरिक क्रम विकास के रूप में समझा जाना चाहिए। पुनः युक्तिपरक व्याख्या पद्धति या समीक्षा का अनुप्रयोग साध्य निषेध एवं साधन निषेध नामक द्विविध दृष्टियों से हुआ है। माध्यमिककारिका में साध्यगत विप्रतिपत्तियों की प्रधानता है। साध्यगत विप्रतिपत्तियों की उद्भावना के पश्चात स्वयं माध्यमिकों के प्रतिपक्ष में

सम्भावित "युक्तिविरह" और "आगमविरुध के प्रसंगों" को ध्यान में रखते हुए क्रमशः विग्रहव्यावर्तनी एवं शून्यतासप्तति की रचना की गई है। युक्तिषष्टिका एवं रत्नावली को विमुक्ति पद एवं विमुक्ति मार्ग के लिए अन्तद्वयवर्जित मध्यमप्रतिपदा की आवश्यकता पर बल देन के लिए रचा गया है। वैदल्यसूत्रम् एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें स्वतन्त्र एवं प्रधान रूप से साधनगत विप्रतिपत्तियों की उद्भावना की गई है। छः ग्रन्थों के परिवार में वैदल्यसूत्र का महत्व भी साधनगत विप्रतिपत्तियों के उद्भावक रूप में ही उल्लेखनीय है।

नागार्जुन की व्याख्या और समीक्षा पद्धति को समझने में एक विशेष कठिनाई यह आती है कि उनकी अधिकांश रचनाओं में पूर्व पक्ष को ऐतिहासिक रूप से सुनिश्चित करना बहुत कठिन होता है। इसका कारण नागार्जुन की खण्डनात्मक पद्धति का चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्याय की शैली में विकास है। इसी के चलते उनकी परीक्षाओं में सम्प्रत्ययात्मकता अथवा आकारिकता की प्रधानता देखी जाती है। वास्तव में यह चतुष्कोटिक द्वन्द्वन्यायमूलक तर्कणा पद्धति का कोई दोष नही, बल्कि उसकी विशिष्टता है। इस पद्धति से किसी एक मूलभूत सम्प्रत्यय की भलीभाँति परीक्षा कर देने से उसके दायरे में आने वाली सभी दृष्टियों की समीक्षा हो जाती है। इके



बावजूद भी सम्प्रत्ययात्मक खण्डन के लिए विशुद्ध तार्किक रूप से उठाये गये विकल्पों का मूल कोई न कोई ऐतिहासिक पूर्व पक्ष या सत् विषयक दृष्टि ही होत है। यहाँ प्रो.टी.आर. वी. मूर्ति। की यह टिप्पणी समीचीन जान पड़ती है कि माध्यमिक द्वन्द्वन्याय के अविलम्ब आविर्भाव को सांख्य, वैशषिक, न्याय एवं आभिधार्मिक बौद्ध दर्शन के उदय और सत् विषयक उनके परस्पर विरोधी दावे के साथ ही रेखांकित किया जा सकता है। इस दृष्टि से नागार्जुन की रचनाओं में ऐसे दो प्रधान पूर्व पक्ष स्पष्ट तौर पर ऐतिहासिक रूप में देखने को मिलते है, जिन पर उनकी समीक्षा अथवा परीक्षा लागू होती है। यह बात अलग है कि उनकी परीक्षा अपने सम्प्रत्ययात्मक स्वरूप में उपर्युक्त पूर्वपक्षों के पार भी जाती है। इसमें पहला पूर्व पक्ष आभिधार्मिक बौद्धदर्शन का "धर्मप्रविचयवाद" है, जिसकी परीक्षा माध्यमिक कारिका में की गई है। दूसरा पूर्व पक्ष न्याय-बैशेषिको का "प्रमाण मूलक पदार्थप्रविचयवाद" रहा है, जिसके तार्किक सन्दर्भ विग्रहव्यावर्तनी में और ऐतिहासिक सन्दर्भ वैदल्यसूत्र में प्राप्त होते है। भारतीय परम्परा के आस्तिक दर्शनों में अपनी बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों को साधन रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यथा सांख्यवादी "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणद्धि" और नैयायिक "मानाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः" को सर्वतंत्र स्वतन्त्र सिद्धान्त घोषित करते है। एतदर्थ विग्रहव्यावर्तनी एवं

वैदल्यसूत्र में साधन रूप प्रमाण और तन्मूलक प्रमेय सिद्धि का समूल खण्डन किया गया है। ध्यातव्य है कि नैयायिकों की ऐसी अवधारणा का खण्डन परवर्ती काल में जयराशि भट्ट एवं श्री हर्ष के द्वारा भी हुआ है, लेकिन नागार्जुन का खण्डन अपनी सम्प्रत्ययात्मक प्रकृति में अधिक मौलिक एवं विप्लवकारी है। नागार्जुन के खण्डन की मौलिकता इस बात में निहित है कि वह प्रमाण, प्रमेय आदि के गुण-दोषों की विवेचना न कर उनके स्वभाव या अस्तित्व की संभावना को ही सर्वतोभावेन निरस्त करता है। विग्रहव्यावर्तनी में यह खण्डन सम्प्रत्ययात्मक रूप में प्रस्तुत हुआ है, जबकि वैदल्यसूत्र में इसी को विस्तारपूर्वक एक विशेष ऐतिहासिक पूर्वपक्ष को ध्यन में रखकर प्रस्तुत किया गया है।

(3)

बौद्ध परम्परा में "वैदल्यसूत्रम्" माध्यमिक दर्शन के छः ग्रन्थों के परिवार में नागार्जुन की एक महत्वपूर्ण रचना के रूप में स्वीकृत है। वैदल्यसूत्रम् का मूल संस्कृति रूप प्राप्त नही है। तिब्बती भाषा में काश्मीरी पण्डिति आनन्द और लोचवा के द्वारा इसका अनुवाद उपलब्ध है। तिब्बती परम्परा में यह ग्रन्थ "वैदल्यसूत्रनाम" और "वैदल्य प्रकरण" के नाम से जाना है। दोनों ही नाम से तिब्बती में अनुदित इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों उपलब्ध



है। कुछ एक विद्वानों का मानना है कि दोनों नाम से उपलब्ध पाण्डुलिपियों के रचयिता का निर्धारण अलग - अलग किया जाना चाहिए।[2] सैम्पा दोर्जे ने 1974 में तिब्बती भाषा से इस ग्रन्थ की संस्कृत पुनर्रचना "वैदल्यसूत्रम्" के नाम से की है और साथ में सरल हिन्दी अनुवाद को स्ववृति से कुछ टिप्पणियों को भी प्रस्तुत किया है। 1995 में पुर्नेन्डो टोला एवं कार्मेन ड्रेगोनेस्टी ने "वैदल्यप्रकरण" नाम से इसके तिब्बती अनुवाद को स्ववृत्ति सहित अंग्रेजी अनुवाद के साथ विधिवत प्रकाश में लाया है। विद्वान द्वय ने अपने अनुवाद की भूमिका लिखते हुए कई विकल्पों के साथ इस बात पर सन्देह व्यक्त किया है कि "वैदल्य प्रकरण" नागार्जुन की ही रचना है। यद्यपि परम्परागत रूप से वैदल्य प्रकरण या वैदल्यसूत्रम नागार्जुन की ही रचना है। यद्यपि परम्परागत रूप से वैदल्य प्रकरण या वैदल्यसूत्रम नागार्जुन की ही रचना मानी जाती है, तथापि विद्वानद्दय का सन्देह कम से कम और अधिक विचार करने के लिए तो अवश्य प्रेरित करता है। विद्वानद्दय के सन्देह पर उनके सन्देहों को पुष्ट करने वाले तर्कों पर बहुत विचार किया जा सकता है, कई तर्क प्रस्तुत किये जा सकते है कि इस ग्रन्थ को नागार्जुन की रचना ही होनी चाहिए, लेकिन यहाँ उन पर विचार करना हमारे लिए बहुत प्रासांगिक नही है। हाँ अध्ययन के दौरान स्वयं मुझे भी इस पर सन्देह हुआ

है कि वैदल्यसूत्र नागार्जुन के ही हैं और इस पर स्ववृत्ति सम्भव है कि किसी ने आत्मगोपन पूर्वक लिख दिया हो, जो तिब्बत की युद्धस्तरीय अनुवाद परम्परा में असम्भव भी नही है। इस निबन्ध के माध्यम से जिन प्रश्नों पर, न्यायसूत्र एव वैदल्यसूत्र के अन्तः सम्बन्ध पर हमें विचार करना है उसके लिए अक्षपाद एवं गौतम एक ही व्यक्ति है अथवा अलग-अलग है, न्यायसूत्र अक्षपात का है कि या गौतम का अथवा वैदल्यसूत्र नागार्जुन का है या किसी अन्य का है- इत्यादि सन्देह बहुत महत्वपूर्ण नही है। दोनों ग्रन्थ उपलब्ध है और उपलब्ध ग्रन्थ की परिसीमा में ही दोनों के अन्तःसम्बन्ध पौर्वाअपर्य पर सम्यक् रूप से विचार किया जा सकता है।

यह आश्चर्य की बात है कि माध्यमिक दर्शन पर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्धानों द्वारा किये गये अधिकांश अध्ययनों में वैदल्यसूत्र को सम्मिलित नही किया गया है। वास्तविकता तो यह है कि माध्यमिकों से द्वन्द्वन्याय की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए साध्य निरास और साधन निरास दोनों ही आवश्यक है। यदि साध्य निरास का प्रतिनिधि ग्रन्थ "माध्यमिककारिका" को माना जाता है, तो साधन निरास का प्रतिनिधि ग्रन्थ "वैदल्यसूत्रम्" ही है। स्वयं माध्यमिक परम्परा में भी यह ग्रन्थ किन्हीं कारणों से बहुत प्रचलित नही रहा। नागार्जुन के अनुयायी शिष्यों के द्वारा शायद ही इस ग्रन्थ को



समारोहपूर्वक उल्लिखित किया गया हो। चन्द्रकीर्ति अपने "माध्यमकशास्त्र-स्तुति" में और भव्य ने अपने "मध्यमकरत्नदीप" में इसे नागार्जुन की कृति के रूप में परिगणित भर किया है। बुस्टोन एवं तारनाथ ने भी वैदल्यसूत्र की गणना नागार्जुन की कृतियों के ही अन्तर्गत की है। माध्यमिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही "वैदल्यसूत्रम्" के प्रति उदासीनता का कारण यह हो सकता है कि इस ग्रन्थ को एक विशेष ऐतिहासिक पूर्वपक्ष को ध्यान में रखकर रचा गया है और इसके विषय-वस्तु की सम्प्रत्ययात्मक परीक्षा विग्रहव्यावर्त्तनी में पहले ही की जा चुकी थी। ऐसी स्थिति में वैदल्यसूत्रम् का कदाचित् और किञ्चित् अप्रचलित हो जाना स्वाभाविक है, लेकिन वैदल्यसूत्रम् का महत्व भी इसी में निहित है कि इसमें पूर्वपक्ष को स्पष्टतया ऐतिहासिक सन्दर्भ में उठाया गया है। अतएव वैदल्यसूत्रम का महत्व उस दार्शनिक तंत्र के विकास को समझने के लिए महत्वपूर्ण हो जाता है, जिसका कि विध्वंसात्मक खण्डक इसके माध्यम से किया गया है।

वैदल्यसूत्रम् पृथक्जनों अथवा विशिष्ट बुद्धि से सम्पन्न व्यक्तियों को ध्यान में रखते है हुए 72 या 73 सूत्रों में निबद्ध एक लघु ग्रन्थ है। इसका प्रमुख प्रतिपाद्य गौतमीय न्यायाशास्त्र सम्मत षोडश पदार्थों की स्वभाव सत्ता का आत्यान्तिक खण्डन है। ग्रन्थ की आरम्भि कारिका से ऐसा स्पष्ट

हो विविद भी होता है। आरम्भिक कारिका प्रतिज्ञामूलक है, जिसमें कहा गया है कि "तर्क और ज्ञान के अभिमान से जो वाद करना चाहते है, उनके अहंकार नाश के लिए मैं (नागार्जुन) वैदल्यसूत्र की रचना करता हूँ।[5] ग्रन्थ के दूसर सूत्र स लेकर 20वे सूत्र तक प्रमाण प्रमेय का सुतरां खण्डन किया गया है। इससे अपिततः ऐसा प्रतीत हो सकता है कि प्रमाण के खण्डन में ग्रन्थकार की विशेष, रूचि है, लेकिन वास्तविकता यह है कि प्रमेय का खण्डन भी साथ-साथ चलता रहता है। ऐसा इसलिए क्योंकि प्रमाण प्रमेय के सम्बन्ध में विप्रतिपत्तियों को मूलतः व्यवस्थाप्य व्यवस्थापक प्रमेय का भी खण्डन अभिप्रेत है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में बाह्यार्थ, ईश्वर, आत्मा आदि प्रमेयों के खण्डनार्थ कोई अलग से सूत्र नही है। केवल अवयवों के अन्तर्गत हेतु निरास के प्रसंग में एक सूत्र आता है जिसमें आत्मा का खण्डन किया गया है। 'तदनन्तर 21 से 23 संशय निराश 24 प्रयोजन निरास, 25 से 31 दृष्टान्त निषेध, 33 से 49 अवयवादी खण्डन, 50 जल्प एवं वितण्डा निषेध, 58 से 67 हैत्वा भास खण्डन, 68 छल निराकरण, 69 जाति निराकरण एवं 70 से 72वें सूत्र तक क्रमशः निग्रह स्थानों का निराकरण किया गया। अन्तिम 73वाँ सूत्र ग्रन्थ का उपसंहार है, जिसमें उपर्युक्त सभी पदार्थों के निषेधक वाक्यों का भी निषेध बताया गया है।[7] वस्तुतः ऐसा उपसंहार और कुछ नही,



ग्रन्थगत सम्पूर्ण समीक्षा का शून्यता में पर्यवसान है। यद्यपि शून्यता शब्द ग्रन्थ में कही भी प्रयुक्त नही हुआ है तथापि अभिधेय और अभिधान दोनों का खण्डन ही तो परात्पर शून्यता प्रसक्ति है।

इस प्रकार वैदल्यसूत्र के विषय-वस्तु एवं खण्डनात्मक योजना के परिचयात्मक विवरण मात्र से यह समझा जा सकता है कि इसकी रचना न्याय-शास्त्र सम्मत् उन षोडस पदार्थों के विदलनार्थ की गई है, जिनके तत्वज्ञान से नैयायिक निःश्रेयशः की कामना करते हैं। कदाचित् ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वैदल्यसूत्र में समीक्ष्य पदार्थ अधिकांशतः भारतीय वाद परम्परा के पदार्थ है और उन्हीं का खण्डन इस ग्रन्थ में किया गया है।[8] ऐसा इसलिए नही, क्योंकि वैदल्यसूत्र में षोडश पदार्थों का खण्डन उसी क्रम एवं उसी लक्षण क अनुसार हुआ है, जैसा कि न्यायसूत्रों में इन्हें परिगणित एवं लक्षित किया गया है। स्वयं वैदल्यसूत्रकार अपनी प्रतिज्ञा की स्ववृत्ति में प्रथम न्यायसूत्र प्रमाण प्रमेय निग्रहस्थानानि भाग का उल्लेख भी करते है यहाँ अवशिष्ट अंश छल निराश साधिगम" भाग का उल्लेख नही किया गया है। यह अवशिष्ट अंश छल निरास 66वें सूत्र के अन्तर्गत उद्धत है। पुनः यहा ध्यातव्य है कि नैयातिक प्रमाण-प्रमेय आदी षोडश पदार्थों को स्वभावसत् = परमार्थसत् के रूप में स्वीकार करते है, जबकि माध्यमिकों ने इसे संवृत्तिसत्

के रूप में स्वीकार है। यदि नागार्जुन षोडश पदार्थों की स्वभाव सत्ता का खण्डन संवृत्तिसत् के पूर्वग्रह पूर्वक करते तो यह वादविधान की दृष्टि से एक प्रकार का छल या जात्युत्तर हो जाता है। एतदर्थ उन्होनें षोडश पदार्थों का खण्डन उसी रूप से किया है, जिस रूप में नैयायिक इन्हें स्वीकार करते है। स्वयं वैदल्यसूत्रकार ने छल सूत्र की स्ववृत्ति में ऐसा स्पष्टीकरण भी दिया है। अतएव वैदल्यसूत्र वाद परम्परा के तथाकथिक पदार्थों का खण्डन करने वाला ग्रन्थ नही, बल्कि केवल और केवल गौतमप्रणीत न्यायसूत्रों एवं पदार्थों की स्वभाव सत्ता का विदलन करने वाला ग्रन्थ है।

(4)

भारतीय दर्शन परम्परा में न्यायसूत्रों का सूत्रानुसारी खण्डन करने वाला वैदल्यसूत्र के अतिरिक्त इस प्रकार का कोई दूसरा ग्रन्थ नही है। यह बात न्याय परम्परा के लिए बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि कोई भी दर्शन तंत्र या परम्परा अपने सूत्रों के ऐसे मूलोच्छेदक खण्डन के प्रति तटस्थ अथवा उदासीन नही रह सकता है। उसे अपने खण्डनोद्वार पूर्वक ही आगे बढ़ाना होगा। पुनः दूसरी ओर, यदि उस तंत्र या परम्परा के सूत्रों में हि अथवा भाष्य में अपने सूत्रों के खण्डनोद्वार की प्रवृति दिखाई पड़ती हो तो उस तंत्र विशेष के विकास की दिशा को आवश्यक रूप से उसके खण्डन के आलोक में समझा



जाना चाहिए। न्यायसूत्र एवं भाष्य में सुतरां ऐसी जागृति और प्रवृति दिखायी पड़ती है। अतएव पूर्व में हमने जो न्याय सूत्रों की प्रचलित व्यवस्था एवं सरणी पर जो प्रश्न उठाये है वे सभी प्रश्न वैदल्यसूत्र का सन्दर्भ बनाकर इसी कारण उठाये जा सकते है।

अक्षपाद गौतम एवं आचार्य नागार्जुन का पौर्वाअपर्य और उनकी रचनाओं के अन्तःसम्बन्ध की समस्या बहुत पहले से ही विवादास्पद रही है। अपनी-अपनी परम्परा-में एक और दोनों ही आचार्यों के सुदीर्घजीवी होने की मान्यता के कारण उनके निश्चित काल का निर्धारण न हो पाने से हमें उनके पौर्वाऽपर्य का विचार करने के लिए उनकी रचनाओं के अन्तःसम्बन्ध का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरी ओर दोनों की आचार्यों की रचनाओं में एक-दूसरे के खण्डन-मण्डन के अस्पष्ट और कतिपय स्पष्ट संकेत मिलने के कारण अन्तःसम्बन्ध का निर्धारण आचार्यों के निश्चित काल निर्णय की अपेक्षा रखती है।

ऐसी उहापोहात्मक स्थिति में कुछ विद्वानों[9] का मानना है कि न्यायसूत्र नागार्जुन के समय में या उसके बाद लिखा गया है। ऐसा इसलिए क्योंकि न्यायसूत्र में यत्र-तत्र शून्यवाद एवं विज्ञानवाद का खण्डन मिलता है। इसके विपरीत कतिपय विद्वानों का मानना है कि नागार्जुन की रचनाओं में

(विशेषतः विग्रहव्यावर्त्तनी) यत्र-तत्र न्यायसूत्रों में अन्वित अवधारणाओं का खण्डन किया गया है अतएव न्यायसूत्र नागार्जुन से पहले के हैं। इस मान्यता के विरोध में महामहोपाध्याय एस. सी. विद्यभूषण[10] कहते हैं कि नागार्जुन की रचनाओं में न्याय सम्बन्ध जिन प्रमुख वाक्यों एवं प्रमेयों का खण्डन किया गया है, वे न्यायसूत्र के नही अपितु चरकसंहिता आदि में वर्णित वाद परम्परा के न्याय वाक्य है। महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश[11] ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार करते हुए न्यायसूत्रों की श्रुतिमूलकता एवं प्राचीनता को बहुविध ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध किया है। उनका मानना है कि न्यायसूत्र में विचार द्वारा खण्डन करने के उद्देश्य से जिन नास्तिक दर्शनों का पूर्वपक्ष रूप में उल्लेख है उन सबों का मूल उपनिषद् में मिलता है। प्राचीन काल से ही विभिन्न नास्तिक सम्प्रदाय विभिन्न रूप में इन मतों की व्याख्या करते आये है तथा समर्थन के लिए कितने ही मतों की सृष्टि भी करते रहते है। दार्शनिक ऋषियों ने इन सभी मतों का सयुक्तिक प्रतिवाद किया है। पश्चात् बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने जिस तरह से शून्यवाद की व्याख्या की है, उसका निर्देश न किसी न्यायसूत्र में और न ही न्यायभाष्य में है। नागार्जुन का शून्यवाद "सर्ववास्तित्ववाद" नही है। पुनः उनका कहना है कि इसमें कुछ भी प्रमाण नही मिलता कि न्यायसूत्र की



रचना नागार्जुन के बाद हुई है। बौद्ध ग्रन्थ के किसी शब्द को न्यायसूत्र में देखकर उक्त बौद्ध ग्रन्थ के बाद न्यायसूत्र की रचना मानना सर्वथा अनुचित है। ऐसे तर्कों को सर्वथा असत् अनुमान मानना चाहिए। लङ्कावतारसूत्र तथा माध्यमिक सूत्र आदि प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थों का एक भी पारिभाषिक शब्द न्यायसूत्र में नही पाया जाता है। वास्तयायन ने भी प्रतीत्यसमुत्पाद आदि बौद्धदर्शन के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोंग नही किया है। ये क्षमिकवादी, अनात्मवादी, सर्वनास्तित्ववादी को "आनुपलम्भिक" शब्द से निर्दिष्ट करते है, किन्तु किसी को शून्यवादी शब्द से स्पष्टतः अभिहित नही किया गया है। शून्य शब्द की व्याख्या भी इन्होनें कहीं भी भाष्य में नहीं की है। तब यह कैसे ज्ञात होगा कि वात्सयायन भी आचार्य नागार्जुन के परवर्ती है। महोमहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश जी ने अपनी बातों को पुष्ट करने के लिए कतिपय प्राचीन उपनिषदों, पुराणों, महाभारत, देवीभागवत्, मनुस्मृति कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, पाराशरपुत्र वेदव्यास विरचित ब्रह्मसूत्र, पातञ्जलमहाभाष्य एवं पाणिनि सूत्रों के आधार पर अहिल्या पति अक्षपाद गौतम के समक्ष प्रकाशित न्यायसूत्रों की प्राचीनता को भी सिद्ध किया है।

उपर्युक्त सभी निर्धारण अन्ततः अक्षपाद गौतम एवं नागार्जुन की रचनाओं में परस्पर खण्डन-मण्डन के जो स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध होते है, उसी

पर आश्रित है। परञ्च, यह बात भी सही है कि इतिहास के इन वृद्ध विद्वानों ने अपने निर्धारणों को सामने लाने के लिए जिन ग्रन्थों एवं सन्दर्भों को लिया है, वे सुस्पष्ट नही है और उनके विषय में निश्चय रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। इस अस्पष्टता एवं अनिश्चितता को दूर करने वाला एक मात्र वैदल्यसूत्र है, लेकिन उपर्युक्त निधारणों में वैदल्यसूत्र को न तो सम्मिलित, न हीं सन्दर्भ ही बनाया गया है। सम्भवतः यह ग्रन्थ अपनी पूर्ण जानकारियों के साथा उनके समक्ष उपलब्ध नही रहा होगा, अन्यथा उनके निर्धारण अवश्य ही परिमार्जित हो जाते।

(5)

वैदल्यसूत्र को सन्दर्भ बनाकर न्यायसूत्रों के नागार्जुन से पूर्ववर्ती या परवर्ती होने की समस्या पर विचार करने से विवाद की बुनावट ही बदल जाती है। इस ग्रन्थ क सामने आने से कम से कम, इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वैदल्यसूत्रकार के समक्ष किसी न किसी रूप और मात्रा में न्यायसूत्र अवश्य ही विद्यान थे, क्योंकि उनके और केवल उनके ही खण्डन में यह प्रणीत हुआ है। अतएव अब महत्वपूर्ण सम्स्या यह नहीं रह जाती कि न्यायसूत्र वैदल्यसूत्रकार नागार्जुन के पूर्ववती या परवर्ती है, अपितु समस्या



इस रूप में सामने आती है कि वे कौन से न्यायसूत्र है जो वैदल्यसूत्रकार के पूर्ववर्ती है और कितने न्यायसूत्रों की रचना बाद में हुई है। यह प्रश्न उस प्रचलित मान्यता का विरोध करता है, जो यह मानकर चलता है कि समस्त न्यायसूत्र अविच्छिन्न रूप से अक्षपाद गौतम प्रणीत हुए है। यद्यपि न्यायसूत्रों की संख्या एवं कदाचित् क्रम को लेकर स्वयं न्याय सम्प्रदाय में भी मतैक्यता नही है।[12] फिर भी सम्प्रति उपलब्ध न्यायसूत्रों की प्रचलित व्यवस्था एवं सरणी में वाचस्पति मिश्र के न्यायसूची निबन्ध के अनुसार 5 अध्याय, 10 अहिणक, 84 प्रकरण, 528 सूत्र, 1966 पद एवं 8385 अक्षर है।

अब विचारणीय प्रश्न है कि वैदल्यसूत्रकार के समक्ष यह सम्पूर्ण न्यायसूत्र उपलब्ध था या नहीं? वैदल्यसूत्र को सामने रखकर विचार करने पर स्पष्ट हो विदित होता है कि उद्देश्य, लक्षण परीक्षा के क्रम में निबद्ध पाँचों अध्याय के 528 न्यायसूत्र वैदल्यसूत्रकार नागार्जुन के समक्ष उपलब्ध नही थे। यदि होते तो कोई कारण नहीं कि उनके विषय में कुछ नहीं कहा गया होता, जबकि न्यायसूत्रों में अन्वित षोडश पदार्थों का ही क्रमशः न्यायसूत्रानुसारी खण्डन किया जा रहा हो। आखिरकार तब वैदल्यसूत्रकार के सामने कौन सा न्यायशास्त्र और उसके सूत्र किसी रूप में विद्यमान थे, जिसके आधार पर

षोडश पदार्थों की आलोचना की गई है। उस काल में न्यायसूत्रों की क्या स्थिति थी।

यदि वैदल्यसूत्र की योजना को देखते हुए इस प्रश्न पर विचार करें तो वैदल्यसूत्र में आरम्भ से अन्त तक केवल न्यायपदार्थों का ही खण्डन किया गया है। वह भी केवल पदार्थों का नही, बल्कि उनके सूत्रों के यथावत् विवरण के साथ खण्डन किया गया है। जहाँ वैदल्यसूत्र में खण्डन समाप्त होता है, वहीं न्यायसूत्र का प्रथम अध्याय भी समाप्त होता है। यदि ग्रन्थ की सामान्य योजना पर कदाचित् किसी को संदेह हो तो वैदल्यसूत्रों एवं न्यायसूत्रों पर परस्पर अन्तः सम्बन्ध की ऐसी सूची प्रस्तुत की जा सकती है और उसके आधार पर यह दिखाया जा सकता है कि वैदल्यसूत्रकार ने कम से कम कितने न्यायसूत्रों को ध्यान में रखते हुए उनके खण्डन को अग्रसारित किया है। फर्नेण्डो टोला एवं कार्मन ड्रैगोनेट्टी ने ऐसी सूची प्रस्तुत की है, जो इस प्रकार है।

| वैदल्यसूत्र | न्यायसूत्र |
|---|---|
| 1. | 1.1.1 |
| 9. | 1.1.25 |
| 17. | न्यायसम्मत् प्रामाण्य ज्ञान का निकष |
| 18. | 1.1.5 |



| | |
|---|---|
| 20. | 1.1.9 |
| 22. | 1.1.23 |
| 24. | 1.1.24 |
| 28 से 31 | 1.1.25 एवं 1.1. 34-35 |
| 33. | 1.1.32 |
| 38. | 1.2.8 |
| 40. | 1.1.33 |
| 41. | 1.1.34-35 |
| 47. | 3.1.1-30 |
| 50. | 1.1.40 |
| 51. | 1.1.41 |
| 52. | 1.2.1 |
| 53. | 2.1.53 (9) |
| 53. | 1.1.1 |
| 53. | न्यायसम्मत् यथार्थवाद का संदर्भ |
| 54. | 2.156 (9) |
| 57. | 1.2.1 |
| 58. | 1.2.49 |
| 54 से 56 | 1.2.5 |
| 63. | 1.1.34 |
| 65. | 1.2.9 |
| 68. | 1.2.10-17 |

69. 1.2.18 एवं 20

70. 5.2. 14-16

इस प्रकार वैदल्यसूत्र की सामान्य योजना एवं विद्वानद्वय के द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त सूची के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदल्यसूत्र में न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय, द्वितीय आहिणक तक के षोडश पदार्थ विषयक लक्षणसूत्रों का सूत्रानुसारी क्रम से खण्डन किया गया है। इतने में पदार्थों के नाम संकीर्तण रूप 61-सूत्, 2-आहिणक एवं 11 प्रकरण आते है। अतएव ऐसा सोचा जा सकता है कि वैद्ल्यसूत्रकार के समक्ष इतने ही न्यायसूत्र विद्यमान थे। इससे आगे के सूत्रों के विषय में वैदल्यसूत्रकार से कोई संकेत प्राप्त नही होते है।

इस धारणा के विरोध में नैयायिकों के पक्ष से कहा जा कता है कि यदि वैदल्यसूत्रकार का उद्देश्य न्यायसूत्रों में अन्वित पदार्थों की स्वभावतः का खण्डन करना ही था, तो इसके लिए प्रथम प्रथमसूत्र ही पर्याप्त है। सम्पूर्ण न्यायशास्त्र तो एक ही सूत्र में प्रत्यहृत है। यदि कोई कहे कि प्रथम उद्देश्य सूत्र में पदार्थों के नाम और क्रम वर्णित है और वह खण्डन के लिए पर्याप्त नहीं है तो ऐसी स्थिति में पदार्थों के लक्षण निर्देशक सूत्रों को देखकर वैदल्यसूत्रकार षोडश पदार्थों का सुतरां खण्डन कर सकता था। इसके लिए शेष सूत्र जो परीक्षामूलक है, उन्हें सन्दर्भ बनाने की आवश्यकता नही। अतः वैदल्यसूत्र में न्याय पदार्थों के लक्षण निर्देशक सूत्रों का खण्डन देखकर यह



अनुमान लगाना सर्वथा अनुचित है कि वैदल्यसूत्रकार के समक्ष इतने ही सूत्र विद्यमान थे।

यह बात सही है कि न्यायशास्त्र सम्मत् षोडश पदार्थों की स्वभावता का खण्डन करने के लिए उनके लक्षण निदेशक सूत्रों का निरास ही पर्याप्त है, लेकिन यही बात नैयायिकों से भी तो कही जा सकती है कि षोडश पदार्थों के लक्षण निर्देशक 61 सूत्रों में ही एक तरीके से न्यायशास्त्र की योजना पूर्ण भी हो जाती है। यदि पुनः नैयायिक यह कहे कि शास्त्र की प्रवृत्ति उद्देश्य, लक्षण एवं परीक्षा पूर्वक होती है और 528 सूत्रों की रचना गौतम ने इसी योजना से अविच्छिन्न रूप में की है, तब भी नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि त्रिविध रूप से ही शास्त्र भी प्रवृत्ति होती है, इसमें क्या प्रमाण है? यह बात भाष्यकार वात्स्यायन के द्वारा कही गई है।[14] भाष्यकार से पहले सूत्रों में या अन्यत्र परम्परा में "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः" विषयक कोई सन्दर्भ प्राप्त नही होते है। क्या त्रिविधा शास्त्र प्रवत्ति की अवधारणा को प्रस्तावित करते हुए कोई व्यक्ति न्यायसूत्र के परीक्षा मूलक सूत्रों की पुनर्रचना कर भी अपना आत्मगोपन बहुत आसानी से नही कर सकता है?

पुनः यदि मान भी लिया जाय कि गौतम प्रणीत सभी न्याय सूत्र (528) पहले से विद्यमान थे और वैदल्यसूत्रकार ने केवल प्रथम अध्याय पर्यन्त 61 लक्षण सूत्रों के आधार पर ही अपने खण्डन को अग्रसारित किया है तो ऐसी स्थिति में न्यायसूत्र-प्रथम अध्याय के बाद के सूत्रों में कम से कम वैदल्यसूत्र के पूर्वपक्ष रूप में कोई सूत्र नही आना चाहिए। यदि आता है तो

यह अनुमान करना सम्भव होगा कि प्रथम अध्याय के बाद के सूत्र वैदल्यसूत्र के पूर्वपक्ष को ध्यान में रखते हुए बाद में रचे गये है। यह चौकाने वाला सन्दर्भ न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय के बाद के सूत्रों में प्राप्त होता है।

ध्यातव्य है कि न्यायसूत्र-द्वितीय अध्याय से परीक्षा प्रकरण का प्रारम्भ होता है। यहाँ प्रमाण-प्रमेयादि षोदश पदार्थों की परीक्षा में संशय को प्रथम स्थान दिया गया है, जबकि प्रथम सूत्र में कहे गये पदार्थों के क्रम की दृष्टि से यह एक प्रकार का क्रमभंग भी है। भाष्यकार वात्स्यायन।[15] इसके लिए तर्क देते है कि विमर्श = संशय करके पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निश्चय करना चूँकि निर्णय? (1.1.41) कहलाता है, इसलिए परीक्षा प्रसंग मे संशय का प्रथम स्थान है। इस तरह से संशय को प्रथम स्थान देने के कारण जहाँ आन्वीक्षिकी की तात्पर्य स्वयं भाष्यकार के लिए "प्रत्यक्षागामाश्रितं चानुमानम्, सान्वीक्षा तथा प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी, न्यायविद्या" था वही वार्तिककार उद्योतकर[16] को "संशयादिभेदानुविधायिनी आन्वीक्षिकीति" कहना पड़ा। वस्तुतः परीक्षा प्रसंग में संशय को प्रथम स्थान देने से आन्वीक्षिकी विद्या की प्रवृति "संशयात्" और विषय "संशयित" हो जाता है। यद्यपि भाष्यकार ने अनुबन्ध चतुषटय प्रकरण में इसका संकेत किया है, फिर भी यह व्यक्त रूप में एक प्रकार से प्रस्थान भेद जैसा प्रतीत होता है।



यदि वैदल्यसूत्र को सामने रखकर इस प्रश्न पर विचार करें तो वैदल्यसूत्रकार ने अपने 21वें, 22वें एवं 23वें सूत्र के द्वारा संशय का खण्डन करते हुए संशय का सम्भावना को ही सर्वतोभावेन् निरस्त करता है। संशय सम्भव न होने से न्यायशास्त्र की सुलक्ष प्रवृत्त नही हो सकती और न ही संशय के बिना किसी विषय-वस्तु की सार्थक परीक्षा का समारम्भ ही किया जा सकता है। स्वयं प्रमाण की अन्वेषणा के लिए भी संशय का होना आवश्यक है। जब संशय ही सम्भव नही तो सप्रमाण विचार करने का सासा मार्ग ही अवरूद्ध हो जाता है। अतएव षोडश पदार्थों की परीक्षा की परीक्षा का समारम्भ संशय की सम्भावना को सुनिश्चित किये बिना नही हो सकता। इसीलिए न्यायासूत्र के द्वितीय अध्याय-परीक्षा प्रकरण का आरम्भ संशय की स्थापना से किया गया है। इस प्रकरण में आश्चर्यजनक बात यह है कि इसके सात सूत्रों में पाँच सूत्रों के द्वारा वैदल्यसूत्र का पूर्वपक्ष रखा गया है। शेष दो सूत्रों में वैदल्यसूत्र का प्रत्युत्तर देते हुए सिद्धान्त पक्ष के रूप में संशय की पुनर्प्रतिष्ठा की गई है। न्यायसूत्र[17] में संशय की लक्षण करते हुए- समानानोनेकधर्मोपयत्तेविप्रतिपत्तेरूपलब्धव्यवस्था तश्च विशेषापेक्षौ विमर्शः संशयः कहा गया है। वैदल्यसूत्र[18] में इसके खण्डनार्थ-"उपलबधानुपलब्ध योर संशयः सत्वाद सत्वाच्च" "अस्त्येव संशयः विशेषानपेक्षत्वात" एवं

"विशेषापेक्षा नास्त्येव, प्राड्.निराकृतत्वात्" नामक तीन सूत्र आये है। इन तीनों सूत्रों में मुख्य रूप से संशय का अभाव अथवा संशय का अनुच्छेद बताते हुए खण्डन किया गया है। न्यायसूत्र[19] के संशय परीक्षा प्रकरण में वैद्ल्यसूत्र के पूर्वपक्ष को

(1) समानानेकधर्माध्यवसापादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः
(2) विप्रतिपत्यव्यवस्थाध्यावसायाच्च,
(3) विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपतैः
(4) अव्यवस्थात्मान व्यर्वास्थतत्वावाच्चाव्यवस्थायाः एवं
(5) तयाऽत्यन्त संशयस्तद्वर्मसातत्यौपपत्तैः नामक पाँत सूत्रों में रखा गया प्रतीत होता है। तदन्तर इसी प्रकरण के दो सूत्रों में संशयाभाव एवं संशय नैरन्तर्य का खण्डन करते हुए संशय की सम्भावना को सुनिश्चित की गई है। अन्त में यह भी कहा गया है कि जहाँ-जहाँ शास्त्र या कथा में, संशयपूर्वक परीक्षा का अवसर आये वहाँ-वहाँ इस तरह उत्तरोत्तर संशय होने पर प्रतिवादी के खण्डों का उत्तर देना चाहिए।[20] इसी तरह न्यायसूत्र-द्तितीय अध्याय के अन्य प्रकरणों में भी वैदल्यसूत्र के पूर्वपक्षों का कई सूत्रों में अनुवाद और उसका प्रत्युत्तर देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए वैदल्यसूत्र के "न सिध्यन्ति कालत्रयेअपि प्रमाण-प्रमेयादीनि (11) का अनुवाद एवं प्रत्युत्तर "प्रत्यक्षादीनां प्रमाण्यं त्रैकाल्यासिद्धैः" आदि 2/1/8 से 2/1/15



तक ने न्यायसूत्रों में किया गया है। पुनः वैदल्यसूत्र के "न अनवस्थाप्रसंगात् प्रदीपवत् प्रमाणं स्वं च परं च प्रसाधयति, प्रमाणे न प्रमाणम् (4-5) का अनुवाद एवं प्रत्याख्यान "प्रमाणतः सिद्धैः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसड्गः" आदि 2/1/17 से 2/1/20 तक के न्यायसूत्रों में किया गया है। न्यायसूत्र के द्वितीय अध्याय से परीक्षा प्रकरणों में वैदल्यसूत्र के पूर्वपक्षों का अनुवाद एवं उसके परिहार को देखकर ऐसा नही समझा जाना चाहिए कि न्यायसूत्रकार ने पूर्वपक्षों का तार्किक रूप से अध्याहार किया है और यह संयोग की बात है कि तार्किक रूप से अध्याहारित पूर्वपक्षों का ऐतिहासिक सन्दर्भ वैदल्यसूत्र में उपलब्ध हो जाता है।

फर्नेन्डो टोला[2] ने भी एक सूची प्रस्तुत कर यह दिखाने का प्रयास किया है कि वैदल्यसूत्र के किन खण्डनात्मक प्रवृत्तियों एवं युक्तियों की आलोचना आवश्यक रूप से न्यायसूत्र में की गई है। वह इस प्रकार है-

| न्यायसूत्र | वैदल्यसूत्र |
|---|---|
| 2.1.16-19 | 2-6 |
| 5.1.7-8 | 7-8 |
| 2.1.8-11 एवं 5.1.18 | 12 |
| 2.1.44 | 23-31 |
| 4.2.8 | 33 |
| 2.1.53 (9) | 52 |
| 2.1.56 | 54 |

इस प्रकार प्रथमतः वैदल्यसूत्र में न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय-द्तितीय आहिणक तक के सूत्रों का यथाक्रम से खण्डन और पुनः न्यायसूत्र के द्वितीय अध्याय एवं उससे आगे के सूत्रों में वैदल्यसूत्र की खण्डनात्मक प्रवृत्तियों एवं युक्तियों का अनुवाद एवं प्रत्याख्यान देखकर कोई भी यह सोचने के लिए विवश हो सकता है कि वैदल्यसूत्रकार नागार्जुन के समक्ष न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय पर्यन्त लक्षण निर्देशक सूत्र ही विद्यमान थे। द्वितीय अध्याय एवं उससे आगे के सूत्रों की रचना वैदल्यसूत्र के अस्तित्व में आने के बाद हुई है। फर्नेन्डों टोली[22] ने भी वैदल्यसूत्र के रचनाकाल को न्यायसूत्र-प्रथम अध्याय के बाद और न्यायसूत्र द्वितीय अध्याय से पंचम अध्याय के पहले निर्धारित किया है। इससे उस परम्परागत मान्यता को आघात पहुँचता है कि समस्त न्यायसूत्र एक ही समय में अविच्छिन्न रूप से और एक ही व्यक्ति के द्वारा रचे गये है। वस्तुतः न्यायसूत्र में द्तितीय अध्याय से प्रारम्भ होने वाले सभी परीक्षा प्रकरणों के सूत्र उपवृंहण एवं न्यायशास्त्र के पुनरोद्वारक कहे जा सकते है, क्योंकि वैदल्यसूत्र का खण्डन अपनी प्रकृति में विध्वसात्मक था। सैम्पा दोर्जे[23] भी वैदल्यसूत्रम्-संस्कृति पुनर्रचना की भूमिका में इसी निष्कर्ष को प्रस्तावित करते है। स्वयं न्याय सम्प्रदाय के अन्तर्गत जिन सूत्रों को



लेकर विवाद है, वे भी अधिकांशतः द्वितीय अध्याय और उसके बाद के ही सूत्र है। यह बात भी उपर्युक्त निर्धारण को सह प्रदान करता है।

(6)

अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि न्यायसूत्र-द्वितीय अध्याय एवं उससे आगे के सूत्रों का पुनर्निर्माण कैसे और किसके द्वारा सम्पन्न हुआ माना जा सकता है? उपर्युक्त विश्लेषण के आलोक में उत्तर रूप से कई विकल्प खड़े किया जा सकते है। इसमें पहला विकल्प यह हो सकता है कि पहले दौर में अक्षपाद गौतम ने प्रथम अध्यायान्त तक के सूत्रों को रचा और बाद में वैदल्यसूत्रकार के कर्कश तर्कों से उनके विध्वंसात्मक खण्डन को देखकर अपने तंत्र की पुनर्प्रतिष्ठा हेतु उन्होंने ही द्तितीय अध्याय एवं उससे आगे के सूत्रों का पुनर्निर्माण किया। इस प्रावकल्पना को प्रथम दृष्टया सही होने के लिए अक्षपात गौतम एवं नागार्जुन को ज्येष्ठ-कनिष्ठ के रूप में समकालिक मानना पडेगा। कातिपय अर्वाचीन विद्वान् 150 ई0 में दोनों का होना स्वीकार भी करते है, लेकिन उनके निर्धारण को अन्तिम रूप से स्वीकार नही किया जा सकता है। स्वतन्त्र रूप से अक्षपाद गौतम के समय को निश्चित करना एक कठिन कार्य है। दूसरी ओर यदि हम नागार्जुन के समय को निश्चित करना एक कठिन कार्य है। दूसरी ओर यदि हम नागार्जुन के

समय प्रथम-द्तितीय शताब्दि निश्चित भी कर लें और उसी के आसपास अक्षपाद गौतम को स्वीकार करें, जैसा कि अधिकांश विद्वानों ने किया है, तब भी यह उचित नही होगी। महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीशा ने उपनिषदों, ब्रहमसूत्र एवं पाणिनि के सूत्रों में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर न्यायसूत्रों की अतिप्राचीनता को सिद्ध किया है। इसे ही पारम्परिक दृष्टि से संगत एवं प्रामाणिक निर्धारण कहा जा सकता है। ये न्यायसूत्रों के रचना काल को बुद्ध से पहले मानते है।[24] अतएव यह सम्भव प्रतीत नही होता है कि अक्षपाद गौतम ने ही एक लम्बे अन्तराल के साथ अपने न्यायसूत्रों को दो बार में रचा हो।

दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि प्रथम अध्याय तक के न्यायसूत्र परम्परागत रूप से प्रचलित रहे हों और वैदल्यसूत्रकार के द्वारा उनका ही खण्डन किये जाने के पश्चात् अक्षपाद गौतम ने परम्परा से प्राप्त सूत्रों एवं उससे आगे के सूत्रों को स्वयं ही रचकर उद्देश्य लक्षण, परीक्षा के क्रम में पूरी परम्परा को पनर्गठित एवं लिपिबद्ध किया हो। तब तो इसका सीधा-सीधा तात्पर्य यह होगा कि द्वितीय अध्याय एवं उससे आगे के सूत्र ही गौतम प्रणीत है और प्रथम अध्यायान्त तक के सूत्र उन्हें परम्पपरैया प्राप्त हुए थे। इसे स्वीकार करने में पहली बाधा यह है कि वैदल्यसूत्रकार नागार्जुन को



गौतम से पहले मानना पड़ेगा, जो ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नही। दूसरी बाधा यह है कि उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा के क्रम में न्यायसूत्रों के सम्पादन का संकेत स्वयं सूत्रकार ने नही किया है। तीसरी बाधा यह है कि परम्परागत रूप से यह माना जाता है कि महर्षि गौतम के समक्ष न्यायसूत्रों ने अपना आत्मप्रकाशन किया है। गौतम न्यायसूत्रों के स्त्रष्टा नही, अपितु वक्ता है। वात्स्यायन जब अपने न्यायभाष्य के अन्त में यह कहते है कि "योऽक्षपादमृर्षि न्यायः प्रत्यपाद् वदतीं वरम्" तो इसका यही तात्पर्य है। ऐसी स्थिति में गौतम को अलौकिक शक्ति द्वारा न्यायशास्त्र जिस रूप में ज्ञानगोचर हुआ, उस ज्ञानगोचर न्यायशास्त्र के सूत्र प्रथम अध्यायान्त तक के सूत्र ही माने जा सकते है। किसी भी विचार तंत्र का मूल और प्रारम्भिक रूप ऐसा ही होना चाहिए। उद्देश्य, लक्षण एवं परीक्षा को सुनियोजित बौद्धिक योजना में न्यायसूत्रों का ज्ञानगोचर होना कुछ अजीब-सा लगता है। अतएव यही मानना उचित प्रतीत होता है कि प्रथम अध्याय तक के न्यायसूत्र ही गौतम प्रणीत है। यही न्यायशास्त्र का मूल एवं प्रारम्भिक स्वरूप है। इन्हीं सूत्रों का खण्डन वेदल्यसूत्र में हुआ है। उससे आगे के सूत्र उपवृहण मात्र है, जिनकी रचना कालान्तर में किसी महान् मेधावी, परम्पराविद् के द्वारा आत्मगोपन पूर्वक हुई है।

एतद्विषयक तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि गौतम के ज्ञान-गोचरित न्यायसूत्रों पर भाष्य करते हुए आवश्यकतानुसार वात्स्यायन ने पूरी परम्परा को न्यायसूत्रों की वर्तमान व्यवस्था एवं सरणी में पुनर्गठिक कर दिया हो। यद्यपि भाष्य के निर्धारित मानदण्डों के अनुसार ऐसा करना भाष्यकार के अधिकार क्षेत्र एवं मर्यादा का उल्लंघन है, तथापि परम्परा की प्रतिष्ठा और पुनरोद्वार के लिए ऐसा किया गया प्रतीत होता है। इसीलिए वात्स्यायन ने भाष्यकार के रूप में ही अपना आत्मप्रकाशन और सूत्रों के पुनर्रचनाकार के रूप में अपना आत्मगोपन किया है। मेरी दृष्टि में इसी विकल्प से सही होने की सर्वाधिक सम्भावना है। इसकी पुष्टि के लिए इस प्रकार कुछ की बाते कही जा सकती हैः

प्रथमतः वैदल्यसूत्र में न्यायशास्त्रसम्मत्त् षोडश पदार्थों का जैसा खण्डन किया गया है, वह न्याययशास्त्र के समक्ष एक घोर संकट की स्थिति उत्पन्न करता है। वास्तव मे यह ऐसा खण्डन है जो तत्कालीन न्यायशास्त्रीय पद्धति से विचार कर्न से सारे मार्ग को ही अवरूद्ध कर देता है। इस संकट से उबरने के लिए न्यायसूत्रों का अपेक्षित विस्तार एवं पुनर्गठन आवश्यक था। केवल गौतम ज्ञानगोचर लक्षण निर्देशक सूत्रों पर भाष्य लिखना पर्याप्त नही हो सकता, क्योंकि भाष्यकार की सीमा और मर्यादायें



सुनिश्चित है।[23] उस सारे निर्देशों को सूत्रों से ही प्राप्त करना होता है। यदि प्रतिपक्षी के द्वारा सूत्रों में कुछ दोष बताये गये हों तो भाष्यकार एक सीमा तक अपनी भाषा में सूत्रों का अर्थ स्पष्टीकरण करते हुए उनका परिहार तो कर सकता है, लेकिन यदि सूत्रों का मूलोच्छेक खण्डन प्रतिपक्षी के द्वारा किया गया हो तो भाष्यकार को सूत्रों का अर्थ करने के लिए सूत्रों का अतिक्रमण करना पडेगा। पुनः भारतीय परम्परा में सूत्रों का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। सूत्रकार को ऋषि और कहीं-कहीं भगवान् कहा जाता है। सूत्र तो वास्तव में लोकावतरित शास्त्र के योनि है। यही कारण है कि भाष्य, वार्तिक एवं टीकायें सूत्रों से ही निर्देशित एवं उसी पर अवलम्बित होते है। अतएव वैदल्यसूत्रकार के विध्वंसक खण्डन की गम्भीरता को समझते हुए, न्याय-परम्परा के पुनरोद्धार हेतु सूत्रों को विस्तार एवं पुनर्गठन अत्यन्त आवश्यक था। इसलिए सम्भव है कि वात्स्यायन ने इस आवश्यकता को समझ कर प्रथम अध्याय से आगे के सूत्रों का पुनर्गठित किया हो। यही मार्ग सबसे सुरक्षित एवं वात्स्यायन ही इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति हो सकते थे।

द्तितीयतः न्यायसत्रों के विस्तार और पुनर्गठन का कार्य स्वयं अक्षपात गौतम द्वारा सम्पादित नही हो सकता है, क्योंकि महामहोपाध्याय

फणिभूषण तर्कवागीश जैस मूर्धन्य नैयायिक न्यायसूत्रों के रचना काल को बुद्ध से पहले ले जाते है। पुनः जैसा कि हम पहले कह चुके हे कि उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा के क्रम में न्यायसूत्रों की सम्पादन योजना का संकेत स्वयं सूत्रकार ने नही किया है। यह बात भाष्यकार वात्स्यायन के द्वारा कही गई है। सम्भव है कि यह वात्स्यायन द्वारा न्यायसूत्रों के विस्तार और पुनर्गठन की अवधारणात्मक योजना का अंग हो।

तृतीयतः स्वयं न्यायपरम्परी के अन्दर ही सूत्रों के पाठ प्रकरण एवं संख्या सम्बन्धी जो विवाद है, उसमें से अधिकांशतः विवादित सूत्र स्थल प्रथम अध्याय के बाद के ही है। यह तथ्य भी हमारे सन्देह को किंचित पुष्ट करता है।

चतुर्थतः प्रसिद्ध नैयायिक जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना की है। इन्होने समस्त न्यायसूत्रों की व्याख्या नही की है। "अस्माभिस्तु लक्षनसूत्राण्येव व्याख्यास्यन्तें" कह कर अपनी व्याख्या को लक्षण निर्देशक सूत्रों तक ही सीमित रखा है। जयन्त भट्ट जैसे विद्वान के द्वारा शेष सूत्रों को अपनी व्याख्या में सम्मिलित न करना भी इस सन्देह को पुष्ट करता है कि मूल न्याय सूत्र लक्षण निर्देशक सूत्र ही है, जबकि समस्त सूत्र भाष्य सहित उनके समक्ष विद्यमान थे। बाद में उन्होने



"न्यायकलिका" लिखकर न्यायसूत्रों की लघुवृत्ति उपस्थित की है। न्यायपलिका का प्राप्य अंश काशी सरस्वती भवन से प्रकाशित है।

पञ्चतः भाष्यकर की भाषा, रचना शैली, सूत्रों को अत्यन्त व्यवस्थित रूप से भाष्य में सन्निविष्ट करना एवं पूर्वाऽपर शास्त्रों के सन्दर्भ एवं वाक्यांशों के सम्बन्ध की व्यवस्था को देखकर भी ऐसा सन्देह होता है कि कहीं शेष सूत्रों की रचना स्वयं भाष्यकार ने तो नही की है? भाष्टकार की भाषा, शैली आदि विशेषताओं के कारण ही वार्तिकाकार उद्योतकर एवं तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र जैसे परम्पराविदों को भी कहीं-कहीं सूत्र और भाष्य के भेद को पढ़ने में मतभेद हो जाता है। विस्तार-भय से हम यहाँ उन विवादित आकार स्थलों का निर्देश नही कर रहे है।

इस प्रसंग में हमें एक अवान्तर विकल्प पर भी विचार करना चाहिए कि वैदल्यसूत्र और न्यायसूत्र के अन्तः सम्बन्ध पर विचार करने से जो सम्भावित निष्पत्तियाँ सामने आ रही है, उसी प्रकार यदि वैदल्यसूत्र एवं न्यायभाष्य के अन्तः सम्बन्ध पर विचार किया जाय तो इससे पहले की निष्पत्तियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? फर्नेन्डो टोला[26] ने किसी अन्य सन्दर्भ में वैदल्यसूत्र और न्यायभाष्य के परस्पर अन्तःसम्बन्ध को अन्तरिम रूप से इस प्रकार दर्शाया है।

1. ऐसा प्रतीत होता है कि वैदल्यसूत्र न्यायभाष्य को भी अपने ध्यान में रखता है।

| वै.सू. | न्या.भा. |
|---|---|
| 5 | अनुबन्ध चतुष्टय |
| 22 | 1.1.23 |
| 23 | अनुबन्ध चतुष्टय |
| 50 | 1.1.40 |
| 51 से 61 | 1.2.5 |
| 59 | 1.2.18 |

2. वात्स्यायन अपने न्यायभाष्य में वैदल्यसूत्र की कुछ प्रवृत्तियाँ एवं युक्तियों का खण्डन करते है।

| न्या. भा. | वै.सू. |
|---|---|
| 2.1.16-20 | 2 से 6 |
| 5.1.7-8 | 2 से 6 |
| 5.1.7-8 | 7 से 8 |
| 2.1.8-18 एवं 5.1.18 | 12 |
| 2.1.44-45 | 28 से 31 |
| 4.2.8 | 33 |

यद्यपि फर्नेन्डो टोल उपर्युक्त अन्तःसम्बन्ध के प्रति स्वयं ही निश्चित नही है, तथापि हम अपने मूलभूत प्रश्न की दृष्टि से इस पर विचार कर सकते है। सर्वप्रथम यहां विचारणीय है कि इस दर्शाये गये अन्तःसम्बन्ध के रूप में देखा जाय? अथवा वैदल्यसूत्र एवं न्यायसूत्रभाष्य को वैदल्यसूत्र एवं मात्र वात्स्यायन भास्य के अन्तसम्बन्ध के अन्तःसम्बन्ध के रूप में लिया



जाय। यदि पहले रूप में लिया जाय तो प्रथमदृष्टया पहली सूची के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वात्स्यायन भाष्य भी वैदल्यसूत्र का पूर्ववर्ती है और दूसरी सूची के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदल्यसूत्र ही वात्स्यायन भाष्य का पूर्ववर्ती है यह एक असंगत कल्पना है, क्योकि भाष्य को सूत्र से अलग करके वैदल्यसूत्र से उसका अन्तः सम्बन्ध निर्धारित करना उचित नही, जबकि न्यायसूत्र एवं वैदल्यसूत्र के अन्तःसम्बन्ध के साक्ष्य पहले ही उपलब्ध है। यदि दूसरे रूप में देखा जाय तो उपर्युक्त पहली सूची के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम अध्याय तक का न्यायसूत्र भाष्य वैदल्यसूत्र का पूर्ववर्ती है और दूसरी सूची के आधार पर कहा जा सकता है कि द्तितीय अध्याय से पाँचवे अध्याय तक का न्यायसूत्र भाष्य वैदल्यसूत्र का परवर्ती है। यह कल्पना तभी संगत हो सकती है, जब हम यह स्वीकार करें कि न्यायसूत्र-प्रथम अध्याय वैदल्यसूत्र का पूर्ववर्ती है और न्यायसूत्र-द्वितीय अध्याय से पंचम अध्याय पर्यन्त वैदल्यसूत्र का परवर्ती है, क्योंकि न्यायसूत्र और उस पर वात्स्यायन भाष्य युगपद् रूप से नही लिखे गये है। यह निष्पति हमारी मूलभूत संकल्पना का विरोधी नही है। इस बात को ध्यान में नही रखने के कारण ही फर्नेण्डो टोला या किसी अन्य को भी यह भ्रम हो सकता है कि वैदल्यसूत्र में प्रथम अध्याय तक के न्यायभास्य के कुछ सन्दर्भ को ध्यान में रखा गया है और द्वितीय अध्याय से पंचम अध्याय पर्यान्त न्याय भाष्य में वैदल्यसूत्र की कुछ प्रवृत्तियों का खण्डन किया गया है। इससे वैदल्यसूत्र के प्रति वात्स्यायन की सुनियुजित जागृति का भी आभास मिलता है।

(7)

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न्यायसूत्रों की उपलब्ध व्यवस्था एवं सरणी को एक ही व्यक्ति की अविच्छिन्न और एकीकृत रचना मानने पर सन्देह किया जा सकता है। न्यायपरम्परा एवं बौद्ध परम्परा में प्राप्त साक्ष्यों के आन्तरसम्बन्ध एवं तथ्यों की एक विशेष दृष्टि से जाँच-पड़ताल के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रथम अध्याय के द्वितीय आहिणक तक के न्यायसूत्र ही गौतम ज्ञानगोचरित मूल न्यायसूत्र है। वैदल्यसूत्रकार के समक्ष न्यायशास्त्र इसी रूप में विद्यमान था, जिनका कि मूलोच्छेक खण्डन वैदल्यसूत्र से हुआ है। शेष न्यायसूत्रों की पुनर्रचना वैदल्य-सूत्रकार कृत खण्डन केआलोक में किसी महान, मेधावी परम्पराविद् व्यक्ति के द्वारा परम्परा के पुनरोद्धार निमित्त की गई है। ऐसे महान योगदान के बावजूद उस व्यक्ति ने अपना आत्मप्रकाशन नही किया, बल्कि परम्परा को आत्मगोपन रूप आहुति ही है। इस बात की प्रबल सम्भावना है कि शेष न्यायसूत्रों क विस्तार और पुनर्गठन का कार्य वातस्यायन (न्यायभाष्यकार) के द्वारा सम्पन्न हुआ है। इस सम्भावना से जाने अनजाने भाष्यकार वात्स्यायन के प्रति श्रद्धा में वृद्धि होती है। कुछ ऐतिहासिकों का तो यह भी मानना है कि वात्स्यायन ने ही "कोटिल्य



अर्थशास्त्रम्" एव "कामसूत्र" की रचना की है और वहाँ भी उन्होने न्यायभाष्यकार के रूप में अपना आत्मगोपन किया है। यह बात कितनी सही और कितनी गलत है, इस पर हम कोई टिप्पणी करने की स्थिति में अपने को नही पाते है। हम स्वयं भी अपने निर्धारणों के प्रति अन्तिम रूप से आश्वस्त नही है। इस विषय में और अधिक विचार करने कि आवश्यकता है। यह प्रश्न बहुत पहले से ही विचारवानों के मनोमस्तिष्क में व्यक्त-अव्यक्त रूप से उठता रहा है। हमने केवल आधे मन से उठायी जान वाली समस्या को स्पष्ट रूप से उठाते हुए उस पर पुनर्विचार करने का प्रयास किया है। इसमें दो राय नहीं कि वैदल्यसूत्र का अपनी पूर्ण जनकारियों के साथ उपलब्ध होना इस पुरानी समस्या को एक या आयाम देता है। तब भी हमारा सम्पूर्ण प्रयास "जलतृण न्याय" जैसा ही है। यद्यपि वैदल्यसूत्र के सन्दर्भ बिलकुल सुस्पष्ट है फिर भी एक ग्रन्थ को सन्दर्भ बनाकर किसी दूसरी परम्परा के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ढाँचे को चुनौति देना बहुत सशक्त प्रयास से अभिहित नही हो सकता। इससे केवल आधुनिक न्यायविदों का ध्यान वैदल्यसूत्र की ओर इस रूप में आकृष्ट किया जा सकता है कि इस ग्रन्थ को सन्दर्भ बनाकर न्यायशास्त्र की पारंपरिक संरचना पर इस प्रकार के महत्वपूर्ण प्रश्न उत्थापित किये जा सकते है। यदि हमारे निर्धारणों को सही भी मान लिया

जाय तो उन्हें न्यायपरम्परा के लिए किसी भी तरीके से अपमानजनक नही समझा जाना चाहिए। इससे न्यायशास्त्र के अवधारणात्मक ढाँचे पर कोई दुष्प्रभाव नही पड़ता, बल्कि उसके अथाह सामथ्र्य का पता चलता है कि यह कितना खुला तंत्र (ओपेन सिस्टम) है। यह किसी भी विध्वंसक प्रहार के समक्ष अपने को अक्षय बनाये रख सकता है। न्यायशास्त्र में विध्वसंक एवं संशोधनात्मक प्रतिवादों से आगे अपने को विस्तृत एवं सुगंगत रूप से स्थापित कर लेने की उत्तरोत्तर क्षमता है और तब भी हर एक विकासात्मक स्थिति में सम्पूर्ण विस्तार अपने मूल सूत्रों से अद्यतन अनुप्राणित ही रहता है। तथास्तु।

*// यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तर प्रसङ्गः //* न्याय. सू.-2.1.7 ।।



## सन्दर्भ


1. प्रो.टी.आर.वी. मूर्ति, दी सेन्ट्रल फिला0आँफ0 बुद्धि. पृ.14 जार्ज एलन एण्ड उनवीन, 1960
2. फर्नेण्डो टोला एवं कार्मेन ड्रेगोनेट्टी, वैदल्यप्रकरण, भूमिकी, पृ. 7 मोतीलाल बनारसीदास, 1995
3. वही, माध्यमिक दर्शन के अध्येताओं को यह ग्रन्थ कितना कम आकृष्ट किया है, इसके लिए द्रष्टव्य पृ.16
4. सेम्पा दोर्जे में 72 सूज्ञ है, जबकि टोला संस्करण में 703 सूत्र हैं। सेम्पादोर्जे की संस्कृत पुनर्चना में दूसरा सूत्र है "प्रमाणप्रमेयानि स्वतोऽसिद्धानि, मिथोऽभिसम्प्लुत्वात्" जबकि टोला के संस्करण में इसी सूत्र के उत्तरार्द्ध को दूसरा एवं पूर्वार्द्ध को तीसरा सूत्र बनाया गयाहै।
5. नागार्जुन, वैदल्यसूत्रम्-1(दोर्जे संस्करण) -तर्क ज्ञानाभिमानेन वादं यः कर्तुमिच्छति। तस्याहंकारहानाय वच्चि वैदल्यसूत्रकम।।
6. सेम्पा दोर्जे वैदल्यसूत्रम्-संस्कृत पुनर्रचना-सूत्र-46,तिब्बति हिन्दी केन्द्र, वाराणसी, 1974- "नास्त्यात्मा असिद्धत्वात"

7. ग्रन्थ की यह योजना एवं सूत्रों का क्रम फर्नेण्डो टोला द्वारा सम्पादित वैदल्यप्रकरण के अनुसार है।
8. द्रष्टव्य एस.सी विद्याभूषण, हिस्ट्री आँफ इण्डियन लॉजिक, पृ.16,26,47,113,
9. महामहोपाध्याय हर प्रसीद शास्त्री, "बड्गलार बौद्धसमाज", साहित्य परिषद् पत्रिका, अंक-1,1336 बड्गाब्द।
10. हिस्ट्री आँफ इण्डियन लॉजिक पृ. 16,26,47,एवं 113
11. द्रष्टव्य- महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश, न्यायदर्शनम् (बंगला) की प्रस्तावना एवं न्यायपरिचयम-भूमिका पृ. 36 से 44 बंगला से हिन्दी रूपान्तर-डाँ. के. एन. झा., चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी 1968
12. द्रष्टव्य डाँ. किशोरनाथ झा, प्राचीन न्याय परम्परा- (2) न्याय-सूत्राणां पाठ विमर्शः (3) न्यायसूत्रवृत्तीना परिचयः संस्कृत प्रगत अध्ययन केन्द्र,पुणे विद्यापीठ, पुणे-1999
13. फर्नेण्डो टोला-वैदल्यप्रकरण पृ. 9 मोतीलाल बनारसीदास,1995
14. वात्स्यायन न्यायभाष्य प्रकरण-2 त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देश्यः लक्षणम् परीक्षा चेति।



15. न्यायभाष्य-द्वितीय अध्याय-प्रथम आहिणक की प्रारम्भिक पक्ति या च "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्ऽर्थावधारणं नर्णियः इत्यग्रे विमर्श एवं परीक्ष्यते।
16. उद्योतकर-न्यायवार्तिक पृ.16
17. न्यायसूत्र 1.1.23
18. वैदल्यसूत्र-दोर्जे संस्करण, सूत्र 20 से 23
19. न्यायसूत्र-2.1.4
20. वही 2.1.7
21. फर्नेण्डु टोला-वैदल्यप्रकरण,पृ.10, मोतिलाला बनारसीदास, 1995
22. वही, पृ. 10
23. सेम्पा दोर्जे-वैदल्यप्रकरण, पृ. 22
24. डाँ.किशोर नाथ झा-न्यायपरिचय : हिन्दी रूपान्तर पृ. 44
25. भाष्य ग्रन्थ के लक्षणानुसार उसकी सीमा और मर्यादायें इस रूप में निश्चित की गयी है-

सूत्रार्थो वण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वणर्यन्ते भाष्यं भाषर्यावदो बिदुः ।।
- विष्णुधर्मोत्तरपुराण

26. वैदल्यप्रकरण-पृ. 10 से 11, मोतीलाल बनारसीदास,1995

आभार हम प्रो. दयाकृष्ण जी के प्रति आभारी है कि उन्होंने लगभग एक वर्ष पूर्व हमें इस समस्या पर विचार करने के लिए न केवल प्रेरित किया, बल्कि लगातार पत्रों के माध्यम से हमें निर्देशित भी करते रहे। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए उन्होंने जे.आई.सी.पी.आर.रिसर्च नेटवर्क के माध्यम से भी आह्वान् किया था।

उपाचार्य, दर्शन-विभाग
डॉ. हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय
सागर-470003 (म.प्र.)



# महात्मा गांधी और पर्यावरण

-डा. जितेन्द्र कुमार शर्मा

सुविख्यात अमेरिकी अंतरिक्ष यात्री श्री वाल्टेयर एम. शिराका का यह कथन कि "चन्द्रमा मानव निवास के लिए उपयुक्त स्थान नही और न ही शुक्र और मंगल ग्रह ही है। हमारे लिए बेहतर यही होगा कि हम जो भी कर सकते है पृथ्वी को स्वच्छ बनाने के लिए करें क्योंकि यह वह जगत है जहाँ हमे रहना है।" सम्प्रति कितना समीचीन प्रतीत होता है।

पर्यावरण प्रदूषण साम्प्रविक विश्व की ज्वलंत समस्या है। समय के साथ-साथ जैस- औद्योगीकरण और नगरीय संस्कृति का दैत्य विकराल रूप धारण करती जा रहा है। वैसे-वैसे पर्यावरण सन्तुलन को बनाये रखने की समस्या उग्र वीभत्स रूप है धारण करती जा रही है। यद्यपि महात्मा गांधी के समय विश्व में आज जैसी पर्यावरण प्रदूषण की समस्या नही थी परन्तु इस तत्वद्रष्टा मनीषी का जीवन दर्शन पर्यावरण प्रदूषण जैसी ढेर सारी समस्याओं के समाधान का सहज मार्ग सुझाता है।

पर्यावरण प्रदूषण भोगवादी संस्कृति तथा विज्ञान तकवीकी पद्धति की परिणति है। पाश्चात्य औद्योगिक क्रान्ति ने उपभोक्ता सामग्री का युद्ध स्तर पर उत्पादन कर निःसन्देह मानव जीवन में भौतिक सुख-सुविधाओं में

अभिवृद्धि की है परन्तु तस्वीर के दूसरे पहलू की भाँति औद्योगीकरण ने पर्यावरण प्रदूषण को पैदा कर जीवन को नारकीय बना दिया है हवाई जहाज, जेट विमान, डिस्को संगीत, सायरन आदि ने जहाँ मानव जीवन को अपेक्षाकृत अधिक द्रुतगामी, सुविधासम्पन्न और मनोरंजक बना दिया है वहीं वह मानसिक तनाव, रक्तचाप में वृद्धि व बहरेपन का कारण भी सिद्ध हुआ है।

भोगवादी आर्थिक नीतियों का दुस्प्रभाव है 'पर्यावरण प्रदूषण'। महात्मा गाँधी जिस अर्थदर्शऩ की वकालत करते हैं उसमें आर्थिक, सामाजिक तथा पर्यावरणीय किसी भी प्रकार के प्रदूषण का कोई स्थान नही है। महात्मा गाँधी अतिशय यान्त्रिकता के विरोधी थे। एतद् सम्बन्धित अपने विचार स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा "सामान्य बुद्धि रखने वाले व्यक्ति की हैसियत से मै जानता हूँ कि मनुष्य उद्योग के बिना जिन्दा नही रह सकता है। इसलिए मै उद्योगीकरण के खिलाफ नही हो सकता लेकिन यन्त्रोद्योग के बारे में एक बड़ी चिंता है। यंत्र से उत्पादन बड़ी तेजी से होता है और उसके साथ इस प्रकार की अर्थव्यवस्था आ जाती है।

जिसकों मैं नही समझ सकता। मैं ऐसी चीज को स्वीकर नही कर सकता है जिसके बुरे परिणामों को मैं उससे होने वाले लाभ की अपेक्षा ज्यादा



पाता हूँ। मै चाहता हूँ हमारे देश के करोड़ों बेजुबान लोग स्वस्थ और सुखी रहे और आध्यात्मिक दृष्टि से उनका विकास हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभी तक हमें यन्त्रों की आवश्यकता नही है। हमारे यहाँ अभी भी बहुत हाथ, बहुत ज्यादा हाथ बेकार है लेकिन जब हमारा बौद्धिक विकास हो जायेगा और हमें यह महसूस होगा कि हमें यन्त्रों की आवश्यकता है तब हम अवश्य उनकों ग्रहण करेंगे।

औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना और उसके विकास से शहरीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में औद्योगिक विकास का केन्द्र शहर ही रहे और पूँजी का संकेन्द्रण भी शहरों में ही हुआ। शहरों में रोजगार के अवसरों एवं सुख-सुविधा के विभिन्न साधनों के उपलब्ध होने के कारण लोग गाँवों से शहरों की ओर पलायन करने लगे जिससे शहरों मे भीड़ बढती गयी और वहाँ अनेक प्रकार की समस्यायें-पर्यावरण प्रदूषण, मलिन बस्तियाँ, निर्धानता, बेकारी, अपराध आदि तेजी से बढ़ने लगे। हमें विकास के ऐस माँडल को अपनाना चाहिए था जिससे जनसंख्या का यह अधिसंख्य भाग अपनी रोजी-रोटी की समस्या के समाधानार्थ शहरों की तरफ पलायन न करता और फिर प्रदूषण चाहे वह बाह्य हो या आभ्यंतर जैसी आत्मघाती समस्या पैदा न होती। विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था के हिमायति के रूप में गाँधी

जी ग्रामीण जीवन के वरेण्य सिद्ध करत है- "मुझे इस बाद का पूर्ण विश्वास है कि अगर भारत को वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है और भारत के माध्यम से विश्व को भी आजाद करना है तो देर-सबेर उस तथ्य को मान्यता देनी ही होगी कि लोगों को शहरों में नही बल्कि गाँवों में निवास करना है राजमहलों में नही बल्कि झोपड़ियों में रहना है। अपने इस क्रान्तिकारी विचार को 1939 में उन्होंने निम्न शब्दों में अभिव्यक्ति दी- "शक्ति का केन्द्र दिल्ली, बम्बई या कलकत्ता जैसे शहरों में है मै इसकों 7 लाख गाँवों में बाँट दूँगा।"[2]

प्रकृति निरन्तर ईश्वरीय शक्ति के रूप में हमारा पोषण कर रही है। यदि प्रकृति को दैवी, अधिष्ठात्री या सहचरी मानकर हम अपना जीवनदर्शन विकसित करते है तो निश्चित रूप से प्राकृतिक सन्तुलन बना रहेगा परन्तु जैसे ही हम अपने को सम्प्रभु मान बैठते है मनुष्य प्रकृति के मध्य विरोध शुरू हो जाता है। परिणामस्वरूप हम प्राकृतिक विभीषिका झेलने के लिए विवश हो जाते है। महात्मा गांधी प्रकृति को जन्मभूमि को समान पूज्य मानते है और उसके संरक्षण-संवर्धन का आह्वान करते है। अपनी जन्म भूमि का और इस धरती माता का जो हमारा पोषण करती है, हम कोई हित कर रहे है या उस पर बोझ रूप है यह तो भविष्य की बतायेगा।[3]



जहाँ तक भोगवादी दर्शन और उसके अनुपालन का प्रश्न है, आखिर में भोग्य पदार्थों की एक सीमा होती है। उसके उपरान्त वे समाप्त हो जाते है, जबकि भोग की उद्दाम लालसा अहर्निश प्रबलतर होती जाती है। यदि मनुष्य अपने वर्तमान को ही सुखद बनाने में अपनी सारी सम्पदा का उपभोग कर डालेगा तो भविष्य के लिए क्या बचेगा? हमें विकास के ऐसे माँडल को अपनाना पडेगा जिसमें उपभोग के साथ-साथ संरक्षणों का सिद्धान्त भी सन्निहित हो। वस्तुतः पर्यावरण प्रदूषण अतिशय भोगवाद की दुःखद और अनिवार्य परिणति है। महात्मा गांधी अतिशय भोगवाद को गहर्य और त्याज्य मानते है जीवन का सच्चा सुख आवश्यकताओं को सीमित करने में ही है। उन्होंने चेतावनी देते हुए कहा है "ऐसा समय आ रहा है जब वे लोग जो आज पागलों की तरह अपनी जरूरतें बढ़ाने की तेज दौड़ में लगे हुए है और अहंकर से यह सोचते है कि ऐसा करके वे दुनिया की सच्ची सम्पत्ति को बढ़ाते है, दुनिया के सच्चे ज्ञान में वृद्धि करते है, अपने कदम पीछे लौटायेंगे और कहेंगे हमने क्या किया है?[4]

वस्तुतः गांधीजी को ऐसे आदर्श और सिद्धान्त स्वीकरा नही थे जिसमें भौतिकता, आध्यात्मिकता पर अपना प्रभुत्व जमा ले और मनुष्य आर्थिक परिस्थितियों से जूझता हुआ अनैतिक गठबंधन कर बैठे। पाश्चात्य अर्थदर्शन

की इस आत्मघाती सोच के विरूद्ध गांधीजी कहते है "इंसान की कमाई का मकसद केवल भौतिक सुख पाना नही है बल्कि अपना नैतिक या रूहाबी विकास करना है।[5]

पर्यावरण प्रदूषण अधकचरे और एकांगी जीवन दर्शन का परिणाम है। हमने अपने जीवन को भौतिक विकास तक ही सीमित कर दिया है। विकास की सूची से दिन-प्रतिदिन आत्मोन्नति जैसी चीज गायब होती गयी। अध्यात्म और नैतिकता के प्रखर आलोक में ही हमें भौतिक विकास के मार्ग को प्रशस्त करना पड़ेगा। तभी पर्यावरण प्रदूषण से मुक्ति पायी जा सकती है। इस सम्बन्ध में गांधी जी का कहना है "शरीर मन और आत्मा की विविध शक्तियों में ठीक-ठीक सहकार और सुमेल न होने के दुष्परिणाम स्पष्ट है, वे हमारे चारों ओर विद्यमान है- इतना ही है कि वर्तमान विकृत संस्कारों के कारण वे हमें दिखाई नही देते मनुष्य न तो कोरी बाद्धि है न स्थूल शरीर है और न केवल हृदय या आत्मा ही है। सम्पूर्ण मनुष्य के निर्माण के लिए तीनों के उचित एवं एकरूप मेंल की जरूरत होती है।[6]

विकास का गांधीवादी माडल प्रकृति से प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सामञ्जस्य स्थापित करने की प्रेरणा देता है। हमारे प्राचीन ऋषियों-मुनियों ने इसीलिए जोर देकर कहा था कि आत्मा विजय ही सबसे ऊँची विजय है। इसी



आर्ष सन्देश को गांधा जी ने पुनः जनता को दिया। आधुनिक प्रकृति विजयिनी सभ्यता की तड़क- भड़क से चौंधियाई हुई हमारी आँखे धर्म विजय की महत्ता को न देख पायी हों। और कल-कारखानों के शोर से बहरे हुए हमारे कान इस धर्मघोष को चाहे न सुन सके हों पर हमकों और सारी दुनिया को इसी आत्म विजय की ओर अपना ध्यान ले जाना है।

पर्यावरण की शुचिता का सम्बन्ध जीवनयापन की शैली से भी होता है। असंस्कृति जीवन शैली पर्यावरण प्रदूषण को सहज ही आमन्त्रण देती है। गांधी जी जीवन में स्वच्छता और सफाई को सर्वोत्तम स्थान देते थे। "जो आदमी जहाँ चाहे वहाँ और जिस तरह चाहे उस तरह थूककर, कूड़ा कर्कट डालकर, गंदगी फैलाकर या दूसरे तरीके से हवा को गंदा करता है। वह कुदरत और मनुष्य के प्रति अपराध है। मनुष्य का शरीर ईश्वर का मंदिर है उस मन्दिर में जाने वाली हवा को जो गंदी करता है वह मन्दिर को भी बिगाड़ता है।[7]

मानव-जीवन से सहज रूप से जुड़े पर्यावरण सम्बन्धी ये विचार भला कैसे भुलाये जा सकते है। पर्यावरण क सजीव घटक का सर्वोत्तम प्राणी जब पर्यावरण को बिगाड़ता है तो उसे नरक से कौन बचा सकता है। गांधी जी व्यक्तिगत जीवन में पर्यावरण की शुचिता पर बहुत ध्यान देते थे। उनका

मन्तव्य है "रास्ते में मलत्याग की कभी आदत नही होनी चाहिए। खुले में सबके देखते हुए मलत्याग करना या बच्चों को भी कराना असभ्यता है। हर एक आदमी को खुद पाखाना साफ करने की तालीम लेनी चाहिए।[8]

पेय जलप्रदूषण आज की विकट समस्या है। इधर जनता का ध्यानाकर्षण करते हुए गांधी जी कहते है "जलाशयों की वर्तमान स्थिति बहुत सोचनीय है। तलाबों में ही बरतन साफ जाते हैं लोग उसी से नहाते और कपड़े धोते है। ढोर भी वहीं पानी पीते है, नहाते है और पड़े रहते है। बालक और बड़े भी उसी में हाथ-पानी लेते है। तालाब के पास की जमीन पर लोग टट्टी तो फिरते ही हैं और फिर भी तालाब का वही पानी पीने तथा रसोई बनाने के काम में लिया जाता है। यह पाप माना जाना चाहिए और बन्द होना चाहिए। समय-समय पर कुओं के अन्दर का मल निकाल कर उन्हें साफ रखना चाहिए और उन्हें चारों ओर से पक्का बनवाना चाहिए और उनके आस-पास कीचड़ नही होने देना चाहिए।'

इस प्रकार हम देखते है कि अपरिग्रह और असंग्रह तथा वर्तमान उपभोग को घटाने के महात्मा गाँधी के उपदेश आज के पर्यावरणी विनाश से उत्पन्न होने वाली समस्याओं के खतरे से जीवन को बचाने का निश्चित तरीका सुझाते है। हमें अपने प्राकृतिक साधनों को नष्ट होने से रोकना चाहिए



और गांधी जी के बताये तरीके से इनका प्रयोग करना चाहिए। कहना नही होगा कि काश विकास के गांधीवादी माँडल को अपनाया गया होता, लेकिन पंडित नेहरू की अगुआई में स्वयं भारत में ही ऐसा न हो सका, यदि ऐसा होता तो आज विश्व सभ्यता को पर्यावरण प्रदूषण जैसी समस्या से उलझना न पड़ता क्योंकि विकास का गांधीवादी माडल मनुष्य का केवल भौतिक विकास ही नही करता बल्कि इस अवधारणा में विकास का पुरातन आर्ष आदर्श-श्रेय और प्रेय दोनों समाहित है और उपनिषदों की तरह प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अधिमान दिया गया है। आखिर सर्वोदय योजना है क्या? अखिल भारतीय सर्वधर्म सेवा संघ ने सर्वोदय योजना के बारे में लिखा है। "सर्वोदय योजाना का उद्देश्य एक सर्वोदयी समाजिक व्यवस्था की स्थापना है। वह ऐसा दर्शन नही है जो मनुष्य की सामाजिक प्रगति में भौतिक कल्याण की वस्तुओं की अति अधिकता को साधन मानना हो बल्कि सर्वोदय योजना तो सब प्रकार की प्रगति और हित में विश्वास करती है।

## सन्दर्भ सूची


1. म. गांधी, मेरा सपनो का भारत, नवजीवन टस्ट अहमदाबाद पृष्ठ 31
2. हरिजन 1939
3. वही, 9.5,36
4. यंग इंडिया 8.12, 27
5. कुमारप्पा जे.सी.गांधी अर्थ विचार पृष्ठ 94
6. हरिजन 8.5,37
7. हरिजन सेवक 7.4, 46
8. कि.घ. मशरूवाला गांधी विचार दोहन नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद पृष्ट 148 149
9. वही. पृष्ठ 50 15



दर्शनशास्त्र विभाग

म.शा.चि.ग्रा.वि.वि.

चित्रकूट, सतना (म.प्र.)


.....

गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मा बुधैः।

यद्पि स्यान्न फलदा सुलभा साडन्यजन्मनि।।

(सुभाषितावलिः)

अधिक उम्र हो जान पर भी नई-नई विद्या सीखते रहना चाहिए। यद्यपि इस उम्र में भी ग्रहण की गई विद्या का फल इसी जन्म में मिलने की संभावना कम हो सकती है किन्तु लाभ यह है कि अगले जन्म में यही विद्या सहज रूप में प्राप्त हो जायोगी।



# विरोधाभासों का स्वरूप : एक दार्शनिक चिंतन


डा0 अरविन्द विक्रम सिंह[17]


'विरोधाभास' यह दो पदों के संयोग से बना है। विरोध + आभास = विरोध का आभास। यदि बाह्य स्वरूप के आधार पर ऐसा लगे कि दो पदार्थ परस्पर विरूद्ध हैं किन्तु सूक्ष्म स्तर पर विचार करने पर इस प्रतियमान[18] विरोध का निराकरण हो जाय वहाँ विरोधाभास मानते हैं। (विरूद्धमेय आभासते वस्तुतः नास्ति विरोधः) यानि एक ही समय में दो विपरीत मत, चर्चा, युक्ति की जाये तो उनमें विरोधाभास तो होगा ही। ये दो या दो से अधिक कथन पर भी लागू हो सकते हैं। साधारण अर्थ में विरोधाभास एक ऐसा कथन हो जो सामान्तयः स्वीकृत मत के विरूद्ध जाता है। तर्कशास्त्र में इस शब्द का और भी ज्यादा संक्षिप्त अर्थ लिया गया है। एक तार्किक विरोधाभास दो विपरीत या दो विरोधी प्रतिज्ञप्तियों में निहित रहता है। जिन्हें हम सुदृढ़ युक्ति (एग्रीमेन्ट) के रूप में सामान्यतः लेते है।

---

[17] सहायक आचार्य, दर्शन शास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-302004।

[18] जैसे-श्वेताश्वर उपनिषद में कहा गया- अणोरणीयान महतः महीयान।
अणु से भी छोटा और महत से भी बड़ा एक साथ दोनों कैसे हो सकता। यदि ब्रहम और आत्मा के संदर्भ में देखे तो यह विरोधाभास नहीं होगा। छान्दोग्य उपनिषद में वर्णन मिलता है- 'अविद्यामृत्युंतीत्वा विद्या अतं अष्णुयात,
अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत की प्राप्ति करें। अब शंका - अव अविद्या से मृत्यु संतरण कैसे हो सकता है उत्तर मृत्यु भी अविद्या है और आत्मा की दृष्टि से शरीर भी अविद्या है।

इन युक्तियों को सुदृढ़ इसलिये कह सकते हैं, क्योंकि जब ये अन्य संन्दर्भों में प्रयोग की जाती है, तब इनमें कोई कठिनाई उत्पन्न होती नहीं दिखती। यह तब ही होता है, जब एक विशिष्ट संयोजन में, विरोधाभास रहता है, जब युक्तियों के द्वारा क्लिष्ट परेशानी देने वाला निर्णय के प्रति उन्मुख किया जाता है। अपने पूर्ण पराकष्ठा रूप में यह दो प्रतिज्ञप्तियों के तुल्यता रूप में 'इक्वीवैलेंस' रहता है, जहाँ एक दूसरे का नकार होता है। उदाहरण के रूप में यदि कोई प्रतिज्ञप्ति आ तो अ = अ यह अपने आप में साधारण रूप में प्रतिज्ञप्त्यात्मक कलन के नियमानुसार अ के प्रमाण की ओर ले जाती है जैसे अ यदि इसके विपरीत हमारे पास = अ हो तो इससे अ का प्रमाण प्रस्थापित होता है। हमें सकार अ और नकार अ दोनों एक साथ प्राप्त होते है। यह विरोधाभास की चर पराकष्ठा है जिसे कभी-कभी एन्टीनोंमी कहा जाता है। दर्शन का क्षेत्र इस तरह के विरोधाभासों से भरा पड़ा है। किन्तु ये चिन्तन की धारा को अवरूद्ध नही करते, बल्कि उसके प्रवाह को समृद्ध करते हैं। सर्वप्रथम भारतीय परम्परा, जो अत्यन्त प्राचीन है, वहाँ से पड़ताल शुरू की जाए। सबसे पहले ईशोवास्योपनिषद का निरीक्षण करणीय है। ईशोवास्योपनिषद एक वेदान्त ग्रन्थ है। संक्षिप्त रूप में इसमें वेदों का सार सम्मिलित है। इस सार का भी सार प्राम मन्त्र में आया है। वेदों का रहस्य



प्रकट करने वाले वेदान्त ग्रन्थ कहे गए हैं। आचार्य विनोबा, भावे इस ग्रन्थ के प्रति अभिभूत होकर कहते हैं- "यह एक छोटी उपनिषद् है।" कदाचित ही ऐसी और कोई अन्य छोटी रचना हो। इसमें इतना अर्थ समाहित है मानों गागर में सचमुच सागर उत्तर आया हो। गीता को भी छोटा ही ग्रन्थ माना गया है, किन्तु उसमें भी 18 अध्याय है। लेकिन ईशावास्योपनिषद अद्भूत है, इसमें तो मात्र 18 श्लोक ही है। इसमें प्रथम मन्त्र पर परीक्षण की दृष्टि डालें तो ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। अर्थ द्योतित होता है। ॐ वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निष्पन्न होता है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल ले तो भी पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्ति, शान्ति शान्ति। यह शान्ति मन्त्र ही अपने आप में विरोधाभासी लगता है। क्या यह सम्भव है कि पूर्ण में से पूर्ण निकाल लिया जाए, तब भी पूर्ण ही शेष रहे। हम कुछ ऐसे सोचते हैं, माना एक संख्या है- 4 इसमें से 4 घटा दे = 4 तो विरोध का आभास देता है। जब वह पूर्ण में से निकला पूर्ण तो कुछ नहीं बल्कि सम्पूर्ण है, फिर बचा हुआ भी पूर्ण, निकला हुआ भी पूर्ण। सब कुछ पूर्ण इसलिये शांति रखनी चाहिये। यह कथन तो व्यवहार में विरोधाभास को जन्म देता है। लेकिन जिस प्रकार का विरोधाभास यहाँ हम देख रहे हैं, वह ऐसा नहीं है। पूर्णस्य पूर्णमादया सरसरी

दृष्टि से देखने पर अजीब लगता है लेकिन गणितशास्त्र ने तो इसे पूर्णतः अंगीकार किया है। वहाँ पूर्ण शब्द की जगह, गणितशास्त्र अनन्त पद का प्रयोग करता है। यही अन्तर है। किन्तु वहाँ अनन्त श्रृँखला में से अनन्त को निकालने पर भी अनन्त ही शेष रहता है। यहाँ बात कुछ ऐसी है कि सच्चिदानन्द ॐ पूर्ण है। विश्व पूर्ण है। उत्पत्ति से, पूर्ण से निकला पूर्ण, बढ़ता नहीं प्रलय हो तो यह घटता नहीं। इस प्रकार यह पूर्ण की क्रीड़ा है। इतना देखने पर तो अशांति का कोई कारण शेष नहीं रहता। पूर्णत् पूर्ण उद्च्यते यह विकास का सूत्र है, यहाँ विकास के लिए पूर्ण अवसर प्रदान् किया गया है। विकास में कुछ नया निर्मित नही होता है। अपितु भीतर छिपा हुआ ही बाहर निकालना होता है। जैसे मिट्टी से घड़ा बनाने वाला कुम्हार सोचता है, उसने कुछ नया किया है। किन्तु घड़ा तो उपादान स्वरूप मिट्टी में पूर्ण-विद्यमान था, उसे व्यक्त करने का निर्मित्त मात्र ही तो कुम्हार बना है।

ईशोवास्योपनिषद के मन्त्र 4-5 - अनेजदेकं मनसो जवीयों नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति। वह आत्मतत्व एक ही एक बिल्कुल चलन लचन न करने वाला किन्तु मन से भी ज्यादा वेगवान है देव उसे पकड़ नही सकते। दौड़ने वाले, दूसरों को वह खड़ा रह के पीछे डालता है। उसने देवों को, कभी से पकड़ रखा है। प्रकृति



माता की गोद में, खेलने वाला प्राण उसी की सत्ता पर हलचल करता है। फिर तदेजति तन्नैजति, तद दूरे तद्वन्तिके तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। अर्थात वह हलचल करता है और वह हलचल करता नहीं वह दूर है, वह पास है। वह इन सबके भीतर है और वह इन सब के बाहर है। इन 4 - 4 के सार है- वह ईश्वर अलौकिक शक्ति वाला है। वह तर्क से परे असीम है। वास्तव में वह अचल है, अवतार लेने पर वह महान कर्म करता दिखाई देता है, फिर भी कहीं कर्म लिप्त नहीं होता। यानि तब भी वह अकर्मा रहता है। किन्तु इससे उलट जब वह अवतार नहीं ग्रहण करता है, तब कुछ नहीं करता, दिखता वह समस्त जगत का शास्ता होता है। यानि अकर्मा होकर भी सकर्मा रहता है। वही इस संसार में है यानि पास है कण-कण में विद्यमान, किन्तु परमार्थ में वह सुदूर स्थित अपने प्रकाश से देदीप्यमान भी कर रहा है। इस तरह विरोधाभास होते हुए भी ये चिन्तन की दार्शनिक धारा को समृद्ध करते हैं। ये उसके व्यापक स्वरूप को हमारे समक्ष रखते है ईशोवस्योपनिषद के लिए, सत्य के स्वरूप को जो अत्यन्त गूढ़ है, सहज रूप से विरोधाभास एवं अन्य प्रकार से स्पष्ट किया जाने के कारण ही कहा गया है-

ईशा वास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।

सत् का स्वरूप इतना गूढ है कि अभिधा के माध्यम से व्यक्त नहीं हो पाता, अतः लक्षणा और व्यंजना के माध्यम से इसका बोध होता है। जहाँ लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग होता है, वहाँ अभिधा के जरिये से विरोधाभास ही नजर आता है। किन्तु गौण, मुख्यादि भेद से समझने पर ऐसी कोई कठिनाई नहीं होती है। ईशोवास्योपनिषद् के निगूढ़ विचारों को पुष्ट करते हुए सूफियों, रहस्यवादियों ने कई पद रचे है- कबीर ने तो कहा ही है- "जल बिच कुम्भ, कुम्भ बिच जल बाहर भीतर पानी फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, जे चीन्हें से ग्यानी।"

ईशोवास्योपनिषद् कहता है-

ईश का आवास यह सारा जगत जीवन यहाँ जो कुछ उसी से व्याप्त है अतएव करके त्याग उसके नाम से तु भोगता जी वह तुझे जो प्राप्त है, परवित्त की मन में न रख तु बासना।।

अब परख की कसौटी पर श्रीमद भागवत गीता को, कसा सा जाए तो ज्ञात होगा कि यहाँ भी विरोधाभासों की कमी नहीं है। अध्याय 10 में जहाँ



श्रीकृष्ण अपने स्वरूप के बारे में अर्जुन को बतलाते हैं कि- "अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशयस्थितः अहमादिक्ष्च मध्यंच भूतानामन्त एव च।।20।।

अर्थात् हे अर्जुन मै सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ और सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मै हूँ। आगे उन्होंने स्वयं को सबको नष्ट करने वाला मृत्यु, आगे होने वाली उत्पत्ति का कारण भी बताया है। चर और अचर भूत को भी वे स्वयुक्त कहते हैं। मैं ही सत भी हूँ, मै ही असत् भी हूँ। स्थिर भी हूँ, चलायमान भी है। भय-अभय, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु मेरी ही विभूति है। मै अनन्त हूँ। यह जगत मेरा अंश मात्र है। मै अजन्मा हूँ। अहिंसा परमोधर्मः। भी परिलक्षित होता है।

अब इनमें देखें तो इतने विरोधाभास हैं- जैसे वे कहते हैं मैं स्थिर भी हूँ, चलायमान भी। ऐसा एक साथ कैसे हो सकता है? उन्होंने अवतार ग्रहण करके भी स्वयं को अजन्मा कहा है। वे आदि भी हैं, अनन्त भी जो आदि है उसका तो अन्त भी होता है, फिर वह अनन्तता कैसी। वह सत् है तो असत् कैसे। लेकिन इन विरोधाभासों की निवृत्ति संभव है। ईश्वर जो अज, अनादि और अव्यय है, वह समस्त भूतों की आत्मा है, वही उन पर शासन भी करता है। वही स्वप्रकृति में स्थित होकर स्व शक्ति माया से स्वयं को धर्मों की स्थापन हेतु, अधर्म  मिटाने के वासते रचता है। इस तरह वह अजन्मा होतर

भी जन्म लेता हैं। इसी हेतु वह अकर्ता होकर भी कर्म करता है यानि मूलरूप में स्थित रख शासक होता है। अवतार लेकर कर्म लेने से ग्रस्त नहीं होने वाला वह सकर्मा होकर भी, अकर्मा रहता है। श्री कृष्ण कहते भी हैं- यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्। धमर्संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।

ईश्वर पुरूष के रूप में वह पुरषोत्तम है। वह मूलरूप में स्थिर है, किन्तु अवतार रूप में वह मन से भी अधिक बेगवान है। उसके अनेक रूप है। उसका रूप कभी पाशवी है, कभी मानुषी, उसका एक रूप विराट स्वरूप है, जो दिव्यचक्षु से ही दर्शनीय है। जगत ईश्वर का एक देश है, जो अनेक प्रकार से प्रविभक्त है। इस तरह जगत का मूल और पर्याप्त कारण होने से ईश्वर जगत में व्याप्त भी है और उसका आदि कारण होने से उससे पर भी है। इस तरह विरोधाभास एक मात्र सत्य पर आत्मा के विराट स्वरूप को समझाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

इसके बाद नागार्जुन के शून्यवाद में स्थित विरोधाभास की चर्चा भी अनिवार्य हो जाती है। माध्यमिक शून्यवाद जो बौद्ध दर्शन का एक निकाय है, उसकी स्थापना करने वाले आचार्य नागार्जुन, ईस की दूसरी सदी में जन्में। वे



योगी और सिद्ध भी थे। कुछ विद्वान इससे विपरीत विचार भी रखते हैं। किन्तु मोटे तौर पर मान सकते हैं कि नागार्जुन एक बहुमुखी प्रतिभा वाले थे।

कुल मिलाकर वे एक महान विचारक और दार्शनिक थे। अपने ग्रंथ 'विग्रह-व्यावर्तिनी' की 71वीं कारिका में, बुद्ध के अनात्म दर्शन को शून्यवाद का नाम दिया और उसकी महिमा का गुण गान इस तरह किया है-

प्रभवति च सून्यतेयं यस्य प्रभवन्वित तस्य सर्वथा।

प्रभवति न तस्य किंचित न अवति शून्यता यस्य।।

जो यह शून्यता समझ सकता है, वह समस्त अर्थों को समझ सकता है। जो शून्यता को नहीं समझता, वह कुछ भी नहीं समझ सकता। नागार्जुन ने अपने शून्यवाद के सिद्धान्त को, बुद्ध श्री के मौलिक प्रतिपादन 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का ही पर्याय माना। बुद्ध ने निर्विवाद रूप से अपवाद रहित प्रकार से संसार की समस्त वस्तुओं को अनित्य (क्षणिक) बताया। उत्तरवर्ती आचार्य भी कहते रहे- 'यत् सत्, तत् क्षणिकम्'। जो वास्तविक है, वह भी क्षणिक है। यानि जो क्षणिक नहीं वह सत् नहीं। इस तरह की परिस्थित में कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली कोई वस्तु नहीं हो सकती। कार्य और कारण के बारे में बुद्ध कहते हैं- अस्मिन सति इदं भवति।

ऐसा होने पर यह हुआ। यानि कारण के अतीत होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य-कारण दोनों एक ही क्षण में उपस्थित नहीं रहते। दोनों में स्थायित्व रखने वाला कुछ नहीं है। दोनों ही नित्य तत्व से शून्य है। बुद्ध के शून्यतापरक प्रतीत्य समुत्पाद और मज्जिम मग्मा (मध्यम मार्ग) पर नागार्जुन का आकर्षण था। उन्होंने स्वप्रतिपादित शून्यवाद में बताया है- शून्य ही एक मात्र तत्व है। यह शून्य न सत है न असत् है, न ही यह सत् और असत् दोनों है। न ही यह सत् और असत् से भिन्न होते हैं। यह एक विलक्षण तत्व है। कारक है, यह कर्म के निर्मित (प्रत्यय) से नहीं कहा जा सकता है। यह छोड़ सत्ता की सिद्धि का दूसरा कारण हम नहीं देखते। कर्म यह कारक के निर्मित से ऐसा कहा गया है। जैसा कारक और कर्म की सत्यता, असत्यता अन्योन्याश्रित है यानि स्वतन्त्र रूप से दोनों में से एक की सत्ता सीमित नहीं है। फिर असिद्ध वस्तु दूसरी वस्तु को किस तरह सिद्ध करेगी। इस बारे में नागार्जुन ने कहा कि किसी की भी सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। सत्ता और असत्ता इसी तरह परस्पर आश्रित है। अतः इन्हें अलग-अलग या दोनों के रूप में भी सिद्ध नही किया जा सकता। नागार्जुन ने कर्ता और कर्म का भी निषेध किया और बताया-सत रूप कारक, सत् रूपकर्म को नहीं करता। चूंकि सत् रूप से क्रिया नही होती। इसलिये कर्म को कर्ता



की जरूरत नहीं है। अन्योन्याश्रित सत्तावान वस्तुओं में कर्ता, कर्म, कारण और क्रिया की सिद्धि नहीं की जा सकती।

कहीं भी कोई सत्ता न तो स्वतः है न परतः है। नहीं यह स्वतः परतः दोनों है। न ही ये बिना हेतु के है। कार्य और कारण के सम्बन्ध का खण्डन करते हुए नागार्जुन ने बतलाया- यदि कोई पदार्थ सत् है तो उसके लिए हेतु की आवश्यकता है ही नहीं। यदि वह असत् है तो भी उसके लिए हेतु की जरूरत नही है। सत् पदार्थ को अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की जरूरत क्यों होगी। असत् पदार्थ (गधे के सिर पर सींग) जैसे असत् पदार्थ के लिए तो प्रत्यय/कारण की जरूरत है ही नही।

इनकी सारी प्रतिस्थापनाएं विरोधाभासी लगती है। जब न सत् है, न असत् है, न सदासद् दोनों है, नही दोनों नही है।

संसार में न कोई कार्य है, न कारण है, न कर्ता है, न कर्म है। तब इस तरह की तत्व विवेचना बुद्ध की शिक्षाओं से संगत कैसे होगी। वे नागार्जुन इनका निराकरण करते हुए निवर्चन की चतुष्कोटि से सत्ता को परे बताते हैं। अब वे यदि उत्पत्ति को स्वतः मानेंगे तो उत्पन्न की ही पुनरूत्पत्ति स्वीकारनी होगी। यदि इसे परतः माने तो सभी वस्तुओं की उत्पत्ति उसे अन्य से संभव होगी। स्वतः एवं परतः उत्पत्ति की असंगति अपने से ही

प्रमाणित होने के हेतु से अभयतः उत्पत्ति का सिद्धान्त तो अमान्य हो जाता है। अनुभवतः उत्पत्ति तो चिन्तन योग्य ही नहीं है। कार्य कारण की धारणा नागार्जुन के अनुसार मिथ्या है यह वस्तु स्वभाव नहीं।

शून्य के बारे में नासद्, नसद्, नासदसद्,नानासत् सद् कह कर उसे बुद्धि की चतुष्कोटि से पर रखा है। यह अद्भूत है। शून्यवाद को कई विद्वान अभाववाद बदलाते हैं। किन्तु वह भवात्मक शून्य है। वह वाणी, बुद्धि से परे मध्यस्थ है अतः मध्यमिक शून्यवादी मत है। सही विवेचन से शून्य की संज्ञा के विवेचन में सहायक उस बुद्धिगम्य बनाने वाले इन सभी विरोधाभासों का दार्शनिक चिन्तन का मित्र कह सकते हैं। पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में भी ऐसे विरोधाभास दिखते हैं। ग्रीक दार्शनिक परम्परा में जेनों (एलियाका) का उसके द्वारा प्रदत्त मत में विरोधाभासों का प्रमुखता से जिक्र है। उसके अनेकता के विरूद्ध तर्क में विरोधाभास और गति के लिए प्रदत्त 4 तर्कों, उड़ते बाण का तर्क, धावक का तर्क, एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना असंभवादि तर्कों में विरोधाभास की चर्चा की गई है। इन्होंने अरस्तू को न सिर्फ प्रभावित किया बल्कि उसके भौतिक शास्त्र टेनरे के गणितादि में उनके सिद्धान्त विकास में विरोधाभास सहायक सिद्ध हुए। ब्टेर्ड रसेल एवं कांट के दार्शनिक सिद्धान्तों में क्रमशः डिकोटर भी और कांट के मत में अनुभव एवं



बुद्धि तथा उनसे जुड़े कई विरोधाभासों ने दर्शन के चिन्तन को ज्यादा खरा बताते हुए आगामी दार्शनिकों के लिए मार्ग प्रश्स्त किया। जेनों को तो अरस्तु ने द्वन्द्व का आविष्कार करने वाला की उपाधि तक दे डाली।

स.आ.
दर्शनशास्त्र विभाग
एल-8-ई, वि.वि.परिसर
जयपुर (राजस्थान)

# उत्तर-आधुनिकता : समाधान या समस्या

डा0 विवेक कुमार पाण्डेय

उत्तर-आधुनिकता समकालीन समय की सबसे चर्चित और विवादास्पद विचारधारा है। चर्चित इस कारण कि इस विशेषण को हर क्षेत्र यथा-दर्शन कला, संगीत, साहित्य, समाज के साथ संयुक्त किया जा रहा है और विवादास्पद इसलिए कि इसकी कोई निश्चित और सुस्पष्ट परिभाषा नहीं दी गयी है। फिर भी यह चिन्तन अपना समसामयिक पहचान बना चुका है। इस सन्दर्भ मे कुछ प्रश्न स्वयं उठते हैं जैसे उत्तर-आधुनिकता क्या है? क्या यह आधुनिकता के समस्याओं का समाधान कर पाती है? प्रस्तुत लेख में इन्हीं प्रश्नों पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

शाब्दिक दृष्टि से उत्तर-आधुनिकता का तात्पर्य है आधुनिकता के बाद की विचारधारा। तब प्रश्न यह है कि कहाँ आधुनिकता समाप्त होती है? जी. वट्टिमों[1]। का मत है कि नीत्शे का शून्यवादी निष्कर्ष, जिसके अनुसार 'ईश्वर मर गया है' आधुनिकता की समाप्ति और उत्तर-आधुनिकता के प्रादुर्भाव का मार्ग प्रशस्त करता है। जाँन फ्रैन्कोस ल्योटार्ड[2] ने अपनी पुस्तक 'द पोस्टमाँर्डन कन्डीशन : ए रिपोर्ट आँन नाँलेज' में उत्तर-आधुनिकता को परिभाषित करते हुए कहा है कि उत्तर-आधुनिक महान विवरणों के समाप्त



होन पर बल देती है। महान आख्यान से ल्योटार्ड का तात्पर्य मानवतावाद, मार्क्सवाद तथा उदारवाद से है। हार्वे[3] के अनुसार उत्तर आधुनिकता वास्तव में उन सामाजिक प्रक्रियाओं का विस्तार है जिन्हें मार्क्स ने पूँजीवादी समाज के तर्कशास्त्र की विशेषता कहा।

यह विचारधारा मुख्यतः बींसवी सदी के उत्तरार्द्ध में आधुनिकता के संकटग्रस्त होने पर विकसित होती है। समाज अर्थव्यवस्था एवं राजनीति में केन्द्रीकरण की जोर पकड़ती रूझानों ने व्यक्ति तथा मानव को गौड़ बना दिया। विचारों के क्षेत्र में भी प्रभुत्व और अधिपत्य की भूमिका बढ़ गयी। सामन्तवाद से मुक्ति पाकर नवनिर्मित औद्योगिक व्यवस्था और उभरते पूँजीवाद से प्रेरणा पाकर पुनर्जागरण ने जो मानव संबंधी सपने संजोए थे वे चकनाचूर हो गये। उक्त परिस्थितयों का आकलन करते हुए जिग्मुंट-बाउमान[4] ने लिखा है- इससे बुद्धिजीवियों के बीच चिन्ता और अधीरता पैदा हो गयी ..... बुद्धिजीवियों की सामाजिक स्थिति और समाज की नियति का 'संकट' पैदा हो गया। पूँजीवाद के प्रसार के साथ ज्ञान की वैधता पर ही प्रश्न चिन्ह लग गया। विखंडित व्यक्तित्व और उसके विभिन्न अंश 'डीकंस्ट्रक्शन' की ओर बढ़ा, जिसने समाज की स्थापित सभी मान्यताओं और संस्थाओं को खण्डित कर दिया। इसके प्रणेता बने फूको, डेरीडा, बार्थे बुदिलार्द इत्यादि।

उत्तर-आधुनिकता के इस विखण्डनवादी चिन्तन का ज्ञानमीमांसीय आधार भाषाशास्त्र हैं, जो परम्परागत भाषाशास्त्र से भिन्न हैं। भाषा से इनका मतलब शब्दों, उनके अर्थों, व्याकरण के नियमों इत्यादि से नहीं बल्कि अर्थ निर्मित करे की व्यवस्था से है जो प्रत्येक व्यक्ति, व्यक्तियों के समूह, जनता इत्यादि में अलग-अलग रूप/अर्थ धारण करती है। फर्डिनेड द सोस्योर के अनुसार-भाषा अविकल चिन्हों का एक ऐसा तंत्र है, जिसमें चिन्ह यानी शब्द आपसी अन्तर से अर्थ ग्रहण करते है, अर्थ के लिए एक दूसरे पर निर्भर हैं। अर्थात भाषा से अलग अर्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जाक डेरिडा एक कदम और आगे बढ़कर कहता है कि-भाषा में चिन्हों के अन्तर से अर्थ पैदा होता है, यह भी हमारा भ्रम है। वास्तव में न तो कभी अर्थ पैदा होता है और न ही हम कभी अर्थ ग्रहण कर पाते हैं। जिसे हम अर्थ समझते हैं वह एक चिन्ह के स्थान पर दूसरा चिन्ह होता है, अर्थ नहीं और हम अर्थ के लिए एक, एक के लिए दूसरा, दूसरे के लिए तीसरा चिन्ह विस्थापित करते जाते हैं। यह विचार एक नवीन युग का सूत्रपात करता है जिसे 'उत्तर संरचनावाद' के नाम से जाना जाता है। इस वाद का मुख्य तर्क यह है कि शब्द और पाठ के निहित तय अर्थ, अपने अर्थ नहीं होते और न ही उनके



तथा विचार या वस्तुओं के बीच कोई स्व-संबंध होते, भाषा और विश्व के बीच कोई अन्तिम संबंध नही होता।[6]

इस प्रकार अर्थ के स्वतंत्र अस्तित्व का खण्डन कर उत्तर-संरचनावाद ने समस्त स्थापित परम्परागत विचारों का खण्डन कर दिया साथ ही आधुनिकता तथा वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक ज्ञान का भी। यह समाज की किसी एक मुश्त अन्तर्भूत संरचना के अस्तित्व से इन्कार करता है और उसे बहुरूप परिघटनाओं का खण्ड-खण्ड समूह मानता है। यह इतिहास की किसी निश्चित दिशा की संभावना से भी इन्कार करता है और प्रगति की धारण को ऐसे 'महाख्यानों' (Grand Narrative) में से एक मानता है जिसमें आधुनिक युग के दौरान लोगों की आस्था बन गयी थी। अब ऐसी आस्थाओं के टूटने का समय आ गया है। इसविचार में नैतिक मूल्यों के पीछे कोई सार्वभौमिक पारसांस्कृतिक आधार नही होते। प्रत्येक संस्कृति और सामाजिक जीवन की अपनी मूल्य व्यवस्था होती है जिसे उस संस्कृति के बाहर तर्कों और कसौटियों पर नहीं कसा जा सकता।

उत्तर-आधुनिकता इसी विविधता पर खड़ा है। यह समाज एक ऐसा समाज है, जिसमें प्राचीन आदर्श ही नहीं, आधुनिक क्रान्तियों के राष्ट्रीय-लोकतांत्रिक आदर्श भी मुरझाते जा रहे हैं। एक तरफा सूचना प्रवाहों और

उपभोक्तावाद ने राष्ट्रीय संस्कृति और राजनीति को भू-मंडलीयकरण की ओर ढकेल दिया है। इसे लेकर पूरे विश्व के बुद्धिजीवी दो वर्गों में बटे प्रतीत होती हैं- समर्थक एवं विरोधी। कुछ ऐसे भी हैं जो दोनों पर समान रूप से टिप्पणी करते हैं। उत्तर आधुनिकता के समर्थकों का दावा है कि चूँकि आधुनिकतावादी दृष्टिकोण से सिर्फ शक्ति सम्पन्न, धन सम्पन्न एवं समाज के प्रभावी वर्गों के अलावा किसी और का कुछ भला होने वाला नहीं है, इसलिए आवश्यक है कि वस्तुस्थिति को बदला जाय, जो समाज में अदृश्य रूप से व्याप्त सिद्धान्तों को उलटने से ही सम्भव है। अर्थात 'स्व' के विपरीत 'पर' के बारे में बात की जाय। जैसा कि उत्तर-आधुनिकतावादियों द्वारा महिलाओं, काले लोगों और समलैंगिकों आदि की, जाने वाली वकालत से विहित होता है। यूरोपीय परिवेश ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व् में इस तथाकथित विचारधारा का प्रचलन हो रहा है। नारी-मुक्ति आन्दोलन, लेखन व आलोचना, समाज के तथाकथिक शोषित, पीड़ित और सीमांत लोगों के लिए आन्दोलन, स्त्री-पुरूष संबंधों का पुनर्मूल्यांकन जैसे विचार को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उत्तर-आधुनिकता आधुनिक समाज के उतार-चढ़ाव तथा विभिन्न अप्रत्यासित मोड़ों के प्रति



तीखी प्रतिक्रिया का नतीजा है तथा एक प्रकार से आधुनिकता का अस्वीकरण भी। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह विचारधारा आधुनिकता के असफलताओं की समस्याओं का समाधान कर पाती है? यदि उत्तर-आधुनिकता के चिन्तन पक्ष पर ध्यान दें जिस पर कि यह विचारधारा टिकी है तो वस्तुतः किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। समस्या सुलझने के बजाय उलझने लगती है। "विखण्डनवाद" के आधार पर कोई विचार या समाज की रचना नहीं हो सकती। हम जो भी विचार अर्जित करते हैं उसमें वस्तु जगत का मुख्य योगदान है। जिसे वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा खोजा जाता है। किन्तु वस्तुनिष्ठता और वैज्ञानिकता का खण्डन कर हम किस लोक में विचरण करेंगे? वस्तुनिष्ठाता विचार जगत् की सच्चाई है, जिसे अस्वीकरा नहीं किया जा सकता। निश्चय ही सत्य का एक विषयनिष्ठ पक्ष होता है जिसके कारण ज्ञाता सत्य को जानता है। पर सत्य के विषयनिष्ठता पर आघात हमें 'व्यक्ति सापेक्षता' की ओर अग्रसर नहीं करती है? क्या यह सिद्धान्त मान्य हो सकता है कि- 'मेरा झूठ मेरे लिए सत्य है' और आप का सत्य मेरे लिए झूठ है? पुनश्च यदि अर्थ विखण्डित और व्यक्ति सापेक्ष हैं तो हमारा सामाजिक जीवन अराजकता ग्रस्त एवं अनिश्चित हो जायेगा। जिस प्रकार कोई व्यवस्था ही स्थापित नही हो सकती और बिना व्यवस्था के सामाजिक

जीवन चल नही सकता। अतः उत्तर-आधुनिक समाज एक काल्पनिक समाज है।

डेरिडा,फूँको, पॉल डी. मान आदि विचारकों का पश्चिमी दर्शन के खिलाफ जो दृष्टिकोण है वह अनिश्चयवादी है। व्यवस्था के प्रति नई पीढ़ी से उपजी सब कुछ तहस-नहस कर देने की छवि और उस छवि को तथाकथित क्रान्तिकारी विचारकों के प्रति हैवरमास जैसे प्रबुद्ध विचारकों की संवेदनशीलता को नजरअंदीज नहीं किया जा सकता। जोनाथन अरक के अनुसार- "यह सिद्धान्त रूप से सबको अच्छी तरह मालूम है कि हैबरमास उत्तर-आधुनिक विचारों जिन्हें आधुनिकता विरोधी मनता है के राजनैतिक खतरों के प्रति अतिसंवेदनशीलता बीसवीं सदी के जर्मन इतिहास से समझी जा सकती है क्योंकि नाजियों के सत्ता में आने से पहले के दो दसकों में जर्मन अकादमी आधुनिकता विरोधी मतों से भरी थी।

इस प्रकार उत्तर-आधुनिकता का विचार उस मनुष्य की तरह है जो किसी कृति को बिगाड़ना तो जानता है परन्तु बनाना नहीं। यदि उत्तर आधुनिकता किसी प्रणाली विचारधारा, समाज व्यवस्था का खण्डन मात्र है तो एक विचारधार के रूप में यह स्वयं खण्डित है। इस विचारधार ने जिस विखण्डनवादी प्रक्रिया को आरम्भ किया है वह मानवीय मूल्यों के विपरीत है



मानव जीवन को संलयन और विखण्डन दोनों की आवश्यकता होती है और बिना संलयन के विखण्डन नही हो सकता। ऐसा नही है कि 'आधुनिकता' के विचार मे कमियाँ ही हो, अच्छाईयां भी हैं। किन्तु कमियों के आधार पर केवल विखण्डन की बात कर उत्तर आधुनिकतावादी अविश्वास और निराशा को जन्म देते हैं। जैसा कि फूको[7] कहता है "मनुष्य मिट जायेगा वैसे जैसे समुद्र के किनारे बालू में खींची गयी आकृति" यदि मनुष्य नहीं रहेगा तो उत्तर-आधुनिक समाज की रचना किसके लिए?

आशा ही जीवन का संचार है। कमी हर स्थापना में होती है, क्योंकि इसी अपूर्णता से विकास को गति मिलती है। किन्तु कोई स्थापना पूर्णतः अपूर्ण हो सत्य नहीं है। इसी दृष्टि में समाधान निहित है। पूर्णतः विखण्डित और निराशावादी दृष्टिकोण किसी समस्या का समाधान खोजने की जगह स्वयं समस्या बन जाता है। अतः उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता के समस्या के समाधान प्रस्तुत करने के स्थान पर स्वयं समस्या बन जाता है।

## सन्दर्भ


1. G. Vattimo, the End of Moderiuty : Nihilism and Huemeneutics in Post Modern Culture. Tr. Jon R Snyder. Polity Press Combridge 1988.
2. J.F. Lyotard, The Post Modern Condition : A Report on knowledge. Tr. Goeff Gemington, Menchester University Press Merch 1989.

3. D. Harvey, The condition of Post Modernity : An Enquiry into the Origins of Cultureal change Blackwell oxford.

4. **जिभ्मुंट वाउमान-इंटिमेशंस आँफ पोस्टमोडर्निटी, रूलेज, लंदन/न्यूयार्क 1952** P/95.

5. **आजकल-सूचना प्रसारण मंत्रालय नई दिल्ली 1995 पृ. 6 ।**

6. **जोआन स्कॉट-'डीकंस्ट्रक्टिग ईक्वालिटी' वर्सेज डिफरंस, द पोस्ट मार्डनर्स (सं.) स्टीवन सीडमान, केम्ब्रीज यूनिवर्सिटी 1994 पृ.189।**

7. **फ्रांसिस फुक्यामा- 'द एण्ड आँफ हिस्ट्री एंड लास्ट मैन' पेग्विन बुक्स 1992।**

**सहायक आचार्य**
**बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय**
**बनारस**



# संस्कृत-साहित्य में धर्म-दर्शन का स्वरूप

**डा0 प्रभु दयालु अग्निहोत्री**
(भू0पू0 कुलपति जबलपुर विश्वविद्यालय)

**संस्कृत साहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग इतने अधिक संदर्भों में हुआ है कि उनके आधार पर धर्म को परिभाषित कर सकना या उसकी इयत्ता की माप कर सकना दुष्कर है। संसार की किसी भाषा में इसका एक पर्याय ढूँढ़ निकालना की शक्य नहीं है। अंग्रेजी के रिलीजन, फेथ या कीड शब्द तो इसकी व्याप्ति के छोटे से अंश को भी नहीं घेर पाते। भारत में धर्म शब्द का इतिहास उतना ही पुराना है जितनी उसकी संस्कृति। ऋग्वेद में** 58 **और अथर्व वेद में** 22 **बार धर्म का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में वह सर्वत्र ही नकारान्त है- धर्मन् और सायण ने इसकी निष्पत्ति धारणार्थक 'धृ' धातु के अगो अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (**3-2-75) **सूत्र से मनिन् प्रत्यय लगाकर मानी है। इस प्रकार निष्पन्न धर्मन् शब्द का अर्थ है धारण करने वाला। विष्णु (सूर्य) अपने तीन पादन्यासों धर्मों (धर्माणि) से विश्व को धारण करता है। इन्द्र नृम्ण (धन) के धारण करने वालों (धर्मणाम्) पर अधिकार रखता है। वायु धर्म के द्वारा सारे संसार की भयों से रक्षा करता है। सूर्य धर्म के साथ द्यौ और पृथ्वी के मध्य चलता है। इन्द्र ने धर्मपूर्वक पुष्पिणी औषधियों को क्षेत्रों में स्थापित किया है। सनातन धर्मों को कोई दूषित नहीं करता। अग्नि प्रथम**

या पुराने धर्म (नियम) के अनुसार प्रज्वलित होता है। हे मनुष्यो! धर्मों (कर्मों) से युक्त ये व्रत (कर्म) तुम्हारे लिए हैं। सविता अपने को दृढ़ करने (धर्मणे) के लिए प्रशस्ति गायक मन्त्रों की रचना कराता है। ऋत भी धरुण है और धर्म भी धरूण (आधार-टेक) है। अग्नि धर्मों (यज्ञ कर्मों) का पोषण करता है। स्त्रोता प्रकृति के नियमों के अनुसार (धर्मणस्परि) सन्तानों से फलता फूलता है। ये द्यौ और पृथ्वी वरुण के धर्म (धारण करने) के कारण टिके हुये है।। हे वरुण! हमने असावधानी या मूर्खतावश जो तुम्हारे धर्मों (नियमों-मर्यादाओं) को छोड़ दिया है उसके लिए हम पर कुद्ध मत होना। अग्नि धर्मों (यज्ञ कार्यों) का अध्यक्ष है। देवों में मित्रावरुणौ धर्मवान् हैं। किन्तु इन्द्र धर्मकृत् हैं। ऋग्0 में यह शब्द पुल्लिंग और नपुंसक दोनों में प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त उद्धरण प्रतिनिधि मात्र हैं। इनका विश्लेषण करने से धर्म के अर्थ स्पष्ट होते हैं-(1) धारण करने वाला। वह व्यक्ति, देवता या वस्तु जिसके आधार पर कुछ टिका हो, (2) समाज और जीवन के आधारभूत नियम और परम्पराएँ, (3) दृढ़ करने वाला (4) पुरातन नियम, विधान और यज्ञादि विधियाँ। मोटे तौर पर यह शब्द ऋत के स्तर का है। ऋत के अन्तर्गत प्राकृतिक नियम (Ordinances) हैं और धर्म के अन्तर्गत समाज को सुस्थित रखने वाले विधान लाँज Holy ordinances of decres



अथर्व0 में धर्म शब्द का तीन बार पुल्लिंग में भी प्रयोग हुआ है और ऋत, सत्य तप, श्रम एवं कर्म आदि के साथ इसका उल्लेख है, जैसे ये सब शब्द एक ही कोटि के हैं। स्थान पर स्पष्ट रूप से धर्म शब्द कर्तव्य, नियम या सामाजिक मर्यादा के अर्थ में आया। इसी प्रकार अथर्व0 नियम-विधानों का पालन करने वाले धर्मधृतः (Law-observers) का उल्लेख करता है। सायण याग-दानादि क्रियाओं का अनुष्ठान करने वालों को धर्मधृत् जानते हैं। पुराण धर्म भी अथर्व0 काल में सुविदित थे। यद्यपि इन पुराण-धर्मों का ब्योरा अथर्व0 में उलब्ध नहीं है।

वेदों में ऋत, धर्म और व्रत का अनेकशः उल्लेख है। वैदिक मान्यता के अनुसार सारी सृष्टि और जीवन इन्हीं तीन आधारों पर अवस्थित है। ऋत के कारण सूर्य समय पर निकलता है, चन्द्र और नक्षत्र समय पर चमकते हैं, ऋतुएँ समय पर आती हैं। पर्जन्य समय पर बरसता है और फूल-फल तथा अन्न समय पर उत्पन्न होते हैं। इसीलिए ये सब ऋतवान या ऋतावरी कहे गये हैं। यही ऋत मानव-जीवन के सन्दर्भ में धर्म कहलाता है। बौद्ध भिक्ष यू0 थितिल ने अपनी पुस्तक The path of the Buddha में कहा है- "Dhammam the law of righteousness, exists not only in a man's heart and mind, it exists in the universe also. All teh Universe is an embodiment and revelation of

Dhamma. When teh moon rises and setsm the rains comem the crops growm the Seasons changem it is because of Dhamma, for Dhamma is the law of residing in the universe which makes matters act in the ways revealed by modern sciences. Dhamma is the true nature of every existing thing, animate and inanimate"

**महाभारत के कर्ण पर्व (**69-58) **में इसी बात को स्पष्ट कहा गया है-**

**प्रभवार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतभ्।**
**तथा**
**अहिंसार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्**
**एवं**
**धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मों धारयते प्रजाः**
**यत्स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।**

**वेदों ने धर्म के साथ व्रत को भी जोड़ा और इन तीनों के द्वारा विश्व की रक्षा का भार दिया मित्रावरुणौ को। मित्र जीवनदायक हैं और वरुण सत्य तथा अनृत पर दृष्टि रखने वाले। ऋग्0 में कहा है-**

**धर्मणा-मित्रावरुणौ विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।**

**ऋतेन विश्वं भुवनं विराजथः सूयंमाधत्थो दिवि चित्र्यं रथम्। (**5.63-7)

**एवं व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना। (**5-72-2)

**ये दोनों धर्म (नैतिक नियमों) के द्वारा लोगों को गतिशील और व्रत के द्वारा क्षेम को स्थिर बनाये रखते है। इस प्रकार धर्म और व्रत (नियमित**



**कर्म) का चोलीदामन का साथ है। बिना व्रत के धर्म निर्जीव है। इसीलिए वाजसनेयी संहिता में प्रार्थना की गयी है-**

**अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि यच्छकेयं तन्में राध्यताम्।**

**भारतीय चिन्तकों ने मरणोपरान्त जीवन की कल्पना की है। वैदिक संहिताओं में न केवल पितृयाण अर्थात् मृतकों के यातायात मार्ग अपितु उनके निवास पितृसदन या यमसदन का भी बार-बार उल्लेख मिलता है। इस प्रकार जीवन दो भागों में विभक्त हो गया- लौकिक और परलौकिक। और धर्म ऐसे विधानों एवं नियमों का वाचक बन गया जो इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी जीव की सुख-सुविधा की व्यवस्था में सहायक हो।**

**ऐहलौकिक जीवन के साथ मरणोत्तर कल्याण को दृष्टि में रखकर ही न्यायदर्शन ने कहा- यतोऽभ्ययुदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः। अभ्युदय अर्थात् वर्तमान जीवन में समृद्धि (प्राप्ति) अच्छे पशु, खेत, बलिष्ठ पुत्र आदि ये लौकिक समृद्धि के प्रतीक हैं। किन्तु पशु चुराये जा सकते हैं, खेत शत्रु द्वारा काटे या जलाये जा सकते हैं, पुत्रों का वध विरोधियों के द्वारा किया जा सकता है या एक व्यक्ति की हत्या दूसरे व्यक्ति के द्वारा की जा सकती है। इन बातों का भय तब तक नहीं था जब तक समाज की जनसंख्या स्वल्प थी। तब तो नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः- धर्मेर्णव प्रजाः**

सर्वा वर्तन्ते स्म परस्परम्। किन्तु जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गयी और मनुष्यों में पारस्परिक व्यवहार बढ़ा, वैसे-वैसे सामाजिक नियमों की आवश्यकता बढ़ती गयी जो समाज को धारण करने एवं उसे स्थिरता प्रदान करने में सहायक हैं और उन नियमों को धर्म नाम दिया गया। कभी ''धृति$ क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रयनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमकोधः'' (मनु0 6-92) ये दस धर्म माने गये तो कभी उनसे काम चलना कठिन देखकर "श्रुतिः स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मनः ये साक्षात् धर्म घोषित किये गये। जो लोग श्रुति और स्मृति नहीं समझते उनके लिये सीवे- "आचाश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च" (मनु0 2-6)। सदाचार और आत्मतुष्टि ये सार्वज नीन लक्षण सुविधाजनक तो थे किन्तु इन दोनों की पहचान भी सरल नहीं, क्योंकि प्रश्न उठेगा कि सदाचार किसे कहें? सत् या सन्त कौन? तब कहा- "यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्य कमागतः- वणनां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते'' (मनु0 2018)। इसी को अथर्ववेद ने पुराण धर्म कहा था। आत्म-तृष्टि का निर्णय भी कठिन है। अभी कोई बात आत्मतृष्टि देती दिखती है किन्तु कालान्तर में पीड़ा पहुँचाती है। बहुत से इन्द्रियभोग इसी कोटि के हैं।

तब ऋषि ने स्पष्ट किया-



अन्यच्छेयोऽन्यदुतैव प्रेय उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीतयेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते।

(कठोपनि0 2-9)

किसी बात का तुरन्त सुखद लगना एक बात है और उसका हितकारी होना दूसरी बात। बुद्ध के शिष्यों ने भी एक बार उनसे पूछा- 'भगवन्! पाप क्या है और पुण्य क्या? क्योंकि जो बात एक देश, काल और परिस्थिति में पुण्य मानी जाती है वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में पुण्य मानी जाती है वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में पाप बन जाती है। कोई एक काम को पुण्य बतलाता है, तो कोई पाप। तब बुद्ध ने कहा कि जिस काम को करने के बाद ग्लानि न मालूम हो वह पुण्य है और ग्लानि उत्पन्न करने वाला कर्म पाप। 'स्वस्थ च प्रियमात्मनः और 'आत्मनसतुष्टिरेव च' का भी यही आशय है।

यह तो हुई ऐसे आचरण की बात जिसका प्रभाव अन्य किसी पर नहीं पड़ता। इसे हम निरपेक्ष कर्म कह सकते हैं। किन्तु ऐसे कर्मों की संख्या स्वल्प है। अधिक कर्म ऐसे होते हैं, जिनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। उनके विषय में औचित्यानोचित्य का निर्णय और भी कठिन होता है। गीता ने कहा-

कि कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। इसके विषय में व्यास ने स्पष्टीकरण देते हुए सरल भाषा में कहा-

श्रूतयां धर्मसर्वेस्व श्रुत्वा चैवावधार्यताय्
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

यह समग्र भारतीय दर्शन का सार है। सत्य अहिंसा, अस्तेय, अक्रोध, क्षमा, दया, दान, आदि सब इसी एक सूत्र के भाष्य है। सारी राजनीति, सम्पूर्ण अर्थशास्त्र, दाण्डिक व्यवहार और आचार शास्त्र इसी पारस्परिक हित-साधन और अहित-निवारण के कारण मात्र हैं। ये एक प्रकार के सामाजिक समझौते हैं। इसीलिए धर्मशास्त्र इन सब विषयों का प्रतिपादन करते हैं और राजनीति का लक्ष्य धर्मसंस्थापन माना गया है। एक धर्म अर्थात् सामाजिक नियमो मर्यादाओं का, जिन्हें व्यक्ति के स्तर पर कर्तव्य कहा जा सकता है, पालन करने से अर्थ और काम (अभिवांछित की पूर्ति) सबकी सिद्धि हो सकता है। व्यास कहते हैं-

ऊर्ध्वबाहुविरोम्येष नहि कश्चिच्छणोति मे, धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः कि न सेव्यते। नीतिशास्त्र का उद्देश्य इसी धर्म की विस्तृत व्याख्याएँ प्रस्तुत करना है। धर्म सह-अस्तित्व पर आधारित गतिशील जीवन पद्धति है। इसका क्षेत्र पश्चिमी देशों के रिलीजन से कहीं अधिक व्यापक है।



धर्म के सहायक तत्वों में वह सब कुछ सम्मिलित है जो जीवन को ऊँचा उठाने में सहायक है। भागवत ने जिन्हें धर्म की पत्नी कहा है, वे हैं- ''श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति-स्तृष्टि पुष्टिः क्रियोन्नतः। बुद्धिर्मेधा तितिक्षा हीमूर्तिधर्मस्य पत्नयः''। (भाग 2-1-49) भागवत ने इनमें प्रत्येक के परिणाम की भी चर्चा की है- श्रद्धा सूते शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयता योगं कियोन्नतिर्दर्पमर्थे बुद्धिरसूयत-मेधा स्मृति तितिक्षा तु क्षेमं ही प्रश्रयं सुतम्। वही (50-51)। और महाभारत ने सार की बात कही कि धर्म पति है, श्री उसकी पत्नी और अर्थ उनका पुत्र। अर्थात् धर्म से श्री अर्थ प्राप्त होते हैं-

श्रीः सम्भूता यतो देवी पत्नीधर्मस्य धीमतः।
श्रियः सकाशादर्शश्च जातो धर्मेण पांण्डव।।
अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता।

(शांतिपर्व 59-132)

धर्म के आचरण के विषय में जो भी निर्देश आम्नाय ग्रन्थों से प्राप्त होते हैं, वे सब इसी दृष्टि या दर्शन को सामने रखकर दिये गये हैं। उदाहरणार्थ-कौटिल्य का कथन है कि राजा वश्येन्द्रिय हो, पर स्त्री, द्रव्य और हिंसा से दूर रहे धर्म के अनुकूल ही अर्थ और काम का सेवन करे-

एवं वश्येन्द्रियः परस्त्री-द्रव्य हिंसाश्च वर्जयेत्। अधर्मसंयुक्तमनर्थ संयुक्तंचव्यहारम् धर्मार्था विरोधेन कामं सेवेत् (3-6-2,3)।

किन्तु सामान्यजन के धर्म का निरूपण करते हुए भी कहा कि- ''सर्वेषामहिंसा सत्यं शौच मनसूयाऽऽनृशंस्यं क्षमा च। इसका पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। यह प्रत्येक व्यक्ति का स्वधर्म है जिसने स्वर्ग और अक्षयत्व प्राप्त होता है। चाणक्य ने धर्म के इन आचरणों को 'आर्य-मर्यादा' कहा है जिसके उल्लंघन से सब कुछ गड्डमड्ड हो जाता है और फिर व्यक्ति हो या राष्ट्र, नष्ट हो जाता है।

स्वधर्मः स्वर्गायानत्याय च। तस्यातिकमे लोकः संकरादुच्छिद्यते।

(अर्थशास्त्र 1-2)

और जब महाभारत कहता है कि जिस राजा के राज्य में कूट, कपट, माया और मत्सर नही है उसके यहाँ समातन धर्म स्थिर है-

न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः।

(शान्ति. 58-37)



तो क्या वह यह नहीं कहता है कि व्यक्ति को कूट, कपट, माया और मत्सर से दूर रहना चाहिए। पुराण धर्म सनातन धर्म यही है। स्मृतियों ने जिन आचारों और वर्णाश्रमधर्मों का प्रतिपादन किया है वे सब भी सामाजिक व्यवहार या मर्यादा के अन्तर्गत आते हैं। भीष्म का कथन है।

धर्मस्याख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते।

(शान्ति0 121-9)

धृति, दम, इन्द्रिय-निग्रह, शौच, धी, विद्या आदि जो धर्म व्यक्तिगत पड़ते हैं वे भी किसी न किसी रूप में सामाजिक व्यवहार से सम्बन्धित हैं। धर्म, ज्ञान मात्र का नहीं, व्यवहार का विषय है। युधिष्ठिर कहते हैं- न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम। (शान्ति 260-3) तथा 'लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः। (वही 359-4) धर्मशास्त्र पुराण, उपपुराण, स्मृतियाँ, रामायण, महाभारत और दर्जनों धर्म-निबन्ध धर्म की व्याख्या से भरे पड़े हैं। यद्यपि उसे बहुत संक्षेप में परिभाषित किया जा सकता है- 'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा' अथवा ''नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्' (शान्ति 162-21, 24) और यह भी सत्य है कि मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी जनता है कि उसका सामान्य धर्म याय कर्तव्य क्या है, जैसा कि महाभारत में कहा है- 'आतमैव साक्षी कुलधर्मकृत्ये स एव जानाति यदत्र दुष्कृतम्।' अर्थात् मनुष्य

स्वयं जानता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है? जो व्यक्ति चाव से कुत्ते का मांस खाये उसके लिये यह मान लेना चाहिए कि कुत्ते का मांस उसके वज्र्य नहीं है। इस कथन से पूर्वोक्त बुद्ध-वचन की प्रामाणिकता स्पष्ट होती है और धर्माचरण के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। यही धर्म की गहनता का भी पता चलता है और धर्म को लेकर लिखे गये इतने बड़े-बड़े पौधों को उपयोगिता भी सिद्ध होती है। 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' यह नीतिवाक्य साधार है। महाभारत ने ठीक ही कहा है-

अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम्।
यथा मृगस्य विद्वस्य पदमेकं पदं नयेत्
लक्षेद् रुधिरलेपेन तथा धर्मपदं नयेत्।।

(शान्ति0 132-20,21)

अर्थात् जैसे सर्प के मार्ग का पता उसकी गति से लगाना कठिन होता है, वैसे ही धर्म की गति भी दुर्ज्ञेय दुर्लभ होती है। किन्तु जैसे घायल मृग के रूधिरोक्षित पद चिन्हों के द्वारा उसको दूढ़ निकालते हैं ऐसे ही सत्पुरुषों के द्वारा क्षुण्ण मार्ग को टटोल कर गन्तव्य निश्चित करना सरल हो सकता है। यह हुआ इहस्थ जीवन के वैयक्तिक एवं सामाजिक धर्म-दर्शन का स्वरूप।



जहाँ तक पारमार्थिक या पारलौकिक जीवन का सम्बन्ध है, वह धर्म और दर्शन दोनों के क्षेत्रों से सम्बन्धित है। लोकायत लोक परलोक या मरणोत्तर जीवन पर विश्वास ही नहीं करते। वाल्मीकीय रामायण में जाबालि ऋषि इसी मत के पुरस्कर्ता हैं। वह राम से कहते हैं-

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित्-
एकोहित जायते बन्धुरेक एवं विनश्यति।
यथा ग्रामान्तरं कश्चनरः कश्चिद्वहिर्वसेत्-
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि।
एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु
आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः।

(रामा-108-3,5,6)

बार्हस्पत्य सूत्र भी इसी मत का प्रतिपादन करता है। उसका कहना है कि चार ही तत्त्व है, पृथिवी, जल, तेज और वायु। उनके समुदाय के परस्पर मिलने से ही शरीर, इन्द्रियाँ और उनके विषय उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से चैतन्य की सृष्टि होती है, जैसे मादकता उत्पन्न करने वाले अन्न या वनस्पपति आदि के रसों के योग से मदिरा में मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है-

पृथिव्यप्तेवायुरिति तत्त्वानि। तेभ्यश्चैतन्यम्। किण्वादिभ्योमदशक्तिवत्।
मरणमेवापवर्गः । चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष ।
परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः। (बृह0 सू0 1 से 3, 7, 8, 17)।

इस मत में चैतन्य युक्त शरीर ही पुरुष है। परलोक का अस्तित्व नहीं, और मृत्यु ही मोक्ष है। इनके विपरीत वेद स्वर्ग और मरणोत्तर जीवन को स्वीकार करते हैं और उस जीवन के सुख-दुःखों को इस लोक के सत्कार्यों एवं दुष्कर्मों पर निर्भर मानते हैं। सभी आस्तिक विचारक शरीर से भिन्न आत्मतत्व, पुनर्जन्म और कर्मफल पर विश्वास करते हैं। वे जीवन और आत्मा की शाश्वतता पर विश्वास करते है, यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में वे एकमत नहीं है। सांख्य अनीश्वरवादी हैं और योग में भी ईश्वर की स्थिति गौण है। उसके मत में ईश्वर केवल कर्म, विपाक और आशय के अस्पृष्ट विशिष्ट आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वह योगी की सिद्धिज शक्तियों का तो विशिद वर्णन करता है, किन्तु ईश्वर के कार्यों और शक्तियों के विषय में मौन है। न्याय और वैशेषिक के अनुसार चैबीस या सात पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से निःश्रेयस का अधिगम होता है। इन दोनों में ईश्वर की आवश्यकता केवल परमाणुओं के संयोजन के लिए है। ईश्वर निमित्त कारणमात्र है, जगत् का उपादान नहीं। पूर्व मीमांसा भी निरीश्वरवादी है, वह यज्ञ कर्म ही प्रधान



मानती है। जैमिनि, शबर, प्रभाकर और कुमारिल भट्ट सभी ने ईश्वर-सम्बन्धी तर्कों का स्पष्ट खण्डन किया है। इसलिए निःश्रेयस साधना का अर्थ ईश्वरोपासना ही हो, आवश्यक नहीं है। वस्तुतः भागवत, पांचरात्र, सात्वत, शैव, वैष्णव और शाक्त आदि परवर्ती सम्प्रदाय ही प्रमुखतः ईश्वरवादी हैं। उपनिषदों में जिस ब्रह्म की कल्पना है, वह ईश्वर का पर्याय नही माना जा सकता और शंकर की व्याख्या स्वीकार करें तो ब्रह्म और कूटस्थ के बाद उसका स्थान तीसरा सिद्ध होता है। इस प्रकार धर्म में ईश्वर की मान्यता अनिवार्य नहीं और न स्वर्ग की कल्पना ही सर्वमान्य है। हाँ अध्यात्म की चिन्ता भारतीय धर्म की प्रत्येक शाखा में है, जिसका प्रारम्भ स्वाभाविक जिज्ञासा से होता है- केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्रागः प्रथम प्रैति युक्तः - केनिषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति (केनोपनि0 1-11) अथवा भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रज्ञाः प्रजायन्ते। (प्रश्नोपनि0) उपनिषद् इस प्रकार की जिज्ञासाओं और उनके समाधानों से भरे पड़े हैं। भारत में चिन्तन और विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता रही है। इसलिए आध्यात्मिक क्षेत्र में अनेक बार परस्पर विरोधी विचार देखने को मिल जाते है। धार्मिक क्षेत्र में ईश्वरवाद, सगुणवाद, निगुर्णवाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, वर्णाश्रम व्यवस्थ, पुनर्जन्म, कर्मवाद, एकत्ववाद, मायावाद, मोक्ष आदि के

सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यो के अलग-अलग मत मिलते हैं। फिर भी दुःखत्रय की अनुभूति, उससे मुक्ति और आत्मिक शान्ति के प्रयास में सभी विचारक यत्नशील रहे हैं। इस प्रकार पारत्रिक जीवन की दृष्टि से भारतीय धर्म प्रमुखतः अध्यात्मवादी रहा है।

सार रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय धर्म का दर्शन है- अशिव पर शिव को और मृत्यु पर जीवन की विजय। भावना और बुद्धि की समरसता उसके भीम आधार है जैसा कि डा0 राधाकृष्णन् ने अपनी ''रिलीजन एण्ड सोसाइटी'' नामक पुस्तक में कहा है-

Religion is teh discipline which touches the conscience and helps us to sturggle with evil and sordidness, save us from greed, lust and hatred releases moral power and imports courage in the enterprize of saving the world. (Page 282)

और इसके साथ उन्हीं के समकालीन दार्शनिक डा0 एस0 एन0 दास गुप्त को भी सम्मिलित कर लें जिन्होंने अपनी ''रिलीजन एण्ड आउटलुक'' नामक पुस्तक में कहा है-

In religion we do not come with the spirit of a scientist who has ultimately to base his conviction on the evidence of his senses but in teh way of



emotional poet who holds within the halo of his emotions a ring of rationalistic argument undifferentiated from it. (Page 259)

तो भारतीय धर्म दृष्टि का सही चित्र हमारे सामने आ जायगा।

किसी भी देश की कला और साहित्य उसके धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन से अग्निवार्यरूपेण प्रभावित होते हैं और भारत भी उसका अपवाद नहीं है। यों तो सारे विश्व का साहित्य धर्म से अनुप्राणित रहा है क्योंकि एक दो चिन्तकों ने धर्म और ईश्वर के विरूद्ध यदाकदा भले ही आवाज उठायी हो, विश्व का बहुत बड़ा जनमत कर्म और ईश्वर के पक्ष में ही रहा है। ह्वाइटहेड जब कहते है-

A religion is a force of belief, cleansing the inword parts; for this roason the primary religious virtue is sincerity.

तो वह कला की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माँग ''ईमानदारी'' की ही वकालत करते है। जार्ज बर्नार्ड शा के इस कथन को भी हम उक्त उदाहरण के साथ जोड़ दे तो साहित्य के साधन के साथ उसका लक्ष्य भी स्पष्ट लक्ष्य भी स्पष्ट हो जायेगा और इन दोनों की उपलब्धि में धर्म की भूमिका का भी पता चला सकेगा। शा कहते है-

What I mean by religious person is one who vonveives himself or herself to be the instrument of some purpose in the universe which is high purpose and in the motive power of evalution, that is, of a continual ascent in organisation and power, life and extention of life.

वाकोक्तिजीवितकार के मस्तिष्क में काव्य का यही उच्च लक्ष्य था, जब उसने कहा-

धर्मादि साधनोपायः सुकुमार कमोदितः।

काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाल्हादकारकः।। और 'धर्मादिसाधनोपायः' के समर्थन में तर्क देते हुए कहा कि यदि काव्य का लक्ष्य केवल आह् लादकारकत्व मान लिया जाय तो उसमें और बच्चों के खिलौनों में भेद क्या रहा जायगा-

सत्यपि तदाह लादकत्वे काव्यबन्धस्य क्रीडनकदिप्रख्याति प्राप्नोतीत्याह धर्मादिसाधनोपाय इति। भरत ने भी नाट्य को वेदों के साथ सम्बद्ध किया है-

जग्राह पाठमृग्वेदात् आदि। कालिदास ने नाट्य प्रयोग को ऋतु माना-

देवानामिदमामनन्ति मनुयः शांतं ऋतुं चासु षम्।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारत में धर्म का वह अर्थ कभी नहीं रहा जो योरोप में रिलीजन का रहा है और आज भी है। इसीलिए जब धर्म-दर्शन की बात कहते हैं तो उसका अर्थ 'फिलासफी आफ रिलीजन' उसी सीमा में में नहीं समझा जाना चाहिए जिस सीमा के भीतर हम प्रायः



इस विषय को चर्चित पाते हैं। सामान्य अपवादों को छोड़कर सीमित अर्थ में भी भारतीय धर्म की प्रमुख विशेषताएँ- (1) शरीर से व्यतिरिक्त अविनश्वर आत्मा या जीव या चेतना पर विश्वास, (2) आत्मा से बड़ी सर्वनियन्त्रक विराट सत्ता की स्थिति (3) जीवन या आत्मा की शाश्वतता, (4) कर्मफलवाद जिसे नियति या प्रारब्ध भी कह सकते हैं, (5) पुनर्जन्म (6) मुक्ति (7) ब्राह्म और आभ्यन्तर शुचिता। जीवन की अभ्युन्नति और दुःखनिवृत्ति के लिए अपनायें जानेवाले साधनों में धार्मिक अनुष्ठान, यथा-यज्ञ, तप योगाभ्यास, भक्ति, अर्चना, पूजा प्रमुख रहे हैं। भक्ति ने विविधि अवतारों, महाशक्तियों तथा तत्परक शास्त्रों को जन्म दिया।

संस्कृत के ललित-साहित्य के प्रणयन से पूर्व (रामायण-महाभारत इसके अपवाद हैं) भक्ति-आन्दोलनों के अनेक रूप सामने आ चुके थे- ब्राह्म, सौर, वैष्णव, शैव, पाशुपत, पांचरात्र, सात्वत, भागवत और शक्ति सम्प्रदाय उत्कर्ष पर थे। श्रुति के प्रति श्रद्धा-भाव था, औपनिषदिक चिन्तन उत्कृष्ट जनों तक सीमित था, पुराण लगभग अपने वर्तमान रूप में आ चुके थे, आचारों और स्मृति प्रतिपादित नियमोपनियमों की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। सातवीं-आठवीं शताब्दी के पश्चात् उपनिषदों को एक नया अर्थ दिया गया। श्रुतियों का स्थान वेदान्त-सूत्र भगवद्गीता और उपनिषदों ने लिया जिनकी व्याख्या

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बर्काचार्य ने अलग-अलग ढंग से की। 12वीं शताब्दी के बाद भागवत का महत्व बढ़ा और वल्लभाचार्य ने उसे उच्च स्थान पर पर प्रतिष्ठित कर दिया। रामायण और महाभारत की प्रतिष्ठा बनी रही और ये दोनों ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के उपजीव्य बने रहे। फिर भी कवियों और लेखकों की दृष्टि स्मृति और पुराण प्रतिपादित धर्म पर टिक गयी। निश्चय ही यह दृष्टि पुरातन धर्म-दृष्टि की अपेक्षा संकुचित और कम तर्क प्रतिष्ठा थी। वेद-पुराणनुयायी साहित्य के अतिरिक्त बुद्धचरित, सौन्दरनन्द, ललित विस्तार तिलक मंजरी जैसे सैकड़ों काव्य ऐसे भी लिखे गये जो सौगत या आर्हत मान्यताओं के समर्थन थे। फिर भी जीवन की पवित्रता, त्याग, तप, अहिंसा सत्य और सदाचार जैसे धर्म के मूल तत्त्वों की दृष्टि से ये सब एक भाव-भूमि पर खड़े हैं। अन्तर है, तो विधि या पद्धति का उदाहरणार्थ- मुक्ति की चिन्ता सब में है, चाहे वह प्रबोध-चन्द्रोदय हो या बुद्धचरित आराध्य के प्रति समर्पण सब में है, फिर आराध्य चाहे राम, कृष्ण, शिव, बुद्ध या पार्श्वना कोई भी क्यों न हों। लोक-कल्याण की ओर प्रवृत्ति सब में मिलेगी चाहे पउमचरिउ हो या अवदान काव्य हो या मुद्राराक्षस और मुच्छकटिक हो। संस्कृत नाटकारों ने अपने नायक लिए जो अर्हताएं नियत कीं, वे धार्मिक दृष्टि से आदर्श पुरुष को ही परिभाषित करती हैं ने विनीतो



मधुस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक। (दशरूपक-2-1)

आत्मा की अमरता ने पुनर्जन्म और आशावाद के प्रति आस्था को जन्म दिया, जिसने संस्कृत काव्यों और नाटकों को दुःखान्त होने से बचाया। धार्मिक सुरूचि ने रंग-मंच पर युद्ध, प्रसव एवं वध का दर्शन नहीं होने दिया। तप और संयम किसी महती उपलब्धि के साधन माने जाते रहे। संस्कृत-साहित्य में उनका भरपूर चित्रण है। पार्वती तप करती हैं तो किताार्जुनीय के अर्जुन भी तप करते हैं-पार्वती-

शुचौ चतुर्ष्णा ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य-नेत्र प्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत।।
(कुमार 5-20)

और अर्जुन-शयमन् धृतेन्द्रिय-शमैकसुखः शुचिभिर्गुणैरघमयं स तमः।
प्रतिवासरं सुंकृतिभिर्ववृक्षे विमलः कलाभिरिव शीतरुचिः।
(किरात 6-20)

और तो और स्वयं शिव भी स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार। (कुमार 1-57)

संस्कृत के ललित-साहित्य में विराट् सत्ता के सगुण रूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव के पौराणिक स्वरूपों के विशद वर्णन और स्मार्त शैली पर उनके एकत्व प्रतिपादन के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इन वर्णनों में शंकराचार्य से पूर्व के सांख्य, योग एवं वेदान्त के सिद्धान्तों का कलापूर्ण ढंग से समावेश हुआ है। मृच्छकटिक के 'पर्य के ग्रंथिबन्धद्विगणित भुजालेष संवीत जानोः 'वेदांतेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थित रोदसी' आदि मंगलाचरण में योग और उपनिषद् दोनों के तत्वों का समावेश है। इसी प्रकार कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग में सृष्टि प्रक्रिया, याशिक-पद्धति एवं स्मार्त-आराधना एवं साख्य मान्यताओं के साथ-साथ एकत्ववाद की भी अभिव्यक्ति मिलती है।

त्वामामनन्ति प्रकृति पुरुषार्थ प्रवर्तिनीम्।
तद्वार्शिनमुदासीनं त्वामेव प्रकृति विदुः।

(कुमार0 2-13)

इसमें ब्रह्मा ही प्रकृति और वही उदासीन द्रष्टा बतलाये गये है किन्तु माघ सांख्य के 'न प्रकृतिनं विकृतिः पुरूष' के अनुसार कहते है-

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथंचन।
बहिर्विकारं प्रकृतें पृथग्विदु पुरातनं त्वां पुरूषं पुराविदः।।

(शिशु0 1-33)



माघ और श्रीहर्ष में पद-पद पर न केवल आस्तिक दर्शनों, अपितु सौगतों के सिद्धान्तों को भी पढ़ा जा सकता है। फिर जैसा पहले कहा जा चुका है, संस्कृत का वैदिक परम्परा का साहित्य पौराणिक मान्यताओं का ही साहित्य है, जिसमें प्रसंगवशात् वैदिक एवं दार्शनिक स्थापनाओं का समावेश कर दिया गया है और आज जब कि औद्योगिक सभ्यता के एकेश्वरवादियों की आस्था के आगे भी विशालाकार प्रश्नचिह्न लगा दिया है तब अवतारवादी पौराणिक मान्यताओं का तो कहना ही क्या जिनका एकमात्र आधार तर्कहीन साम्प्रदायिक आस्था है।

रामायण महाभारत तथा उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित 'वसुधैव कुटुम्बकम्' पर आधारित धर्म के स्वरूप के दर्शन भी हमें बीच-बीच में होते हैं उदाहरणार्थ नागानन्द में-

नित्यं प्राणाभिघातात् प्रतिविरम कुरु प्राकृते चानुतापम्।
चत्नात् पुण्यप्रवाहं समुपचितुं दिशान् सर्व-सत्तेष्वभीतिम्।

अर्थात् किसी के प्राणों पर प्रहार करने के सदा बचो। यदि पहले कभी ऐसा किया हो तो उसके लिए पश्चाताप करों। यत्नपूर्वक पुण्य अर्जित करो और सब प्राणियों में अभय का विस्तार करो।

संस्कृत का साहित्य विशाल सागर है, जिसमें जीवन की समता अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उत्तरंगायमान है। अशिव के विरूद्ध शिव की प्रतिष्ठा उसका एकमात्र लक्ष्य है। चिन्तन और आस्था की समस्त धाराओं को आत्मसात् करता हुआ वह किसी असीम से एकाकार होने को आकुल-सा दिखता है। उसका दर्शन व्यष्टि का समष्टि में, लघु का भूमा में और समीम का असीम से सम्मिलन है। अपनी इस यात्रा में वह संयमित किन्तु उदार 'सर्वभूतहिते रतः'' और सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' की दृष्टि लेकर चला है।

**ई.** 2073 **अरेरा कालोनी**

**भोपाल-**432094



# प्राचीन भारत में यन्त्रों एवं यानों का निर्माण

**डा0 रामनारायण दास**

आज के युग में सब तरह के कार्य करने के लिए अनेक प्रकार के यन्त्रों का अन्वेषण हुआ है। यह बात सबको विदित हैं। इसलिए इस काल को 'यन्त्रयुग' के नाम से कहते है। इस युग में दूरश्रुति के लिए बहुत से यन्त्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जैसे-टेलीफोन, रेडियो और वायरलेस टेलिग्राफी इत्यादि। इन यन्त्रों के द्वारा विद्युत शक्ति से ध्वनि का ग्रहण और प्रेषण सब कार्य होता है। किन्तु वायरलेस में विद्युत की सहायता के बिना ध्वनि का ग्रहण होता है। प्राचीन काल में भी वैद्युत ओर अवैद्युत दोनों प्रकार के यन्त्रों की कमी नहीं थी। इस बात को सभी संस्कृत साहित्य के पारावाणीय मनीषी लोग जानते हैं।

आजकल की तरह प्राचीनकाल में ही उत्क्षेपणादि यन्त्र थे ऐसा इतिहास ग्रन्थों में सुना जाता है। जैसे प्रमाणशिरोमणिभूत वाल्मीकीयरामायण के सुन्दर काण्ड में कहा है-

उत्पतन्तमनुत्येतुः सर्वे तु हरियूथापाः।

कृत्वाकाशं निराकाशं यन्त्रोत्क्षिप्ता इवोपलाः।। (संग 64/22)

जैसे यन्त्र के द्वारा ऊपर फेंके गये पत्थरों के चट्टान आकाश में व्याप्त होकर परस्पर उड़ते हुए अनुगमन करते हैं उसी प्रकार से बन्दरों के सभी यूथपाल आकाश में परस्पर अनुगमन करते हुए उड़े। इस श्लोक से प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में इस प्रकार का यन्त्र था जिसके द्वारा न केवल ढेला अथवा कंकड़ ही अपितु विशाल शिला-खंड ऊपर आकाश में फेंक दिये जाते थे। उत्पलोत्क्षेपक यन्त्र में इस प्रकार की शक्ति थी। केवल व्यवहारों पयोगी विविध यन्त्रों का ही अन्वेषण नहीं हुआ अपितु मुहूर्त मात्र में योजनगामी विविध यानों का भी अन्वेषण हुआ। महर्षि भरद्वाज विरचित अंशुबोधिनी नामक ग्रन्थ में अनेक यान विधाओं का वर्णन हैं श्री भरद्वाजकृत 'यन्त्रसर्वस्व' ग्रन्थ के विमानप्रकरण में ''शक्त्युद्गमाघष्टौ'' सूत्र की बोधायन ने निम्नांकित व्याख्या की है-

शक्त्युद्गमो भूतवाहो धूमयानश्शिखोद्गमः ।
अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखः।।
इत्यष्टकाधिकरणे वर्गाण्युक्तानि शास्त्रतः।

1. शक्त्युद्गम- विद्युतशक्ति से चलता है।
2. भूतवाह- वायु, अग्नि और जल इत्यादि के द्वारा चलता है।
3. धूमयान- वाष्प के द्वारा चलता है



4. शिखोद्गम - मयूर के तेल से चलता है।
5. अंशुवाह-सूर्य की किरणों से चलता है।
6. तारामुख-उल्कारस (चुम्बक) के चलता है।
7. मणिवाह-सूर्यकान्त आदि मणियों से चलता है।
8. मरुत्सख-वायु का शक्ति से चलता है।

शक्त्युद्गम नामक यान से प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में हमारे देश में विद्युत के द्वारा यन्त्र, यानादि का संचार होता था। विस्तार के भय के इनका विशद् व्याख्यान असम्भव है।

यन्त्रलक्षण

जल, वायु के स्तम्भन से उत्पन्न शक्ति को मन्त्र तथा दण्ड, चक और अरा की सरणि के परिभ्रमण से उत्पन्न को यन्त्र एवं मनुष्यों और पशुओं में विद्यमान शक्ति को तन्त्र कहते है। भरद्वाजकृत 'यन्त्रसर्वस्व' में कहा है-

मन्त्रज्ञा ब्राह्मणाः पूर्व जलवाय्वादिस्तम्भने।
शक्तेरुपादनं चकुसतन्मन्त्रमिति गद्यते।।
दण्डैश्चकैश्च दन्तैश्च सरणिभ्रामकादिभि।
शक्तेस्तु वर्द्धकं यत्तच्चालकं यन्त्रमुच्यते।।
मानवीपाशवीशक्तिकार्य तन्त्रमिति स्मृतम्।।

वस्तुतस्तु जिसके द्वारा यमनादि शक्तियों का संयमन किया जाय उसे यन्त्र कहते हैं। यह लक्षण तंत्रशास्त्र के ग्रन्थों में यन्त्र का जो स्वरूप

दिखायी देता है वहाँ पर भी परिलक्षित है। यन्त्रों के जो भेद दृष्टिगत होते है, उनके दो भाग हैं-

(1). दण्ड, चक्रदि से निर्मित।

(2) ताम्रादि फलकों पर रेखा से अंकित।

प्राचीन काल और आज के युग में जो यन्त्र और यान दृष्टिगत होते हैं वे सब दण्डचक्रादि से निर्मित है। आगमशास्त्रों में जो यन्त्र वर्णित हैं वे ताम्रादि फलकों पर रेखा के द्वारा निर्मित हैं। महर्षि भरद्वाज कृत 'यन्त्रसर्वस्व' में बहुत से यन्त्रों की चर्चा है। जैसे यन्त्र-सर्वस्व के विमान-प्रकरण में 'रहस्यज्ञोऽधिकारी (1/2) इस सूत्र में वर्णन है-

मान्त्रिकास्तान्त्रिकास्तमद्वत् कृतकश्चान्तरालकः।
गुप्तो रहस्यमदृश्यञ्च परोक्षश्चापरोक्षकः।।1।।
सङ्कोचो विस्तृतश्चैव विरूपकरणस्तथा।
रूपान्तरसुरूपश्च ज्योतिभविस्तमोमयः।।2।।
प्रलयो विमुखस्तारो महाशब्दविमोहनः।
लङ्घनसार्पगमनश्चपलस्सर्वतो मुखः।। 3।।
परशब्दग्राहकश्च रूगकर्षणस्तथा।
कियारहस्यग्रहणे दिक्प्रदर्शनमेव च।। 4।।
स्तब्धकः कर्षणश्चेति रहस्यानि यथा कर्मम्।।5।।
एतानि द्वात्रिशंद् रहस्यानि गुरोर्मुखात्।
विज्ञाय विधिवत् सर्व पश्चात् कार्यं समारभेत्।। 6।।



श्लोकान्तर्गत रहस्यों के नाम (1) मान्त्रिक रहस्य (2) तान्त्रिक रहस्य (3) कृतक रहस्य (4) अन्तराल रहस्य, (5) गूढ़ रहस्य (6) दृश्य रहस्य (7) अदृश्य रहस्य (8) परोक्ष रहस्य (9) अपरोक्ष रहस्य (10) सङ्कोचन रहस्य, (11) विस्तृत रहस्य (12) विरूपकरण रहस्य (13) रूपान्तर रहस्य (14) सुरूप रहस्य, (15) ज्योतिर्भाव रहस्य, (16) प्रलय रहस्य (18) विमुख रहस्य (19) तार रहस्य (20) महाशब्दविमोहन रहस्य (21) लङ्घन रहस्य (22) सार्पगमन रहस्य (23) चापल रहस्य (24) सर्वतोमुख रहस्य, (25) परशब्दग्राहक रहस्य (26) रूपाकर्षणरहस्य (27) कियाग्रहण रहस्य (28) दिक् प्रदर्शन रहस्य (29) आकाशाकार रहस्य (30) जलदरूप रहस्य (31) स्तब्धक रहस्य (32) कर्षण रहस्य।

ऊपर वर्णित रहस्यों के उपयोग के लिए उपर्युक्त रहस्यों के नाम से यन्त्र भी निर्मित थे। जैसे-दिक्प्रदर्शन रहस्य विद्या के उपयोग के लिए दिक्प्रदर्शन यन्त्र था। दिक्प्रदर्शन रहस्य विद्या में निपुण विमान का संचालक इस यन्त्र से दिशा का ज्ञान करता था। इस प्रकार से बत्तीस रहस्यों के विद्या के प्रयोग की सफलता के लिए उनके नाम से यन्त्र बने थे। इसी तरह से परशब्दग्राहक विद्या में निपुण विमान का संचालक विमान में स्थित शब्दग्राहक यन्त्र के द्वारा सौदामिनी काल ग्रन्थ में वर्णित विधि से आकाश के प्रथम मण्डल से लेकर सप्तपरिधि मण्डल तक दूसरे के विमान में

जनसम्भाषण आदि समस्त शब्दों को खींच कर सुनाता था। सौदामिनी कला ग्रन्थ मे विमान में स्थित शब्दग्राहकयंत्र के द्वारा दूरध्वनि ग्रहण यंत्र के द्वारा दूरध्वनि ग्राहक की चर्चा सुनी जाती है। विद्युत कला इस ग्रंथ के नाम से ही ज्ञात होती है कि प्राचीन दूर ध्वनि ग्राहक यंत्र के दूरस्थ शब्दों के ग्रहण का कार्य आजकल के दूरध्वनि ग्राहक तंत्र की तरह विमान शक्ति की सहायता से ही सम्पन्न होता था। आजकल टेलीविजन की तरह रूपाकर्षण नामक तंत्र था। विमान में स्थित रूपाकर्षण यंत्र के द्वारा दूसरे विमान में स्थित वस्तुओं के रूप खींच लिये जाते थे। महर्षि भरद्वाज द्वारा निर्मित यंत्र सर्वस्व के ''तथोपयन्त्राणि'' (अ0 5सू0 1) इस सूत्र की यतिबोधानन्द द्वारा निर्मित वृत्ति में बहुत से यंत्रों की चर्चा है। जैसे-

विमानाङ्गपयन्त्राणि द्वात्रिंशदिति ज्ञास्यतः।
यथोक्तं यन्त्रसर्वस्वे भरद्वाजेन धीमता।। 57।।
तथैवात्र प्रवक्ष्यामि सङग्रहेण यथामति।
यन्त्रे विश्वक्रियादर्शश्याक्त्याकर्षणयन्त्रकः।। 58।।
परिवेषकियायन्त्रं प्रोक्तं पश्चात् तथैव हि।
अंगोपसंहारकाख्यन्त्रं सर्वांम् सुन्दरम्।।59।।
पश्चाद विस्तृत कियाख्यं ततो वैरूप्यदर्पणम्।
पद्मचकमुखं नाम यन्त्रं पश्चाद् विचित्रकम्।।60।।
कुट्टिणीशक्तियन्त्रं च तथापुष्पणिकं स्भृतम्।



तथैव फिञ्जुलादर्शयन्त्रं पश्चान्मनोहरम्।।61।।
नालपंचकयन्त्रञ्च गुहागर्भामिधं तथा।
तमोयन्त्रं पञ्चवातस्कन्वनालमतः परम्।।62।।
पश्चाद् वातस्कन्धनालकीलकं यन्त्रमीरितम्।। 63।।
ततो विद्युतद्यन्त्रमतश्शब्दकेन्द्र-मुखाभिधम्।
ततो विद्युद्वादशकयन्त्रं प्रोक्तं ततः परम्।। 64।।
प्राणकुण्डलिनीनामयन्त्र शक्त्युद्गम तथा।
वकप्रसारणं तद्वच्छक्तिपञ्जर कीलकम् 65।।
शिरः कलिकयन्त्रञ्च शब्दाकर्षणयन्त्रकः।
पटप्रसारणं नाम यन्त्रं तद्वद् दिशाम्पतिः।। 66।।
पट्टिकाभ्रकयन्त्रञ्च सूर्यशक्त्यापकर्षणम्।
तथापस्मारधूम प्रसारणाख्यमतः परम्।।67।।
तथा स्तम्भनयन्त्र चोक्तं पश्चात् तथैव हि।
वैश्यानरयन्त्रमिति द्वात्रिंशतिः क्रमात् ।।68।।
श्लोक में वर्णित यंत्रो के नाम-

(1) विश्वक्रियादशं यन्त्र (2) शक्त्याकर्षण यन्त्र (3) परिवेशक्रिया यन्त्र (4) अड्गोपर यंत्र (5) सर्वाङ्ग सुन्दर यंत्र, (6) विस्तृत क्रिया नामक यंत्र, (7) वैरूप्य दर्पण यंत्र, ¬(8) पदमचक्र-मुख यंत्र, (9) विचित्रक यंत्र, (10) कुट्टिणीशक्ति यंत्र (11) पुष्पणिक यत्र (12) जुलाद यंत्र (13) मनोहर यंत्र, (14) तालपञ्चक यंत्र (15) गुहागर्भनामक यंत्र (16) यंत्र (17) पंचवातस्कन्धनाल यंत्र (18)

पंचवातस्कन्धनालकीलक यंत्र (19) विद्युत यंत्र (20) शब्द केन्द्र मुखनामक यंत्र (21) विद्युतद्वादशक यंत्र (22) प्राणकुण्डलिनी यंत्र (23) युद्गम यंत्र (24) वकप्रसारण यंत्र (25) शक्तिपंचरकीलक यंत्र (26) शिरःकीलक यंत्र (27) शब्दाकर्षण यंत्र (28) पटप्रसारण यंत्र (29) दिशाम्पति यंत्र (30) पट्टिकाभ्रक यंत्र (31) सूर्यशक्त्यपकर्षण यंत्र (32) अपस्मार धूम प्रसारण यंत्र (33) स्तम्भन यंत्र (34) बनरनाल यंत्र।

यहाँ पर अपस्मार, धूमप्रसारण, वैश्वानरनाल यंत्रो को क्रमशः तमोर्यत्र और पंचनाल यंत्र में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। इससे ''वैश्वानरयन्त्रमिति द्वात्रिंशतिः क्रमात'' इस में यंत्रो की कही गयी बत्तीस संख्या संगत होती है।

उपर्युक्त बत्तीस रहस्यों में से कुछ का संक्षिप्त वर्णन करते हैं-

(1) गूढ़ रहस्य-यह पांचवा रहस्य है वायु तत्व प्रकरण में कही रीति के अनुसार वातस्तम्भ की जो आठवीं परिधि रेखा है, उस मार्ग की यासा, वियासा, प्रयासा आदि वायु शक्तियों द्वारा सूर्य किरणों में रहने वाला जो अन्धकार शक्ति है उसका आकर्षण कर विमान के साथ सम्बन्ध कराने से विमान अदृश्य हो जाता है। (2) अपरोक्ष रहस्य यह अपरोक्ष नामक नवाँ रहस्य है। शक्तितंत्र में वर्णित रोहिणी विद्युत के फैलाने से विमान के सामने दूर में



स्थित वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। (3) रूपाकर्षण यंत्र - रूपाकर्षण यंत्र से दूसरे विमान में स्थित सम्पूर्ण वस्तुओं के रूप को देखते थे-

इसी तरह से लेख के प्रारम्भ में जो आठ यानों के नाम दिये है उसमें अंशुवाह नामक पाँचवा यान प्राचीन काल का सर्वोकृष्ट यान था। यह यान सूर्य की किरणों के द्वारा संचालित होता था। इस यान का नियंत्रण पृथ्वी पर सूर्य की किरणों को सूर्य-विज्ञान के द्वारा नियंत्रित कर होता था। आज भी वैज्ञानिक युग में बहुत से यंत्र सूर्य की किरणों से संचालित होते है। गाजियाबाद के पास साहिबाबाद में जो भारत के उत्तर प्रदेश में स्थित है, वहाँ पर सेन्ट्रल इलेक्ट्रॉनिक लिमिटेड फॉर इण्डस्ट्रियल एरियर नामक वैज्ञानिक संस्था है उसने सिल्कन सोलार सेल का अन्वेषण किया है। यह सेल काले कपड़े की तरह होता है। और उसमें चाँदी की धारिया बनी है। यह सेल गोलाकरा और इसका व्यास लगभग 6 होता है। ये सेल त्रिकोण भी होते हैं। एक तख्त पर बहुत से सिल्कन सोलार सेल जड़ दिये जाते हैं और एक स्टैण्ड पर उसे सूर्य के प्रकाश में रख देते है तथा तार के द्वारा यंत्र के सोलर सेल का सम्बन्ध कर देते है। जैसे टुल्लू सोलार पम्प-यह पम्प सोलार से के द्वारा सूर्य की रश्मियों से चलता है। इस सोलार सेल का उपयोग रेडियो में भी किया जाता है अथवा बैटरी के अभाव में भी सोलार सेल के द्वारा सूर्य

रश्मियों से ट्रांजिस्टर से समाचार सुना जा सकता है: आकाश में बादल रहने पर सोलार सेल के द्वारा यांत्रिक कार्य असम्भव है। क्योंकि तब सूर्य की किरणों को सोलार सेल ग्रहण नहीं कर पाता।

टल्लू सोलार पम्प की तरह अंशुवाह नामक यान सूर्य की किरणों के द्वारा संचालित वाले होता था मानों की चर्चा वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध होती है स्थल और आकाश में चलने वालें यानों के विकास के साथ-साथ जल के भीतर चलने वाले यानों का उल्लेख साहित्य में प्राप्त होता है।

नीचे के मंत्र में तीन तलों वाले रथ का वर्णन है।

तं त्रिपृष्ठे त्रिबन्धुरे रथे युञ्जन्ति यातबे।

(ऋ 9, 62, 17)

'स होता मन्द्रो विदधान्यस्थात्स यो यज्वाः
कवितमः स वेधाः विद्युद्रथः सहत्सपुत्रो
अग्निः शोचिष्केशः पृथ्वीयां पादो अश्रेत्।

(ऋ0 3, 14, 1)

उक्त ऋचा में विद्युद्रथ पद का अर्थ है विद्युत की शक्ति से चलने वाला रथ।



भरद्वाज कृत यन्त्रसर्वस्व में इस 'विद्य द्रद्रथ' को 'शक्त्युद्गम' नाम यान से सम्बोधित किया है। निम्न ऋचा में घोड़े से रहित रथ का उल्लेख मिलता है-

अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः।

तेनाह भूरि चाकन। (ऋ0 1, 120, 10)

वैदिक साहित्य में बहुत-सी ऋचाएँ यंत्रों और यानों का प्रतिपादन करती हैं।

सी0 के0 63/123

छोटी पिपरी, वाराणसी

# प्रतिष्ठान समाचार

विगत वर्षों की भाँति प्रतिष्ठान का 38वाँ अधिवेशन कार्तिक पूर्णिमा दिनांक 12 नवम्बर 2019 को परम्परा के अनुरूप सम्पन्न हुआ। श्री भुवनेश्वरी पूजन, विद्यार्थियों के कार्यक्रम तथा आमसभा की बैठक में वार्षिक प्रगति आख्या का वाचन पूर्वाह्न के कार्यक्रम थे। अपरान्ह्न 2 बजे से वाराणसी, प्रयागराज, विंध्यक्षेत्र एवं अन्य स्थानों से पधारे विचारकों के व्याख्यान हुये। संगोष्ठी का विषय था ''ग्रामीण संस्कृति का संरक्षण''। संगोष्ठी की अध्यक्षता इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त वरिष्ठ आचार्य प्रो0 देवकी नन्दन द्विवेदी ने किया तथा संगोष्ठी का संचालन प्रो0 जटाशंकर तिवारी ने किया।

विषय का प्रवर्तन करते हुए श्री रामाश्रय तिवारी ग्रामीण संस्कृति के संरक्षण हेतु, तीन उपाय सुझाये। पहला–गाँव की शिक्षा, गुरूकुल प्रणाली से संचालित हो, जिसमें संस्कारों का जागरण सम्भव हो सके। उनका दूसरा सुझाव था कि ग्राम स्तर पर चुनाव, राजनीति और धन वितरण को बन्द करना चाहिए। गाँव को राजनीति से मुक्त रखा जाय। तीसरे सुझाव के रूप में उन्होंने नैतिक सद्गुणों के विकास पर बल दिया। प्रथम वक्ता के रूप में प्रो0 राजीव रंजन सिंह (वाराणसी) ने कहा कि संस्कृति का क्षरण वाह्य तत्वों से उतना नहीं हुआ जितना आन्तरिक विकारों से, सामूहिक परिवार का विघटन और परिवार के मुखिया का आत्मानुशासन की कमी क्षरण के प्रमुख कारण बने। ऐसे चरित्रवान लोगों की कमी हो गयी जिनके बात को सभी स्वीकार करें, इसलिए ग्राम स्वराज के नाम पर प्रधान के चुनाव का प्रचलन हुआ जो स्वयं अनेक विकारों को पैदा कर रहा है। प्रो0 उमाशंकर राय (प्रयागराज) ने कहा कि संस्कृति सामूहिक क्रिया–कलाप है और गाँव की संस्कृति की रक्षा करने के लिए गाँवों में रोजगार का सृजन आवश्यक है, हमें स्मार्ट शहर के बजाय सुविधा सम्पन्न गाँव पर बल देना चाहिए। आचार्य रघुनाथ द्विवेदी (वाराणसी) ने संस्कार के संरक्षण की बात की और गाँव की संस्कृति की रक्षा एवं विकास के लिए परिवार के वृद्धजनों के आदेश का पालन आवश्यक बताया। डॉ0 राममूर्ति पाठक (प्रयागराज) ने कहा कि गाँव का जीवन सहकारिता और सहभागिता पर आधारित था। हमारी वर्तमान शिक्षा ने इसे विकृत कर दिया। डा0 राजनाथ त्रिपाठी (वाराणसी) ने रामायण तथा महाभारत का उदाहरण देते हुए इस बात पर बल दिया, चरित्रवान व्यक्ति ही



संस्कृति का संरक्षण करते हैं। प्रो0 हरिप्रसाद अधिकारी (वाराणसी) ने संस्कृत भाषा में सम्बोधित करते हुए संस्कृति के शास्त्रीय पक्ष पर प्रकाश डाला। डा0 सुनील कात्यायन (वाराणसी) ने इस बात पर बल दिया कि संस्कार की शिक्षा में बालक एवं बालिका को समान अधिकर देना आवश्यक है। समान शिक्षा से संस्कार विकसित होंगे। इसके अलावा आचार्य विद्याशंकर त्रिपाठी (भदोही), श्री कृपाशंकर शुक्ल (विन्ध्यक्षेत्र) ने भी अपने संक्षिप्त विचार दिये। डा0 सुनील कुमार शुक्ल (प्रयागराज) ने लोकगीत के माध्यम से ग्रामीण संस्कृति के विशेषताओं पर सुन्दर प्रस्तुति किया।

अध्यक्षीय उद्बोधन में प्रो0 देवकी नन्दन द्विवेदी (प्रयागराज) ने समस्त व्याख्यानों का समाहार करते हुए कहा कि संस्कृति के कुछ केन्द्रीय बिन्दु होते हैं जिनके चारों ओर जीवन के विभिन्न पक्ष परिवर्तनों के साथ दिखाई पड़ते हैं। संस्कृति गतिशील है, इसलिए चतुर्दिक परिवर्तनों को स्वीकार करना पड़ेगा किन्तु केन्द्रीय बिन्दु को सुरक्षित रखना आवश्यक है।

गाँधी सदृश महापुरूषों ने भारतीय संस्कृति के केन्द्रीय बिन्दुओं को जीवन में उतारने का प्रयास किया। हमें संस्कृति को भारतीय संस्कृति के रूप में देखना चाहिए ग्रामीण अथवा शहरी संस्कृति के रूप में नहीं। भारतीय संस्कृति के केन्द्रीय तत्व का संरक्षण करके हम देशकालगत संस्कृतियों को भी संशोधित कर सकेंगे।

अध्यक्षीय उद्बोधन के उपरान्त प्रतिष्ठान के उपाध्यक्ष श्री रामाश्रय तिवारी जी ने आगत अतिथियों, वक्ताओं, श्रोताओं और अन्य प्रतिभागियों को धन्यवाद ज्ञापित किया।

**सम्पादक**